इकाई 1 सामाजिक आन्दोलनः अर्थ, महत्त्व और घटक

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 सामाजिक आन्दोलनों की परिभाषा

1.3 सामाजिक आन्दोलन तथा राजनीतिक आन्दोलन

1.4 इतर-संवैधानिक अथवा ग़ैर-संस्थागत मार्ग

1.5 सामाजिक आन्दोलनों का महत्त्व

1.6 सामाजिक आन्दोलनों के घटक

1.7 सार-संक्षेप

1.8 अभ्यास प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

सामाजिक आन्दोलन अतीत और वर्तमान में सभी समाजों में सार्वत्रिक रूप से पाये जाते हैं। उनकी प्रकृति, कार्यक्षेत्र और बारम्बारता में अन्तर होता है। राजनीतिक संरचनाओं के प्रारंभिक काल में सामाजिक आन्दोलन राज्य – उसके प्रकार्यों, उत्तरदायित्वों के साथ-साथ उत्तरप्रदता और उसकी राजनीतिक सीमा को भी प्रभावित करते थे। वे समाज में विभिन्न घटकों के बीच सत्ता-वितरण में भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते थे। आधुनिक युग में उन्होंने चर्च व सामन्ती सत्ता, विदेशी शासनों और सत्तावादी शासन-प्रणालियों को चुनौती देने में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। फ्रांसीसी और रूसी क्रांतियों, भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन तथा विभिन्न कृषक आन्दोलनों ने हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है। जर्मनी में फासीवादी आन्दोलन, मध्य पूर्व में इस्लामिक आन्दोलन, भारत ने हिन्दुत्व आन्दोलन अथवा श्रीलंका में तमिलाई आन्दोलन ने न केवल राजनीतिक व्यवस्था को, वरन् लोगों की मूल्य व्यवस्था को भी प्रभावित किया है। उनकी विरासतें हम सबको अनेक तरीकों से प्रभावित करती हैं। वर्तमान युग में उनका अस्तित्व सभी राज्यों में देखा जाता है। वे हमेशा नहीं तो अक्सर ही सभी राजनीतिक प्रणालियों – लोकतांत्रिक तथा सत्तावादी – में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। वे राजनीतिक संस्थाओं, सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवहार-प्रतिमानों तथा शासन प्रणालियों की प्रकृति को भी बनाते-बिगाड़ते हैं। आन्दोलनों में सामाजिक एवं राजनीतिक संघर्षों के साथ-साथ लोगों की अभिलाषाएँ भी प्रकट हो जाती हैं।

सामाजिक आन्दोलनों की समझ होना न सिर्फ़ उनके लिए ज़रूरी है जो वर्तमान सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था से असंतुष्ट हैं, बल्कि उनके लिए भी ज़रूरी है जो राजनीतिक संस्थाओं की भंगुरता एवं उनके भविष्य को समझने हेतु उक्त व्यवस्था से संतुष्ट हैं। कोई भी सामाजिक रूप से संवेदनशील व्यक्ति, चाहे वो सक्रिय प्रतिभागी हो या फिर शिक्षाविद्, चाहे वो राजनीतिक प्रणाली के प्रति सहानुभूतिशील हो या फिर

छिद्रान्वेषी, अपने युग के सामाजिक आन्दोलनों को अनदेखा नहीं कर सकता। राजनीतिक संस्थाओं की प्रकृति व उनकी कार्यविधि, संविधान की प्रकृति, राजनीतिक निर्णयों एवं विधि-निर्माण संबंधी हमारा ज्ञान सामाजिक आन्दोलनों को समझे बगैर अधूरा ही रहता है। हम भारतीय संविधान के नीति-निदेशक सिद्धांतों तथा मौलिक अधिकारों को बेहतर समझ पायेंगे, यदि हम उन राजनीतिक प्रक्रियाओं का ध्यानपूर्वक विश्लेषण करें जिन्होंने 'तीस व 'चालीस के (बीसवीं सदी के) दशकों के दौरान भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन को प्रभावित किया। इसी प्रकार, 'पचास के दशक के अनेक सुधार कानूनों की देश के विभिन्न भागों में हुए कृषक आन्दोलनों में पूर्ववर्तिता रही। संक्षेप में, राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं संबंधी हमारा ज्ञान सामाजिक आन्दोलनों को समझे बिना अपूर्ण ही रहेगा। सामाजिक आन्दोलनों संबंधी अध्ययन "मानवतावादी एवं सामाजशास्त्रीय विषयों को आपस में मिलाने हेतु एक उपाय'' की पेशकश करता है। "ऐतिहासिक समझ और मूल्यों से जुड़े मानवतावादियों के चिन्त्य विषय तथा आनुभविक आँकड़ों को ज्ञानकृत रूप से सुव्यवस्थित करने हेतु सामान्य सिद्धान्तों के व्यवहार से जुड़े समाजशास्त्रियों के चिन्त्य विषय एक साथ रखे जा सकते हैं। यदि हम यह जानना चाहते हैं कि उनकी व्याख्या, क्रम-व्यवस्था तथा तुलना कैसे की जाए तो हमें इन घटनाओं के तथ्यात्मक ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है।

इस इकाई में हमारा उद्देश्य है – सामाजिक आन्दोलनों की परिभाषा, राजनीतिक आन्दोलनों से उनकी तुलना, साथ ही साथ सामाजिक आन्दोलनों के महत्त्व एवं घटकों को समझना।

1.2 सामाजिक आन्दोलनों की परिभाषा

आम बोलचाल, संचार माध्यमों एवं राजनीतिक समाजों में 'सामाजिक आन्दोलन' शब्द अक्सर अविवेकी रूप से प्रयोग किया जाता है, जो कि इसके विभिन्न अर्थ बतलाता है। कभी-कभी इसका प्रयोग आधुनिकीकरण अथवा शहरीकरण जैसे किसी ऐतिहासिक रुझान को दर्शाने के लिए किया जाता है। यह शब्द समाज में 'परिवर्तन' लाने हेतु एक अथवा कई संगठनों द्वारा चलाई जा रही गतिविधियों की किसी श्रृंखला को इंगित करने के लिए भी प्रयोग किया जाता है; जैसे – स्कूल शुरू करने तथा विद्यार्थियों का नाम लिखे जाने हेतु सरकारी शिक्षा विभाग द्वारा चलाया गया शिक्षा आन्दोलन। समाज के किसी घटक की सामूहिक कार्यवाही के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है। 'सामाजिक आंदोलन' फ्रेज राजनेताओं एवं सामाजिक सक्रियताओं के बीच बड़ा ही लोकप्रिय है; इसका प्रयोग वे अपनी राजनीतिक सभी गतिविधियों के विषय में करते हैं।

तथापि, 'सामाजिक आंदोलन' शब्द ने यूरोपीय भाषाओं में लोकप्रियता उन्नीसवीं शती-आरम्भ में हासिल की। यह एक सामाजिक महापरिवर्तन का काल था। चर्च के प्राधिकारों और राजतंत्रों की निरंकुश सत्ता को चुनौती दी गई। लोग लोकतांत्रिक अधिकारों की माँग कर रहे थे और स्वतंत्रता एवं समानता हेतु अधिकार-माँग कर रहे थे। राजनेता और लेखकगण जो इस शब्द का प्रयोग करते थे, वे इसे शोषित वर्गों की मुक्ति और ऐसे बदलते सम्पत्ति संबंधों जो एक नए समाज के सर्जन से सम्बद्ध थे, से इसे जोड़ते थे उनका वैचारिक रुझान उनकी परिभाषा में प्रकट होता है। अत: 'सामाजिक आन्दोलन' की कोई एक परिभाषा नहीं है। विद्वत्जन और सामाजिक कार्यकर्ता जन राजनीतिक प्रणाली और प्रत्याशित सामाजिक परिवर्तन के विषय में भिन्न-भिन्न वैचारिक मत रखते हैं। और वे भी जो सामाजिक परिवर्तन का एक ही अर्थ लेते हैं, परिवर्तन लाने हेतु रणनीति एवं मार्ग विषयक अपने विचारों में प्राय: भिन्नता रखते हैं।

परन्तु सामाजिक आन्दोलन संबंधी तमाम अवधारणाओं के बीच एक बात निश्चित है, यथा सामूहिक कार्रवाई। यह राजनीतिक कार्रवाई हेतु लोगों को लामबन्द करने से संबंधित होता है। फिर भी, इस प्रकार की सामूहिक कार्रवाई सामाजिक आन्दोलन का पर्याय नहीं है। सड़कों पर किसी उत्तेजित भीड़ की कार्रवाई यद्यपि एक सामूहिक व्यवहार है परन्तु उसको कोई सामाजिक आन्दोलन नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए, रेलवे स्टेशन पर जब एक उत्तेजित भीड़ रेलवे स्टाफ के दुर्व्यवहार की वजह से कोई गाड़ी रोकती है अथवा बिना टिकट यात्रा करना पसंद करती है, उसे सामाजिक आन्दोलन नहीं कहा जा सकता। न ही दो नृजातीय समूहों के बीच दंगों अथवा दुकानों से खाद्यान्न लूटने की कार्रवाई अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाना ऐसा कहा जा सकता है। ये कार्य अपने आप में सामाजिक आन्दोलन नहीं हैं। वे सामाजिक आन्दोलन का एक हिस्सा – उसके कार्यक्रमों में एक हो सकता है।

हम इन सामूहिक व्यवहारों को सामाजिक आन्दोलन नहीं कहते हैं क्योंकि वे प्राय: आवेगशील ही होते हैं और सामाजिक परिवर्तन लाने पर अभिलक्षित नहीं होते। वे किसी स्थिति-विशेष के प्रति प्रतिक्रिया स्वरूप ही होते हैं। तथापि, सामाजिक परिवर्तन हेतु वृहत्तर कार्यसूची के एक कार्यक्रम के रूप में जब उनकी योजना बनाई जाती है – यथा, यथापूर्व स्थिति हेतु किसी समूह-विशेष की सत्ता को बनाए रखने अथवा चुनौती देने के लिए भी – दंगा सामाजिक आन्दोलन का हिस्सा बन जाता है। उदाहरण के लिए, वे लोग जो किसी समुदाय-विशेष के प्रभुत्व को स्थापित करना चाहते हैं, दंगों की योजना बनाते हैं ताकि दूसरे समुदाय के लिए असुरक्षा और उसके द्वारा 'सामुदायिक चेतना' को जन्म दे सकें। इस प्रकार के मामले में उपद्रव कोई आवेगशील एकाकी दृश्यघटना नहीं होता। या फिर अनेक मामलों में सामाजिक आन्दोलन उपद्रवों से ही उभरते हैं क्योंकि वे जन-भावना को बल प्रदान करने के लिए राजनीतिक गतिविधियों को जन्म देते हैं। 'सामाजिक परिवर्तन' लाने के लिए सामूहिक कार्रवाई सामाजिक आन्दोलन की परिभाषा का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। वस्तुत: दूसरों द्वारा अनुभूत रूप में सामाजिक परिवर्तन कायम रखने अथवा उसे भंग न करने हेतु सामूहिक कार्रवाई भी सामाजिक आन्दोलन है। यथापूर्व स्थिति हेतु इस प्रकार की सामूहिक कार्यवाही को प्रति-आन्दोलन (counter-movement) कहा जा सकता है। इसके अलावा, सामाजिक परिवर्तन का कोई एक अर्थ नहीं है। यह बात समाज-शास्त्रीय साहित्य में प्रयुक्त सामाजिक आन्दोलनों की निम्नलिखित प्रतिदर्श परिभाषाओं से सिद्ध होती है:

पॉल विल्किन्सन सामाजिक आन्दोलन को इस रूप में परिभाषित करते हैं – "किसी भी दिशा में और किसी भी तरीके से, हिंसा, अवैधता, क्रांति अथवा 'कल्पनालोकी' समुदाय में निवर्तन को न छोड़ते हुए, परिवर्तन को प्रोत्साहित करने हेतु एक सुविचारित सामूहिक प्रयत्न। सामाजिक आन्दोलन तदनुसार ऐतिहासिक आन्दोलनों, प्रवृत्तियों अथवा रुझानों से स्पष्टत: भिन्न होते हैं। यह बात, तथापि, ध्यातव्य है कि इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ एवं रुझान, तथा मानव व्यवहार में अचेतन अथवा अयुक्त कारकों का प्रभाव, सामाजिक आन्दोलन की व्याख्या करने और स्पष्ट करने संबंधी समस्याओं को समझाने में निर्णायक महत्त्व वाले हो सकते हैं।''

हरबर्ट ब्लूमर के अनुसार, "सामाजिक आन्दोलनों को जीवन की एक नई व्यवस्था लागू करने हेतु सामूहिक उद्यमों के रूप में देखा जा सकता है। उनका प्रारंभ अशान्ति की स्थिति में पाया जाता है, तथा वे अपनी प्रेरक शक्ति एक ओर जीवन के वर्तमान रूप से असंतुष्टि से, और दूसरी ओर जीने की एक नई योजना अथवा व्यवस्था हेतु इच्छाओं एवं आशाओं से व्युत्पन्न करते हैं।''

दू मैक-ऐडम के अनुसार, सामाजिक आन्दोलन "वर्जित समूहों की ओर से, समाज की संरचना में परिवर्तनों को प्रोत्साहित करने अथवा उन्हें रोकने हेतु वे संगठित प्रयास हैं जिनमें राजनीतिक भागीदारी के ग़ैर-संस्थागत रूपों का सहारा लिया जाना शामिल होता है।''

सामाजिक आन्दोलन, सिडनी टैरो के अनुसार, "आभिजात्यों, प्रतिद्वंद्वियों एवं प्राधिकारियों के साथ निर्बाध अंतर्क्रिया में सामान्य प्रयोजनों एवं सामाजिक एकात्मकताओं पर आधारित चुनौतियाँ'' हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के तीन प्रमुख तत्त्वों पर ध्यान दें। ये हैं – (1) सामूहिक कार्रवाई; (2) सामाजिक परिवर्तन तथा (3) सामान्य प्रयोजन।

सही तरीके से, इसी कारण, उत्पात अथवा विरोध-प्रदर्शन सामाजिक आन्दोलन नहीं है। क्योंकि, वे कदापि नहीं तो, प्रायः ही सामाजिक परिवर्तन लाने पर अभिलक्षित नहीं होते। वे उसकी कल्पना भी नहीं करते। वे तो एक स्थिति-विशेष के प्रति प्रतिक्रिया मात्र होते हैं। परन्तु इसी के साथ ही, कभी नहीं तो अक्सर ही, सामाजिक आन्दोलन समय के साथ-साथ विकसित होता है, और वह ऐसे विरोध-प्रदर्शन अथवा उत्पात के साथ शुरू होता है जिसने संभवतः राजनीतिक परिवर्तन संबंधी विचार मनोगत भी नहीं किया होता। उदाहरण के लिए, जब गुजरात में इंजीनियरिंग कॉलेज के छात्रों ने मैस विधेयक के खिलाफ विरोध-प्रदर्शन किया, यह एक अपेक्षाकृत स्वतः स्फूर्त कार्रवाई था। परन्तु उस विरोध-प्रदर्शन ने गुजरात में 1974 के नवनिर्माण आन्दोलन की ओर अग्रसर किया। इसके अलावा, एक सामूहिक कार्रवाई-विशेष कुछ विद्वानों के अनुसार महज़ एक उत्पात हो सकता है, और दूसरों के लिए एक आन्दोलन; यह विश्लेषण के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, 'पचास के दशक में भाषायी राज्यों के निर्माण की माँग करते समाज के एक वर्ग-विशेष की सामूहिक कार्यवाही को कुछ लोगों द्वारा एक 'उत्पात' के रूप में, तो दूसरों के द्वारा एक 'आन्दोलन' के रूप में लिया गया। इसी प्रकार, यद्यपि उपद्रव आन्दोलन नहीं **होते, वे** कदापि नहीं तो प्रायः ही चल रहे आन्दोलनों का हिस्सा होते हैं।

1.3 सामाजिक आन्दोलन तथा राजनीतिक आन्दोलन

अक्सर 'सामाजिक' और 'राजनीतिक' आन्दोलनों को कमोबेश एक ही रूप में लिया जाता है। उन सामूहिक प्रयासों को छोड़कर जो कि मुख्य तौर पर और अब तक अलौकिक सत्ता के संबंध में वैयक्तिक परित्राण तक ही परिसीमित हैं तथा सामाजिक संरचना और भीतरी के साथ-साथ परस्पर सामुदायिक संबंध से ताल्लुक नहीं रखते, सब सामुहिक कार्रवाइयों को सामाजिक या राजनीतिक आन्दोलनों से जोड़ा जाता है। परन्तु वही आन्दोलन जब सार्वजनिक जीवन को प्रभावित करते हुए सामाजिक संबंध के क्षेत्र में प्रवेश करता है तो वह राजनीतिक आन्दोलन का लक्षण धारण कर लेता है। उदाहरण के लिए, संस्कृतिकरण हेतु समुदाय का सामूहिक संघर्ष हालाँकि सामाजिक आन्दोलन है, वह वर्तमान सत्ता-संबंध को भी चुनौती देता है क्योंकि ऐसा समुदाय न सिर्फ़ ऊँची प्रस्थिति की अधिकार-माँग करता है बल्कि प्रभुत्व जमाने वालों से प्रतिस्पर्धा भी करता है। यहाँ पिछड़ी-जाति आन्दोलन का उदाहरण सामने है। रूडोल्फ हैबरली (1951) का तर्क है कि सभी आन्दोलनों के परिणाम राजनीतिक ही होता है, यदि उनके सदस्य राजनीतिक सत्ता हेतु संघर्ष न करें तो भी। तथापि आँद्रे गुंदर फ्राँक व मार्ता फुंटेस (1987) जैसे कुछ विद्वान् सामाजिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों के बीच भेद करते हैं। उनके अनुसार, पूर्ववर्ती

राज्य-सत्ता हेतु संघर्ष नहीं करता। सामाजिक आन्दोलन 'राज्य-सत्ता की बजाय अधिक स्वतंत्रता के लिए प्रयास करते हैं, सामाजिक एवं राजनीतिक सत्ता के बीच अंतर है, और राजनीतिक सत्ता सिर्फ़ राज्य में ही स्थित होती है। इन लेखकों के अनुसार, सामाजिक आन्दोलन का उद्देश्य सामाजिक बदलाव होता है। भागीदार जन सामाजिक न्याय पाने के लिए संघटित हो जाते हैं। यह अभिधारणा (thesis) संदिग्ध है। वस्तुतः समाज व राज्य, और इसी कारण सामाजिक व राजनीतिक सत्ता समान नहीं हैं। परन्तु समकालीन विश्व में सामाजिक सत्ता एवं राजनीतिक सत्ता के बीच अंतर करना वास्तविकता को छिपाना, और राजनीतिक प्रक्रियाओं की जटिलताओं को अनदेखा करना ही है। राजनीति सिर्फ़ राजनीतिक दलों में ही अवस्थित नहीं होती। न्याय अथवा अन्याय के भाव से संबद्ध मुद्दों को लेकर चलने वाले आन्दोलनों के राजनीतिक परिणाम होते हैं। सामाजिक परिवर्तन लाने पर अभिलक्षित, अभिभावी आधिपत्य एवं प्रभुत्व के संबंधों, जायदाद के संबंधों, सत्ता संबंधों पर सवाल करते, अनुभूत विरोधियों के विरुद्ध पहचान का संघर्ष; न्यायार्थ संघर्ष आदि में राजनीतिक सत्ता हथिया लेना अथवा उस पर प्रभाव डालना शामिल होता है। यद्यपि राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना इन गतिविधियों की तात्कालिक कार्यसूची में नहीं भी हो सकती। इसी कारण, वर्तमान प्रसंग में, 'सामाजिक' एवं 'राजनीतिक' आन्दोलन के बीच अंतर नाममात्र ही है।

1.4 इतर-संवैधानिक अथवा ग़ैर-संस्थागत मार्ग

सामाजिक आन्दोलन 'संस्थागत' के साथ-साथ गैर-संस्थागत मार्ग भी अपनाते हैं। पूर्ववर्ती को संवैधानिक कहा जा सकता है और परवर्ती को इतर-संवैधानिक अथवा अवैध मार्ग माना जाता है। इतर-संवैधानिक मार्ग को राज्य अथवा सरकार के खिलाफ 'सीधी कार्रवाई' भी कहा जाता है। ऐसी कार्रवाई जो किसी दिए गए समय-बिन्दु में कानूनी रूप से अनुमातिप्राप्त हो और व्यापकतः समाज अथवा समाज के किसी हिस्से में बाध्यकारी रूप से स्वीकृति प्राप्त (जॉनसन 1966) हो, संस्थागत कार्रवाई है। इस प्रकार की कार्रवाइयों में आते हैं – याचिका दायर करना, चुनावों में मतदान करना, और न्यायालयों में कानूनी लड़ाई लड़ना। उनको अपने आप में सामाजिक आन्दोलन नहीं कहा जाता है क्योंकि वे संस्थागत कार्यप्रणाली और कार्यवाही का हिस्सा मात्र होते है। परन्तु जब ये तरीके अन्य सामूहिक कार्रवाइयों के साथ काम आते हैं और दाँव-पेंच बतौर प्रयोग किए जाते हैं तो वे आन्दोलन का ही हिस्सा बन जाते हैं। रजनी कोठारी के अनुसार, "सीधी कार्रवाई को एक इतर-संवैधानिक राजनीतिक तकनीक के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि एक सामूहिक कार्रवाई का रूप ले लेती है, और सत्ता में सरकार के विरुद्ध किसी राजनीतिक परिवर्तन पर अभिलक्षित होती है'' (1960)।

कानूनी और ग़ैर-कानूनी अथवा संवैधानिक और इतर-संवैधानिक के बीच लकीर बहुत पतली और नाजुक है। यह कानून और संविधान की व्याख्या का विषय है। वे लोग जो सत्ता में हैं अथवा यथापूर्व स्थिति के समर्थन में हैं, किसी कार्रवाई विशेष की अवैध के रूप में व्याख्या कर सकते हैं; परन्तु वे जो सामाजिक परिवर्तन हेतु संघर्षरत हैं, उसी कार्रवाई की व्याख्या वैध के रूप में कर सकते हैं। कई लोगों के अनुसार, हिंसक साधन अवैध है, इसीलिए अनुमतिप्राप्त नहीं है। 'इतर-संवैधानिक' शब्द एक व्याख्या का विषय हो सकता है। ग़ैर-संस्थागत सामूहिक कार्रवाई अनेक रूप ले लिया करती है; जैसे – विरोध-प्रदर्शन, उत्पात, हड़ताल, सत्याग्रह, घेराव, उपद्रव आदि।

1.5 सामाजिक आन्दोलनों का महत्त्व

अनेक राजनीतिक दार्शनिक एवं नेतागण आदर्श राजनीतिक प्रणाली और सामाजिक व्यवस्था की कल्पना करते हैं। वे सामाजिक आन्दोलनों की आवश्यकता और कभी-कभी अपरिहार्यता के पक्ष में दलील देते हैं, जिसमें 'वर्तमान' राजनीतिक शासन-प्रणाली एवं सिद्धांत का विरोध करने हेतु और ऐसा सिद्धांत लागू करने हेतु एक क्रांतिकारी आन्दोलन शामिल है जिसको वे 'आदर्श' और समाज की समस्याओं को हल करने में पूरी तरह सक्षम मानते हैं। अत: एक बार 'नई' अथवा आदर्श सामाजिक व्यवस्था लागू हो जाने के बाद सामाजिक आन्दोलनों के अस्तित्व की गुंजाइश ही नहीं रहती। अधिक से अधिक जिसकी आवश्यकता पड़ती है, वो है – उस संघर्ष को शांत करने हेतु संस्थागत कार्यप्रणाली में बदलाव जो कि उठ खड़ा हो सकता है। वे सामाजिक आन्दोलनों को न सिर्फ़ बेकार की चीज़ ही बल्कि आदर्श सामाजिक व्यवस्था में अहितकारी भी मानते हैं। प्राय: इस प्रकार के आन्दोलनों को या तो 'प्रति-क्रांतिकारी' व प्रतिक्रियावादी, और/अथवा आवेगी, तथा अनुभवहीन और/अथवा ग़ैर-जिम्मेदार समझा जाता है। इस दृष्टि से असहमति को अच्छा नहीं माना जाता है और न ही बर्दाश्त किया जाता है।

1917 में 'अक्तूबर क्रांति' के पश्चात् सोवियत रूस में यही हुआ। 'पचास व 'साठ के दशकों के दौरान भारत में न सिर्फ़ शासक दल के अनेक नेताओं बल्कि राजनीति-शास्त्रियों ने भी हड़तालों, प्रदर्शनों और जन-आन्दोलनों को विघटनकारी और इसी कारण 'अवैध' माना। उनमें से एक का तर्क था: 'हम उन कारणों को यदि सही न भी ठहरायें पर समझ तो सकते ही हैं कि जिन्होंने एक पराधीन देश में लोगों को आक्रमण करने और उस हर चीज़ को नष्ट कर देने की ओर प्रवृत्त किया जो विदेशी शासन का प्रतीक अथवा अभिव्यक्ति था। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि लोग अब तक ऐसा व्यवहार करते हैं मानो वे विदेशियों द्वारा शासित एक पराधीन देश में ही रह रहे हों'।

यह धारणा कि आदर्श राजनीतिक व्यवस्था इसी बात से समाज में समस्त विवाद को हल करने में सक्षम है, एकपक्षीय है। ऐसा दृष्टिकोण लोकतांत्रिक सामाजिक व्यवस्था के लिए खतरनाक है। इस बिन्दु पर ही है, और इतिहास का जो अंत नहीं हो सकता अन्तिम लक्ष्य और गलत न होने वाली व्यवस्था। राजनीतिक व्यवस्था और समाज की एक निश्चल अवधारणा है। हर समाज के अपने अन्तर्विरोध हैं। विद्यमान व्यवस्था कुछ मुद्दों को हल तो कर सकती है परन्तु समाज के विभिन्न घटकों के बीच विवाद के नए क्षेत्रों को जन्म भी दे सकती है। आन्दोलनों की ओर प्रवृत्त करते नेतागण और उनके वर्ग अथवा सामाजिक समूह के सदस्यगण सत्ता की कुर्सी हथियाने और फ़ायदा उठाने की फ़िराक में रहते हैं। इस प्रकार की स्थिति हिताधिकारियों एवं अपदस्थों के बीच संघर्ष को जन्म देती है।

इसके अलावा, वे जो प्रभुत्व रखते हैं और सत्ता की कुर्सी पर अधिकार जमा लेते हैं, 'समाज की भलाई' के लिए परम और समस्त बुद्धिमानी रखने का दावा किया करते हैं। राजनेताओं के बीच कुर्सी से न उतरने की प्रवृत्ति देखी जाती है। कभी-कभी उन्हें लगता कि उनके बिना दूसरे लोग समाज को नुकसान पहुँचाएँगे। इस प्रकार की प्रवृत्ति मतभेद और विरोध को असहनशीलता की ओर ले जाती है। मतभेद लोकतंत्र की एक मुख्य विशेषता है और सामाजिक आन्दोलन संगठित मतभेद का ही एक रूप है।

सामाजिक आन्दोलन शिकायतों और समस्याओं की अभिव्यक्ति हेतु एक संभावना प्रदान करते हैं। वे राज्य

पर दबाव डालते हैं, स्वस्थ लोकतंत्र हेतु आवश्यक प्राधिकरण पर नियंत्रण रखते हैं। सामाजिक आन्दोलन लोगों/घटकों की सामूहिक राजनीति का एक तरीका है ताकि वे अपनी आकांक्षाओं एवं प्राथमिकताओं को अभिव्यक्त कर सकें। जनता की राजनीति को समझे बग़ैर हम राजनीतिक व्यवस्था की जटिलताओं और गतिकता को नहीं समझ सकते।

1.6 सामाजिक आन्दोलनों के घटक

सामाजिक आन्दोलनों के पाँच मुख्य घटक होते हैं: उद्देश्य, विचारधारा, कार्यक्रम, नेतृत्व और संगठन। वे परस्पर निर्भर होते हैं, एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, भीड़ के रूप में जन-समूह का भावप्रबल हो-हल्ला सामाजिक आन्दोलन नहीं होता। सामाजिक आन्दोलन **सामाजिक एवं राजनीतिक** परिवर्तन से जुड़ा होता है। अत: इसका एक तत्काल और दीर्घकालीन लक्ष्य **होता है। तत्काल** उद्देश्य किसी खास मुद्दे को सुलझाना अथवा सत्ता के फ़ैसले के खिलाफ़ **विरोध-प्रदर्शन हो सकता** है। परन्तु वह सामूहिक कार्रवाई वहीं समाप्त नहीं हो जाती। वह दूसरे मुद्दे उठाती है और सत्ता, सत्ता-संबंध, प्रभुत्व व राजनीतिक प्रणाली की बदलने संबंधी एक दीर्घकालीन उद्देश्य की ओर बढ़ती है। वह दूसरों के मुकाबले कुछ निश्चित कार्यक्रमों को प्राथमिकता देती है, और एक दिशा-विशेष पर ध्यान केन्द्रित करते हुए कुछ निश्चित समूहों को संघटित करती है। कार्रवाई का मार्ग इच्छित सामाजिक परिवर्तन की धारणा के साथ गहरे जुड़ा होता है या फिर उसके साथ ही विकसित हो जाता है। इसमें विचार, सुधार-प्रस्ताव और मूल्यों की एक श्रृंखला शामिल होती है जो कि सामाजिक वास्तविकता को एक ढंग-विशेष में समझने में मदद करता है। विचारों और आदर्शों की श्रृंखला ही विचारधारा को जन्म देती है। ज़रूरी नहीं कि विचारधारा सुव्यवस्थित हो ही, या फिर हमेशा पूर्वकल्पित ही। कुछ मामलों में विचारधारा आन्दोलन को दिशा प्रदान करती है और कुछ अन्य मामलों में विचारधारा क्रम-विकसित हो जाती है और आन्दोलन को दिशा-निर्देशित करने लगती है। विचारधारा की अभिव्यक्ति और कार्रवाई हेतु रणनीतियाँ विकसित करने में नेतागण एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

सामाजिक आन्दोलन में उन लोगों की लामबंदी शामिल होती है जो प्रक्रिया की दिशा में आन्दोलन के उद्देश्य के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। वे मूल्यों का अनुकरण करते हैं और सामाजिक वास्तविकता की आम समझ संबंधी अवधारणा से सहमत होते हैं। अपने संघटन के लिए और अपनी भागीदार को कायम रखने के लिए ये नेता(गण) विभिन्न कार्यक्रम विकसित करते हैं। इसमें भी एक प्रकार के संगठन की आवश्यकता पड़ती है। यह संगठन कार्यक्रमों को शुरू करने के लिए केन्द्रीकृत अथवा विकेन्द्रीकृत निर्णयन् प्रणाली के साथ निर्बन्ध अथवा सुगठित होता है।

इन घटकों में से कोई भी प्रागनुभविक तथा स्थैतिक नहीं है। वे क्रम-विकसित होते हैं। उनकी प्रकृति **और प्रकार्य** आन्दोलन-आन्दोलन में भिन्न-भिन्न होते हैं। कुछ आन्दोलनों में वे अल्पविकसित रूप में **ही पाये जाते हैं जबकि** दूसरों में वे निष्पक्षत: भली-भाँति विकसित होते हैं। ये घटक – नेतृत्व, संगठन **और साथ ही विचारधारा भी**, आन्दोलन की दिशा में चलते हुए बदलते ज़रूर हैं। कुछ मामलों में, उद्देश्य **तक बदल जाते हैं** और पहले के लक्ष्यों की बनिस्वत भिन्न दिशा में चल पड़ते हैं।

1.7 सार-संक्षेप

'सामाजिक आन्दोलन' शब्द उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में क्रम-विकसित हुआ और प्रयोग होने लगा। यह सामाजिक अशांति का युग था। सामाजिक आन्दोलन की कोई सटीक परिभाषा देखने में नहीं आती। परन्तु सभी विद्वानों ने, जिन्होंने सामाजिक आन्दोलनों का अध्ययन किया है, सामूहिक कार्यवाही और जन-संघटन पर ज़ोर दिया है। सामाजिक आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन हेतु संघर्ष करते हैं। उद्देश्य, विचारधारा, नेतृत्व, कार्यक्रम और संगठन ही सामाजिक आन्दोलनों के मुख्य घटक हैं। वे ही लोकतंत्र की मुख्य विशेषता और समाज की गतिकता हैं।

1.8 अभ्यास प्रश्न

1) राजनीति को समझने में सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययन का क्या महत्त्व है?
2) उपद्रव और सामाजिक आन्दोलन के बीच अंतर स्पष्ट करें।
3) सामाजिक आन्दोलन की विभिन्न परिभाषाओं के सामान्य तत्त्व क्या हैं?
4) सामाजिक आन्दोलनों के प्रमुख घटक कौन से हैं?
5) 'सामाजिक' तथा 'राजनीतिक' आन्दोलनों के बीच क्या अंतर है?
6) 'सीधी कार्रवाई' शब्द को स्पष्ट करें।

इकाई 2 सामाजिक आन्दोलन के अध्ययनार्थ दृष्टिकोण: उदारवादी, गाँधीवादी और मार्क्सवादी

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

2.3 प्राधार-प्रकार्य दृष्टिकोण

2.4 गाँधीवादी दृष्टिकोण

2.5 संसाधन संग्रहण सिद्धांत (Resource Mobilisation Theory)

2.6 सापेक्ष अभाव सिद्धांत (Relative Deprivation Theory)

2.7 सार-संक्षेप

2.8 अभ्यास प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

तथ्य अपने आप स्पष्टीकरण नहीं देते। उनके संग्रह, विन्यास, वर्गीकरण एवं व्याख्या किए जाने की आवश्यकता होती है। एक व्यक्ति विशेष प्रकार के 'तथ्यों' को एकत्र करता है और एक दूसरा प्रेक्षक उसी घटना के भिन्न प्रकार के 'तथ्यों' को इकट्ठा करता है। दोनों उसी घटना के भिन्न-भिन्न अर्थ प्रस्तुत करते हैं और भिन्न-भिन्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। सामाजिक तथ्यों और प्रक्रियाओं पर विचार करने का कोई एक तरीका नहीं है। दो या अधिक अभिन्न आन्दोलनों के रेखाचित्रण अथवा व्याख्या को विभिन्न तरीकों से प्रस्तुत किया जा सकता है, उस सैद्धान्तिक पहलू पर निर्भर करते हुए जिससे कि व्यक्ति उस दृश्यघटना को देखता है। सैद्धान्तिक पहलू अथवा दृष्टिकोण तथ्यों के चयन, उनके विन्यास, वर्गीकरण और व्याख्या में मार्गदर्शन करता है। व्यक्ति अधिक योजनाबद्ध और यथातथ्य पहलू के साथ प्रक्रिया को बेहतर समझ पाता है, बनिस्वत दृश्यघटना को आकस्मिक और अनियमित तरीके से देखे जाने के। सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययनार्थ अनेक दृष्टिकोण उपलब्ध हैं। परन्तु साथ ही, हमें यह भी याद रखना चाहिए कि अनुभाविक प्रक्रियाएँ किसी एक दृष्टिकोण में सही बैठने हेतु उपयुक्त नहीं होतीं। सामाजिक एवं राजनीतिक प्रक्रियाएँ जटिल होती हैं और तर्क करने का उनका अपना ही तरीका होता है। इसके अलावा, कोई भी दृष्टिकोण विशुद्ध रूप में नहीं है। एक ही सैद्धान्तिक पहलू या दृष्टिकोण के अनुयायियों के बीच विभिन्नताएँ व्याप्त हैं। मार्क्सवादियों के बीच विभिन्न पहलू हैं और उदारवादियों के बीच भी। किसी दृष्टिकोण-विशेष के मार्गदर्शक के रूप में यहाँ जो दिया गया है वह एक विस्तृत ढाँचा है।

2.2 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों के विश्लेषणार्थ मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुयायी विद्वान और वे जो

मार्क्सवादी होने का दावा करते हुए सामाजिक आन्दोलनों में शामिल हैं, मुख्य रूप से समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में रुचि रखते हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार, संघर्ष ही सामाजिक आन्दोलनों की मूल जड़ है। समाज में विभिन्न प्रकार के संघर्ष होते हैं। कुछ संघर्ष व्यक्तिजनों के बीच वैयक्तिक सत्ता, काम करने के ढंग को लेकर, समुदायों के बीच – सामाजिक, नृजातीय, धार्मिक, क्षेत्रीय आदि – एवं अन्य संघर्ष भौतिक हित व दूसरों पर किसी एक के प्रभुत्व को लेकर होते हैं। अ-वर्ग (non-class) संघर्ष की प्रकृति समाज-समाज में भिन्न-भिन्न होती है और इसको समझौता-वार्ताओं व संस्थागत तरीके से मिटाया जा सकता है। कभी-कभी, भले ही हमेशा नहीं, इस प्रकार का संघर्ष 'वर्ग'/आर्थिक विवाद के रूप में दिखाई पड़ता है यानी भिन्न-भिन्न समुदायों से संबंधित विभिन्न वर्गों का आर्थिक संघर्ष नृजातीय संघर्ष का रूप ले लेता है। वर्ग संघर्ष समाज की आर्थिक संरचना, उत्पादन व वितरण व्यवस्था में भीतर ही भीतर निर्मित, में पाया जाता है। यह वर्गों के बीच आधिपत्य और अधीनतास्वीकरण के अस्तित्व में होता है। वे लोग जिनके पास उत्पादन के साधन होते हैं सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था पर आधिपत्य रखते हैं। सभी प्रकार के वर्ग-समाज में उत्पादन का विशिष्ट रूप प्रभावी होता है, जो सामाजिक संबंधों के अन्य रूपों को प्रभावित करता है। राल्फ़ मिलीबांड का कहना है कि "वर्ग प्रभुत्व कभी भी विशुद्ध रूप से 'आर्थिक', अथवा विशुद्ध रूप ही 'सांस्कृतिक' नहीं हो सकता : वह हमेशा ही एक सशक्त और व्यापक 'राजनीतिक' अंश रखेगा, न कि किंचित मात्र, क्योंकि कानून एक सुस्पष्ट रूप है जो कि प्रभुत्व के सभी रूपों को अनुमोदन और वैधता प्रदान किए जाने में राजनीति धरती है। इस अर्थ में, 'राजनीति' उसका अनुमोदन करती है जो 'अनुमतिप्राप्त' है, और इसी कारण अपने 'उत्पादन-संबंध' के भीतर और बाहर, भिन्न-भिन्न एवं संघर्षरत वर्गों के सदस्यों के बीच संबंधों की 'अनुमति देती है'।"

वे लोग जिनके पास उत्पादन के साधन होते हैं और उन पर नियंत्रण रखते हैं, उत्पादनकर्त्ताओं से आधिशेष हड़प लेते हैं। वे अपना हित साधने के लिए आधिशेष का संचय करते हैं और समाज पर अपना नियंत्रण बढ़ाते और स्थायी बनाते हैं। पूर्ववर्ती जन सामन्ती व्यवस्था में सामन्तिक अधिपति अथवा पूँजीवादी व्यवस्था में औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग हो सकते हैं। धनी और श्रमिक वर्गों के बीच प्रतिरोधी हित उस वर्ग आधारित समाज में अन्तर्निहित होते हैं जो विवादों को जन्म देता है। पूर्ववर्ती जन समाज में अपना आधिपत्य जमाने और शोषित वर्गों पर नियंत्रण जमाने के लिए राज्य, व अन्य संस्थाओं, यथा धर्म, संस्कृति, शिक्षा, जन-संचार आदि के दमनकारी एवं प्रभावी बल का प्रयोग करते हैं। परवर्ती जन प्रतिरोध करते हैं, विरोध-प्रदर्शन करते हैं और आवसरिक रूप से विद्रोह अथवा धनी वर्गों के आधिपत्य के खिलाफ़ संगठित और सामूहिक कार्यवाही भी शुरू कर देते हैं। यह उन्हीं का प्रयास होता है कि सत्ता में प्रभावी वर्गों को उखाड़ फेंककर क्रांतिकारी राजनीतिक परिवर्तन लायें। संक्षिप्ततः वर्ग-संघर्ष ही प्रतिरोध के लिए मुख्य प्रेरक शक्ति है। ऐसी ही सामूहिक कार्रवाइयाँ सामाजिक आन्दोलनों का रूप ले लेती हैं।

यद्यपि मार्क्सवादियों के अनुसार, परस्पर विरोधी आर्थिक हितों के संरचनात्मक कारण मुख्य मुद्दे हैं, अनेक मार्क्सवादी विद्वान नृजातीय, धार्मिक एवं अन्य संस्कृतिक कारकों पर ध्यान देने लगे हैं। उनमें से कुछ ने तो शोषित वर्गों की चेतना के स्वरूप का विश्लेषण भी शुरू कर दिया है। मार्क्सवादी विद्वानों के अनुसार, एक ही वर्ग के सदस्य अन्य वर्गों की तुलना में न सिर्फ़ साझा हित रखते हैं, बल्कि समाज में अपनी स्थिति के संबंध में एक आम चेतना भी रखते हैं कि उनके हित सर्वमान्य हैं। यह बात शासक वर्गों व राज्य के विरुद्ध उनकी सामूहिक कार्यवाही में मदद करती है।

वे निश्चयपूर्वक कहते हैं कि पूँजीवादी राज्य में संसदीय लोकतंत्र सम्पन्न लोगों के हितों की रक्षा करता है और श्रमिक वर्ग के शोषण में सहायक बनता है। अतः सम्पन्नों (haves) और विपन्नों (have-not) के बीच संघर्ष सांस्थानिक क्रियाविधि के माध्यम से हल नहीं किया जा सकता। 'साठ के दशक में ए.आर. देसाई ने दावा किया कि पूँजीवादी व्यवस्था में अल्पलाभांवितों के नागरिक एवं लोकतांत्रिक अधिकारों की लगातार अवहेलना की गई। राज्य बहुसंख्यक शोषित वर्गों की विशाल जनसंख्या को मौलिक मानवाधिकार उपलब्ध कराने में असफल रहा। ग्रामीण इलाकों में विपन्नों को भूमि, वन व जल आदि प्राकृतिक संसाधनों से अपनी आजीविका कमाने से वंचित कर दिया गया। लोग राज्य और प्रभावशाली वर्गों के जन-विरुद्ध कदमों का विरोध करते हैं। विभिन्न संगठित एवं असंगठित संघर्षों के माध्यम से ये ग़रीब अपने मौलिक अधिकारों की रक्षा किए जाने की माँग करते हैं। देसाई का दावा है कि "संसदीय स्वरूप वाली सरकार, एक राजनीतिक संस्थागत युक्ति के रूप में, लोगों के निश्चित लोकतांत्रिक अधिकारों को सातत्य अथवा विस्तार प्रदान करने में नाकाफ़ी सिद्ध हुए हैं। यह स्वरूप या तो एक ऐसे खोल के रूप में काम करता है जिसमें पूँजीधारक सत्ता समाज की प्रक्रिया में सचेत रूप से भाग लेने हेतु लोगों के लिए अवसरों को बाधित करती है या कम करते हुए अपने आपको कायम रखती है, या फिर उत्तरोत्तर अपने आपको तानाशाही में तब्दील करती रहती है, जहाँ पूँजी अपने कुछ लोकतांत्रिक आडम्बरों को फैलाती है और खुले, क्रूर निरंकुश साधनों से शासन करती है। जन-विरोध तब तक जारी रहेंगे जब तक कि लोग उन देशों में पूँजी के शासन को समाप्त न कर दें जहाँ यह अभी तक कायम है। वे उन नौकरशाही सर्वसत्तात्मक राजनीतिक शासन-प्रणालियों के खिलाफ भी जारी रहेंगे जहाँ पूँजी का शासन समाप्त हो गया है, परन्तु जहाँ कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण स्टालिनवादी नौकरशाही, आतंकवादी राजनीतिक शासन-प्रणालियों ने जन्म लिया है। लोगों के आन्दोलन और विरोध-प्रदर्शन तब तक जारी रहेंगे जब तक कि निश्चित लोकतांत्रिक अधिकारों के बोध और व्यवहार के लिए पर्याप्त राजनीतिक संस्थागत रूप नहीं खोज लिए जाते (1965)।''

मार्क्सवादियों के अनुसार, सामाजिक आन्दोलन एक विरोध-प्रदर्शन मात्र अथवा शिकायतों की अभिव्यक्ति नहीं है। शोषित वर्ग इस या उस संस्था को सुधारने में रुचि नहीं रखते हालाँकि वे अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए वृद्धि-संबंधी अधिकारों के लिए लड़ते अवश्य हैं। उदाहरण के लिए, कामगार वर्ग अधिक वेतन, कार्य-नियमन, सामाजिक सुरक्षा तथा प्रबंधन में भागीदारी के लिए लड़ता है। इसके माध्यम से वे श्रमिकों के बीच भाईचारा बढ़ाते हैं और अपने संघर्षों को विस्तार प्रदान करते हैं। अन्ततोगत्वा उनका प्रयास होता है – प्रभावी राजनीतिक व्यवस्था को भंग करना, ताकि इस प्रक्रिया में उनके ये संघर्ष उत्पादन-साधनों के स्वामित्व में क्रांतिकारी परिवर्तनों की ओर बढ़ें और प्रभावी राज्य प्राधार को उखाड़ फेंकें। शोषित वर्गों के संघर्ष हिंसात्मक भी हो सकते हैं और अहिंसात्मक भी, निर्भर करता है दमन हेतु राज्य व धनी वर्गों द्वारा अपनाए गए बल और साधनों पर। वे हिंसात्मक रास्ता अपनाए जाने के खिलाफ़ नहीं है परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वे हमेशा ही हिंसात्मक साधन अपनाते हैं। उनके अनुसार साधन इतने महत्त्वपूर्ण नहीं जितने कि साध्य। वे प्रायः शोषित वर्गों के विरुद्ध राज्य और प्रबल वर्गों की हिंसा और दमन को उजागर करते हैं। ऐसी स्थिति में परवर्तियों के पास इस विधि की प्रतिकूलताओं का सामना करने के लिए कोई विकल्प ही नहीं बचता।

सैद्धांतिक और अध्ययन के ढंगों (methodological) के मुद्दों पर मार्क्सवादी विद्वानों के बीच एक भारी

बहस छिड़ी है। हाल में ही मार्क्सवादी इतिहासकारों के एक दल – 'सबाल्टर्न स्टडीज़' ग्रुप – ने इतिहास का 'नीचे से अध्ययन' ('history from below') शुरू किया है। वे जनसाधारण के इतिहास की उपेक्षा किए जाने के लिए 'परम्परावादी' मार्क्सवादी इतिहासकारों की आलोचना करते हैं कि संगठन और मार्गदर्शन हेतु उन्नत वर्गों या अभिजात वर्ग पर ही अकेले निर्भर रहकर मानो ये 'उपाश्रित' ('सबाल्टर्न') वर्ग अपना कोई इतिहास ही नहीं बनाते। कहा जाता है कि परम्परावादी मार्क्सवादी विद्वानों ने सांस्कृतिक कारकों को गुप्त रूप से हानि पहुँचाई और वर्ग-चेतना के एक रेखीय विकास का अवलोकन किया (गुहा, 1983)। दूसरी ओर, अन्य मार्क्सवादी विद्वानों द्वारा सबल्टर्न स्टडीज़ के इतिहासकारों की प्राधारात्मक कारकों (structural factors) की उपेक्षा किए जाने और 'चेतना' को संरचनात्मक प्रतिवादों से स्वतंत्र रूप में देखे जाने के लिए कड़ी आलोचना की जाती है। उन पर हिगेल के 'आदर्शवादी' अनुयायी होने का आरोप लगाया जाता है।

2.3 प्राधार-प्रकार्य दृष्टिकोण

सामाजिक आन्दोलनों संबंधी विश्लेषण के प्रति गैर-मार्क्सवादी विद्वानों के बीच, उनके दृष्टिकोण में, भारी भिन्नता पाई जाती है। सामाजिक व/या राजनीतिक परिवर्तन हेतु आवश्यकता के संबंध में वैचारिक धारणाएँ, तथा उनमें आन्दोलनों की भूमिका परस्पर भिन्न होते हैं। विलियम कॉर्नौसर, रॉबर्ट निस्बेट, एडवर्ड शिल्स व अन्य जैसे अनेक उदारवादी विद्वानों का दावा है कि जन-आन्दोलन उस जन-समाजों का परिणाम हैं जो अतिवादी और लोकतंत्र-विरोधी हैं। ये विद्वत्जन राजनीति में दिन-प्रतिदिन की भागीदारी से जनसाधारण को बाहर रखे जाने का समर्थन करते हैं, क्योंकि यह भागीदारी सरकार के कुशल कार्य-संचालन में बाधा पहुँचाती है। कुछ भारतीय जिन्होंने विदेशी शासन से मुक्त होने के लिए आन्दोलन की अनुमति दी, स्वातंत्र्योत्तर काल में, जन-आन्दोलन के पक्ष में नहीं रहे। उन्होंने उसे 'सभ्य समाज' के लिए 'खतरनाक' और 'निष्क्रियात्मक' बता कर साफ़ निन्दा की। यद्यपि कुछ अन्य उदारवादी जन राजनीतिक व आर्थिक प्राधार में क्रांतिकारी परिवर्तन के पक्ष में नहीं हैं, वे ऐसे 'राजनीतिक परिवर्तन' के पक्षधर हैं जो कि सरकार व राजनीतिक संस्थाओं में परिवर्तन तक ही सीमित हो। कुछ विद्वान 'क्रांतिकारी' परिवर्तन के पक्षधर हैं परन्तु वे वर्ग-विश्लेषण में मार्क्सवादी विद्वानों से मतभेद रखते हैं। वे राजनीतिक संस्थाओं व संस्कृति पर ज़ोर देते हैं। आन्दोलनों-संबंधी अपने विश्लेषण में कुछ विद्वान विवाद एवं सामूहिक संघर्षों के सामाजिक व आर्थिक कारणों की गहराई में नहीं जाते। कुछ में आन्दोलनों हेतु उत्तरदायी कारणों पर ज़ोर दिए जाने में मतभेद है। कुछ विद्वान वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक विशेषताओं पर ज़ोर देते हैं, कुछ आभिजात्य सत्ता-संघर्षों व उनके इच्छानुकूलन पर ध्यान केन्द्रित करते हैं; तो कुछ अन्य विद्वत्जन आर्थिक की बजाय सांस्कृतिक कारकों के महत्त्व पर ज़ोर देते हैं।

कुछ विद्वान जो राजनीतिक विकास सिद्धांत का पालन करते हैं, यह मानते हैं कि लोगों की बढ़ती आशाएँ वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं द्वारा यथेष्ट रूप से पूरी नहीं होतीं क्योंकि वे अनमय अथवा अक्षम होती हैं। जैसे-जैसे लोगों की आशाओं और व्यवस्था के कार्य प्रदर्शन के बीच दरार बढ़ती है, जन-लहर की ओर प्रवृत्त होती 'राजनीतिक अस्थिरता और अव्यवस्था' बढ़ती है (हंटिंग्टन, 1968)। रजनी कोठारी का तर्क है कि भारत के वर्तमान 'संसदीय लोकतंत्र' के संदर्भ में 'सीधी कार्यवाही' अपरिहार्य है। 'हताशा का आम वातावरण, संचार के ज्ञात साधनों की अक्षमता, व्यक्ति का वैमुख्य व वर्गीकरण, संगठन बनाने

की प्रवृति और शासकों व शासितों के बीच निरन्तर विवाद की अवस्था (जो कि एक समय-विशेष तक प्रछन्न व दमित रही हो सकती है) – ये सभी मिलकर स्व-शासन के आदर्श को अधिकाधिक दूरस्थ बनाते हैं और संसदीय सरकार को एक अस्थायी राजनीतिक संगठन का रूप दे देते हैं' (1960)।

कुछ विद्वानों द्वारा यह भी तर्क दिया जाता है कि जन-विरोधों की सरकार के संसदीय स्वरूप तक में एक निश्चित 'प्रक्रियात्मक उपयोगिता' होती है। डैविड बेली (1962) का अवलोकन है कि स्वतंत्रता-पूर्व और उसके पश्चात्, बड़ी संख्या में लोग यह महसूस करते हैं कि शिकायतों, कुंठाओं व अन्यायों – वास्तविक अथवा काल्पनिक – हेतु निवारण के संस्थागत साधन अपर्याप्त रहे।

2.4 गाँधीवादी दृष्टिकोण

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के पुरोधा, महात्मा गाँधी का अपने जीवन के दौरान व स्वातंत्र्योत्तर भारत में, देश के सामाजिक आन्दोलनों पर दूरगामी प्रभाव रहा है। यद्यपि गाँधी ने सामाजिक व्यवस्था, उसकी कार्यप्रणाली एवं विवाद-कारणों पर कोई योजनाबद्ध विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया, वह औद्योगिक क्रांति के तहत पश्चिमी देशों में विकसित 'आधुनिकता' के आलोचक रहे। वह पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के खिलाफ़ थे। और, वह ग़रीबों – ग़रीब से ग़रीब लोगों के विषय में काफ़ी चिन्तित थे। समाज में विवाद, उनके अनुसार, समुदायों/वर्गों के बीच परस्पर विरोधी आर्थिक व सामाजिक हितों के कारण नहीं होता। यह हितों व समाज की भिन्न 'समझ'; अच्छाई व बुराई विषयंक भिन्न, नैतिक व आदर्श मूल्यों; अथवा एक दूसरे के प्रति पूर्वाग्रहों को रखने के कारण होता है। अपने जीवनकाल में उन्होंने न सिर्फ अंग्रेजी शासन के खिलाफ बल्कि दक्षिण अफ्रीका में प्रजातीय भेदभाव, अपृश्यता और नारी के प्रति भेद-भाव के खिलाफ भी संघर्षों का नेतृत्व किया।

सामाजिक संघर्षों एवं विवाद निपटाने में "साधनों की शुद्धता" ही गाँधीवादी विचारधारा का केन्द्रीय महत्त्व का विषय है। गाँधी जी के अनुसार, विवाद सुलझने में साधनों का उतना ही महत्त्व है जितना कि साध्यों अर्थात् परिणामों का। उसके लिए उन्होंने हमेशा अहिंसा यानी ग़ैर-जबरदस्ती का समर्थन किया। हिंसा, उनके अनुसार, न सिर्फ ग़लत है वो एक भूल भी है। दरअसल, वह कभी भी अन्याय को समाप्त नहीं कर सकी है क्योंकि उसने प्रतिकूल प्रभाव और भय को ही भड़काया है जिसने कि दमन को हवा दी है। गाँधी जी के अनुसार, अनुचित साधनों से उचित परिणाम कभी नहीं मिल सकते। "साधनों की तुलना बीज से की जा सकती है, साध्य की पेड़ से", उन्होंने 1909 में लिखा, "और साधनों व साध्य के बीच बिल्कुल वही अपरिहार्य संबंध है जो कि बीज और पेड़ ही बीच .... जैसा हम बोते हैं ठीक वैसा ही हम काटते भी हैं।"

गाँधीवादी उन लोगों द्वारा प्रतिरोध की आवश्यकता के पक्ष में हैं जो अन्याय के शिकार हैं और उससे बचने के लिए कष्ट भोगते हैं। इस तितिक्षा अर्थात् प्रतिरोध की विधि है – सत्याग्रह, यथा सत्य (सच) और आग्रह (अनुरोध, दृढ़ता से कायम रहना)। बौंदुराँ (1988) ने इस दृष्टिकोण को "गाँधीवादी द्वन्द्व" कहा है। सत्याग्रह एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है जिसमें अहिंसात्मक कारवाई (प्रतिपक्ष) एक सत्य-खोजपरक संघर्ष में वर्तमान सत्ता-प्राधारों (पक्ष) से जुड़ती है और एक अधिक निष्पक्ष एवं सत्यपरक संबंध (सपक्ष) की ओर प्रवृत्त करती है।

इस प्रणाली में पीड़ित जन अनुचित कानून और साथ ही, दमनकर्त्ता/ विदेशी शासक/ जमींदार/ उच्च जाति की कार्रवाई का विरोध करते हैं। यहाँ तक कि वे 'अनुचित' कानून को तोड़ते हैं और परिणामत: सत्ता द्वारा उन पर लगाए गए दण्ड को भोगते हैं। इस प्रकार का शान्तिपूर्ण प्रतिरोध, गाँधी जी का विश्वास था, दमनकर्त्ताओं की आँखें खोल देगा और दमन के पीछे छिपी शत्रुता को कमज़ोर कर देगा; विरोधियों को आत्मसमर्पण करने हेतु धमकाने की बजाय वे यह देखने के लिए बाध्य होंगे कि सही क्या है, और इससे उनके मानस एवं कर्म दोनों में परिवर्तन आयेगा। परन्तु सत्याग्रह ने शीघ्र ही एक वृहत्तर आयाम ले लिया, जो कि अपनी व्यवहार्यता की बजाय अपने आध्यात्मिक उद्‌गम का कार्य-विशेष था। गाँधी जी ने माना कि वैयक्तिक बलिदान के अनुकरणीय मूल्य की अपनी सीमाएँ हैं : सर्वाधिक प्रतिबद्ध विरोधी जन भी इतनी ही पीड़ा आत्मसात कर सकते हैं, और संस्थापित शासन-प्ररूपी अभिमान एवं पूर्वाग्रह इतनी जल्दी नष्ट नहीं हो सकते। यदि सत्याग्रह को एक व्यवहार्य राजनीतिक हथियार बनना है, गाँधी जी ने महसूस किया, तो उसे अपने विरोधियों से संबंध रखने पर ज़ोर देना होगा। "मैं अपील करने में विश्वास नहीं रखता'', उन्होंने प्रतिद्वंद्वियों पर नैतिक दबाव बनाए जाने पर बल दिया।

किसी विरोधी का विचार बदलने हेतु सत्याग्रह की आंतरिक शक्ति, गाँधी जी का मानना था, उन लोगों के सहयोग पर शासकों की निर्भरता से आती है जिनके पास आज्ञापालन अथवा विरोध का विकल्प है। यद्यपि वह निरन्तर कहते रहे कि सत्याग्रह विरोधियों के सामने सत्य को उजागर कर देगा और उनका दिल जीत लेगा, उन्होंने प्राय: इसकी चर्चा उन सामरिक संबंधों एवं नियोजित कार्रवाइयों में भी की जिनका उद्‌देश्य शत्रुओं के संपरिवर्तन हेतु इतना नहीं था, बल्कि लाभ न मिलने की स्थिति में अपने हितों को जोखिम में डालना था। इस प्रकार उन्होंने सत्याग्रह को उन लोगों के लिए 'एक यथार्थपरक विकल्प' बना दिया जो इस बात में अधिक रुचि रखते थे कि ऐसा क्या है जो परिवर्तन ला सकता है, न कि इसमें कि अन्तरात्मा क्या उचित सिद्ध करती है।

सत्याग्रह पद्धति को प्राय: "निष्क्रिय विरोध'' (''Passive Resistanc'') कहा जाता है। परन्तु गाँधी जी ने इन दोनों के बीच अन्तर बताया। 1920 में, उन्होंने कहा कि ये दोनों पर्याय नहीं है। निष्क्रिय विरोध आम तौर पर कमज़ोर लोगों द्वारा अपनाया जाता है और अहिंसा उनके सिद्धांतों एवं विश्वासों का विवरण नहीं है। कभी-कभी उसका संकीर्ण निहित स्वार्थ होता है जो विरोधी पक्ष तक पहुँचने में असफल रहता है। परन्तु सत्याग्रह में ऐसा नहीं है, ".... निष्क्रिय विरोध में ज़रूरी नहीं कि हर परिस्थिति में सत्य का पूर्ण परिपालन शामिल हो ही। इसी कारण यह तीन तात्त्विक बातों में सत्याग्रह से भिन्न है : सत्याग्रह सबल का अस्त्र है; यह कुछ भी हो किसी भी स्थिति में हिंसा को स्वीकार नहीं करता; और यह सदा ही सत्य पर अडिग रहता है।''

डैविड हार्डिमैन गाँधी जी के तरीके को "संवादात्मक विरोध'' कहते हैं। गाँधी जी के अनुसार विरोधी शत्रु नहीं होता। "किसी विरोधी के प्रति दुर्भावना रखना अथवा उसे नुकसान पहुँचाने की मंशा से उसे अथवा उसके संबंधी कठोर शब्द कहना सत्याग्रह का उल्लंघन होगा। वह अनुनय एवं बातचीत के माध्यम से शत्रु के हृदय एवं तर्कणा को बदल दिए जाने में विश्वास रखते थे। परन्तु विरोधियों पर दबाव डालने के लिए अन्य तरीकों का फैसला नहीं लेते थे।'' वह जानते थे कि कई मामलों में, तर्क किसी बहस में स्वयं ही नहीं जीत जायेगा। यही वो अवस्था है जहाँ आत्म-कष्टकारी दु:खभोग, जैसे उपवास, प्रभावकारी

हो सकता है ..... अतिरिक्त राजनीतिक दबाव की अक्सर ज़रूरत होती है, जो कि जन-प्रदर्शन, असहयोग, कर देने से इंकार, हड़ताल इत्यादि को आवश्यक बनाता है।''

वेर (1979) ने विवाद हेतु गाँधी जी के दृष्टिकोण को एक स्वयं-सीमाकारी दृष्टिकोण की संज्ञा दी है। गाँधी जी ब्रिटिश भारत में अनेकों राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को चुनौती दे रहे थे, सर्वाधिक उल्लेखनीय रूप से औपनिवेशिक शासन, जातीय एवं धार्मिक भेदभाव, तथा श्रमिकों व किसानों के शोषण को। उनको इन "प्रतिद्वंद्वियों" का साहस के साथ सामना करना था परन्तु उन्हें ऐसा उस समय के भारत में विद्यमान हिंसक महापरिवर्तन हेतु विशाल संभावना को बेलगाम किए बग़ैर करना था। उनकी नैतिक एवं राजनैतिक व्याख्याओं ने उन तरीकों में व्यवहार्य रूप तलाशा जिनको वे दायित्वों से भागने से रोकने में प्रयोग करते थे। मुद्दों के प्रचुरोद्भव को रोकने के लिए, उदाहरणार्थ, गाँधी जी इस बात के प्रति सावधान रहते थे कि प्रत्येक सत्याग्रह अभियान को एक ही स्पष्ट मुद्दे पर केन्द्रित किया जाए जिसके इर्द-गिर्द सहमति बन सकती हो। इससे विवाद को सीमाबद्ध करने में मदद मिली। किसी अभियान के दौर अपने प्रतिद्वंद्वियों के साथ अच्छे व्यक्तिगत संबंधों को कायम रखने संबंधी उनकी आदत ने किसी मुद्दे पर असहमति को व्यक्तिगत विरोध तक पहुँचाने से रोका। अन्तर्वैयक्तिक संपर्क के साथ-साथ संचार-माध्यमों में भी पूर्ण उन्मुक्तता संबंधी उनकी नीति ने इस आशंका एवं संदेह को कम किया कि गोपन एवं अकल्प्यता विवाद में पुरस्थापित हो जाते हैं।

2.5 संसाधन संग्रहण सिद्धांत (Resource Mobilisation Theory)

संसाधन संग्रहण सिद्धांत एक युक्तिपरक विकल्प सिद्धांत का परिणाम है। यह इस अवधारणा पर आधारित है कि लोगों के कर्म उन लक्ष्यों द्वारा अभिप्रेरित होते हैं जो उनकी प्राथमिकताओं को अभिव्यक्त करते हैं। वे मौज़ूदा प्रतिबंधों एवं उपलब्ध विकल्पों में रहकर ही काम करते हैं। सभी लोगों के लिए यह संभव नहीं कि वो सब मिल जाए जो वे चाहते हैं; उन्हें दिए गए काल-विशेष में उपलब्ध संभावनाओं के भीतर रहकर ही विकल्प चुनने चाहिए। युक्तिपरक विकल्प सिद्धांत यह बताते हैं कि एक स्थिति-विशेष में उनके लिए सर्वोत्तम क्या रहेगा के संबंध में लोगों को एक युक्तियुक्त विकल्प चुनना चाहिए; और तदनुसार ही उन्हें अपने कर्मों के परिणाम की प्रत्याशा एवं गणना करनी चाहिए। "समझदार व्यक्ति उन्हीं विकल्पों को चुनते हैं जो उन्हें सर्वाधिक सन्तुष्टि प्रदान करने वाले हों।"

इस सिद्धांत के कुछ समथर्कों का कहना है कि वंचित वर्गों द्वारा क्रांतिकारी परिवर्तनों हेतु सामाजिक आन्दोलन आवेग और संवेग से परे होते हैं। इसी कारण, वे ज़्यादा समय तक नहीं चलते और विफल हो जाते हैं।

इसको संसाधन संग्रहण सिद्धांत कहा गया क्योंकि इस सिद्धांत का तात्पर्य यह दर्शाना था कि किसी आन्दोलन की सफलता प्रयोग किए जाने वाले उपलब्ध संसाधनों पर निर्भर करते हैं। ये संसाधन लोगों को लागत में भागीदार बनने व योगदान देने हेतु प्रेरित किए जाने से उत्पन्न हुए। लोग भागीदार बनते हैं क्योंकि उन्हें भाग लेने से उत्पन्न लाभ दिखाई पड़ते हैं। सफलता भी आन्दोलन के समूहों व संगठनों के अन्य प्राधारों से जुड़ने में सक्षम होने पर निर्भर करती है। संसाधन संग्रहण सिद्धांत का ज़ोर पूरी तरह

से आन्दोलन को सरकारी नीतियों अथवा कानून में परिवर्तन हेतु माँग किए जाने में सफल बनाने वाली रणनीति पर होता था। इस प्रकार, कभी-कभी यह कहा जाता है कि यह सिद्धांत राजनीतिक कार्रवाई पर, अथवा राजनीति के क्षेत्र पर ध्यान केन्द्रित करता था न कि नागरिक समाज पर।

जेन्किन्स एवं पैरो का कहना है कि विरोध-प्रदर्शन अथवा आन्दोलन तभी रचे जाते हैं जब आवश्यक संसाधन उनमें डाले जाते हैं। उनके अनुसार, निर्बल एवं निर्धन समूह तभी उभरते हैं जब धनी हितकारी जन उनके संघर्ष में रुचि लेते हैं और उसमें संसाधनों की पूर्ति करते हैं। खेतीहर मज़दूरों के मामले में, जेन्किन्स एवं पैरो, दावा करते हैं कि उनका संघर्ष केवल तभी ठीक ढंग से चला जब मध्यवर्गीय उदारवादियों ने ('साठ के दशक में) उनके उद्देश्य का समर्थन करने का फैसला किया।

संसाधन संग्रहण सिद्धांत –

- उपान्तिक वर्गों के अयुक्त विरोध के रूप में और "अतिवाद" की ओर अभिमुख होने के रूप में सामाजिक आन्दोलनों के पुरातन दृष्टिकोण के विरुद्ध प्रतिक्रिया करता है (उदाहरणार्थ – साम्यवाद, नाज़ीवाद) (और इसीलिए अवैध और "वस्तुतः राजनीतिक नहीं")
- सामाजिक आन्दोलनों को (उदाहरणार्थ – अश्वेत नागरिक अधिकार, पर्यावरणवाद) वैयक्तिक रूप से युक्तियुक्त प्रयासों के रूप में देखता है ताकि "अन्य साधनों द्वारा राजनीति" के अनुशीलन में संसाधनों को सुलभ करा सके – इस प्रकार संसाधनसम्पन्न लोगों द्वारा व्युत्पन्न, अचल प्राधारों में अंतःस्थापित होता है (और इसीलिए वैध राजनीतिक अभिकर्त्ता!)
- व्यावसायिक आयोजक के संदर्श परिप्रेक्ष्य को फिर से उत्पन्न करने की प्रवृत्ति रखता है (उदाहरणार्थ– ग्रीन पीस, सर्वक्षमा): भागीदारी हेतु आयोजन एवं श्रेष्ठ प्रोत्साहनों के माध्यम से सशक्त एवं प्रभावशाली आन्दोलनों को खड़ा करने के लिए "मुक्त आरोही" समस्या से मुकाबला करना (फ्रीमैन)

यह सिद्धांत आन्दोलनों के नेताओं के उद्यमकारी कौशल पर ज़ोर देता है। वे अपने संघर्षों को जारी रखने के लिए भीतर और बाहर से आने वाले संसाधनों – पेशेवर आर्थिक संसाधन, नैतिक प्रोत्साहन एवं संचार-माध्यम – को सुलभ कराते हैं। सफल आन्दोलनों के नेताओं के पास संगठन बनाने और लोगों को संघटित करने का हुनर होता है। इस प्रक्रिया में आम उद्देश्यों को व्यक्त किया जाता है और सर्वसम्मति तैयार की जाती है ताकि सभी भागीदार इन लक्ष्यों को स्वीकार करें।

राजेन्द्र सिंह ने संसाधन संग्रहण सिद्धांत की धारणाओं को इस प्रकार संक्षेप में प्रस्तुत किया है :

क) सामाजिक आन्दोलनों को सामूहिक कार्रवाई के विवाद प्रतिमान के रूप में समझा जाना चाहिए;

ख) संस्थागत एवं ग़ैर-संस्थागत सामूहिक कार्रवाइयों के बीच कोई बुनियादी फ़र्क नहीं है;

ग) संस्थागत तथा ग़ैर-संस्थागत दोनों ही सामूहिक कार्रवाइयों में सांस्थानीकृत सत्ता-संबंधों की प्रणाली में उत्पन्न हित-विवाद होते हैं;

घ) सामाजिक आन्दोलनों में प्रतिस्पर्धी समूहों द्वारा हितों का युक्तिपरक अनुशीलन शामिल होता है;

ङ) सत्ता के सभी संबंधों में लक्ष्य एवं शिकायतें, विवाद एवं संघर्ष सहज ही विद्यमान होते हैं, और तदनुसार वे स्वयं भी सामाजिक आन्दोलनों के गठन की व्याख्या नहीं कर सकते;

च) सामाजिक आन्दोलनों का गठन, इसी कारण संसाधनों, संगठन एवं सामूहिक कार्रवाई हेतु अवसरों द्वारा निर्धारित होता है।

छ) सामूहिक कार्रवाई सफलता और प्रभाविता को भौतिक लाभ अथवा अभिकर्त्ता को एक राजनीतिक व्यक्ति के रूप में मान्यता दिए जाने के लिहाज से समझा जाता है; और

ज) अन्ततः, जैसा कि जैन्किन्स स्पष्ट रूप से देखते हैं, समकालीन सामाजिक आन्दोलनों में आदमियों की सुलभता में वृहद-स्तरीय, उन्नत संचार तकनीकों का प्रयोग, दतरशाही ढंग का संगठन तथा उपयोगितावादी प्रेरणाएँ एवं पहलकारियाँ शामिल होती हैं (2001)।

2.6 सापेक्ष अभाव सिद्धांत (Relative Deprivation Theory)

अमेरिकी विद्वानों द्वारा विकसित सापेक्ष अभाव सिद्धांत (गर, 1970) ने भी उत्पात एवं जन-आन्दोलनों पर कुछ अध्ययनों को प्रभावित किया है।

सापेक्ष अभाव को अभिकर्त्ताओं की मूल्य अपेक्षाओं एवं उनके पर्यावरण की प्रत्यक्ष मूल्य क्षमताओं के बीच उनके विसंगति बोध के रूप परिभाषित किया जाता है। मूल्य अपेक्षाएँ जीवन के वे हित एवं शर्तें हैं जिनके लिए लोग यह मानते हैं कि वे न्यायसंगत रूप से पात्र हैं। मूल्य क्षमताओं का हवाला देने वाले आमतौर पर सामाजिक एवं भौतिक परिवेश में मिलेंगे; ये ही वो शर्तें हैं जो उन मूल्यों को प्राप्त करने अथवा बनाए रखने संबंधी लोगों के अनुभूत अवसरों को निर्धारित करती हैं जिन्हें वे वैध रूप से अर्जित करने की उम्मीद करते हैं। गर लिखते हैं : "हताशा-आक्रमण तथा संबद्ध धमकी-आक्रमण युक्तियाँ सापेक्ष अभाव तथा सामूहिक हिंसा हेतु संभावना के बीच आधारभूत प्रेरणाप्रद संबंध प्रदान करती हैं।" गर सापेक्ष अभाव से तीन अन्य संकल्पनाओं को भी जोड़ते हैं, नामतः कर्कशता, मूल्य-अभाव और विवाद। इनमें दूसरा, मूल्य-अभाव मूल्य अवसरों हेतु अपने प्रभाव में महत्त्वपूर्ण है। इस बात के तीन प्रतिमान हैं कि मूल्य-अपेक्षाओं एवं मूल्य-क्षमताओं के विभेदीकरण का प्रभाव सापेक्ष अभाव पर किस प्रकार पड़ता है। ह्रासमान अभाव प्रतिमान उस स्थिति का वर्णन करता है जहाँ अपेक्षाएँ तो स्थिर रहती हैं परन्तु क्षमताएँ गिर जाती हैं। महत्त्वाकांक्षा प्रतिमान में क्षमताएँ वही रहती हैं परन्तु आशाएँ बढ़ती हैं। अन्तिम प्रतिमान, जे-वक्र (J-curve) अथवा उत्तरोत्तर अभाव प्रतिमान उन दशाओं में सटीक बैठता है जब पहले तो अपेक्षाएँ एवं क्षमताएँ साथ-साथ बढ़ती हैं परन्तु फिर क्षमताएँ बढ़ना बंद हो जाता है अथवा वे गिरने लगती हैं जबकि अपेक्षाएँ फिर भी बढ़ती रहती हैं।

वे लोग जो अभाव का अनुभव करते हैं और परिणामतः हताशा महसूस करते हैं, आक्रामक हो जाते हैं। वे उनसे 'इर्ष्या' रखते हैं जिनके पास आधिक्य है। अधिक रखने वालों के खिलाफ़ वे विरोध-प्रदर्शन करते हैं अथवा विद्रोह कर देते हैं। वे अभाव के स्रोतों से वास्ता नहीं रखते। गर के अनुसार, 'अभाव' मूल रूप से मनोवैज्ञानिक होता है; इसी कारण, वह सामाजिक-आर्थिक प्राधार को नहीं लेते जो कि अभाव का स्रोत ही है। यदि अभाव संबंधी इस प्रकार का अर्थ किसी एक व्यक्ति के किसी अन्य व्यक्ति के विरुद्ध होने तक ही परिसीमित हो तो वह अपराध की ओर प्रवृत्त करता है। जब वह सामूहिक अवबोधन बन जाता

ङ) सत्ता के सभी संबंधों में लक्ष्य एवं शिकायतें, विवाद एवं संघर्ष सहज ही विद्यमान होते हैं, और तदनुसार वे स्वयं भी सामाजिक आन्दोलनों के गठन की व्याख्या नहीं कर सकते;

च) सामाजिक आन्दोलनों का गठन, इसी कारण संसाधनों, संगठन एवं सामूहिक कार्रवाई हेतु अवसरों द्वारा निर्धारित होता है।

छ) सामूहिक कार्रवाई सफलता और प्रभाविता को भौतिक लाभ अथवा अभिकर्त्ता को एक राजनीतिक व्यक्ति के रूप में मान्यता दिए जाने के लिहाज से समझा जाता है; और

ज) अन्ततः, जैसा कि जैन्किन्स स्पष्ट रूप से देखते हैं, समकालीन सामाजिक आन्दोलनों में आदमियों की सुलभता में वृहद-स्तरीय, उन्नत संचार तकनीकों का प्रयोग, दतरशाही ढंग का संगठन तथा उपयोगितावादी प्रेरणाएँ एवं पहलकारियाँ शामिल होती हैं (2001)।

2.6 सापेक्ष अभाव सिद्धांत (Relative Deprivation Theory)

अमेरिकी विद्वानों द्वारा विकसित सापेक्ष अभाव सिद्धांत (गर, 1970) ने भी उत्पात एवं जन-आन्दोलनों पर कुछ अध्ययनों को प्रभावित किया है।

सापेक्ष अभाव को अभिकर्त्ताओं की मूल्य अपेक्षाओं एवं उनके पर्यावरण की प्रत्यक्ष मूल्य क्षमताओं के बीच उनके विसंगति बोध के रूप परिभाषित किया जाता है। मूल्य अपेक्षाएँ जीवन के वे हित एवं शर्तें हैं जिनके लिए लोग यह मानते हैं कि वे न्यायसंगत रूप से पात्र हैं। मूल्य क्षमताओं का हवाला देने वाले आमतौर पर सामाजिक एवं भौतिक परिवेश में मिलेंगे; ये ही वो शर्तें हैं जो उन मूल्यों को प्राप्त करने अथवा बनाए रखने संबंधी लोगों के अनुभूत अवसरों को निर्धारित करती हैं जिन्हें वे वैध रूप से अर्जित करने की उम्मीद करते हैं। गर लिखते हैं : "हताशा-आक्रमण तथा संबद्ध धमकी-आक्रमण युक्तियाँ सापेक्ष अभाव तथा सामूहिक हिंसा हेतु संभावना के बीच आधारभूत प्रेरणाप्रद संबंध प्रदान करती हैं।" गर सापेक्ष अभाव से तीन अन्य संकल्पनाओं को भी जोड़ते हैं, नामतः कर्कशता, मूल्य-अभाव और विवाद। इनमें दूसरा, मूल्य-अभाव मूल्य अवसरों हेतु अपने प्रभाव में महत्त्वपूर्ण है। इस बात के तीन प्रतिमान हैं कि मूल्य-अपेक्षाओं एवं मूल्य-क्षमताओं के विभेदीकरण का प्रभाव सापेक्ष अभाव पर किस प्रकार पड़ता है। ह्रासमान अभाव प्रतिमान उस स्थिति का वर्णन करता है जहाँ अपेक्षाएँ तो स्थिर रहती हैं परन्तु क्षमताएँ गिर जाती हैं। महत्त्वाकांक्षा प्रतिमान में क्षमताएँ वही रहती हैं परन्तु आशाएँ बढ़ती हैं। अन्तिम प्रतिमान, जे-वक्र (J-curve) अथवा उत्तरोत्तर अभाव प्रतिमान उन दशाओं में सटीक बैठता है जब पहले तो अपेक्षाएँ एवं क्षमताएँ साथ-साथ बढ़ती हैं परन्तु फिर क्षमताएँ बढ़ना बंद हो जाता है अथवा वे गिरने लगती हैं जबकि अपेक्षाएँ फिर भी बढ़ती रहती हैं।

वे लोग जो अभाव का अनुभव करते हैं और परिणामतः हताशा महसूस करते हैं, आक्रामक हो जाते हैं। वे उनसे 'इर्ष्या' रखते हैं जिनके पास आधिक्य है। अधिक रखने वालों के खिलाफ़ वे विरोध-प्रदर्शन करते हैं अथवा विद्रोह कर देते हैं। वे अभाव के स्रोतों से वास्ता नहीं रखते। गर के अनुसार, 'अभाव' मूल रूप से मनोवैज्ञानिक होता है; इसी कारण, वह सामाजिक-आर्थिक प्राधार को नहीं लेते जो कि अभाव का स्रोत ही है। यदि अभाव संबंधी इस प्रकार का अर्थ किसी एक व्यक्ति के किसी अन्य व्यक्ति के विरुद्ध होने तक ही परिसीमित हो तो वह अपराध की ओर प्रवृत्त करता है। जब वह सामूहिक अवबोधन बन जाता

है – क्षेत्र, समुदाय अथवा जाति का अभाव – तो वह सामूहिक कार्रवाई का रूप ले लेता है। परन्तु वह सामाजिक व्यवस्था हेतु विचारधारा के साथ नहीं चलता, वह एक विरोध अथवा विद्रोह ही रहता है और शायद ही किसी सामाजिक आन्दोलन का रूप लेता है। वे 'परिवर्तन की चल रही प्रक्रियाओं' की बजाय 'अस्थायी विकार' बन जाते हैं। सापेक्ष अभाव विरोध-आन्दोलनों के लिए एक आवश्यक परन्तु एक अपर्याप्त दशा है। एम.एस.ए. राव का कहना है कि 'भागीदारों की ओर से बोध एवं प्रकटन का एक पर्याप्त स्तर आवश्यक है, और वे विशेषाधिकार-प्राप्त लोगों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशाओं तथा अभावग्रस्त लोगों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशाओं के बीच अन्तर को देखने व समझने में सक्षम होने ही चाहिए, साथ ही उन्हें यह भी कर दिखाना चाहिए कि इसके विषय में कुछ करना संभव है' (1979 : 207)।

2.7 सार-संक्षेप

दृष्टिकोण अथवा सैद्धांतिक प्राधार हमें सामाजिक आन्दोलनों को अधिक सार्थक रूप से समझने में मदद करते हैं। वे तथ्यों को अर्थ प्रदान करने में उपयोगी होते हैं और उन लोगों के लिए बहुमूल्य पथ-प्रदर्शक भी जो आन्दोलनों में सक्रिय होते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोणों में एक है – मार्क्सवादी दृष्टिकोण। इसको सैद्धांतिक/क्लासिक दृष्टिकोण अथवा पुरातन दृष्टिकोण भी कहते हैं। दृष्टिकोणों संबंधी ऊपर दी गई सूची सर्वसमावेशी नहीं है। यहाँ व्यवहारात्मक, संज्ञानात्मक, बहुस्तरीय इत्यादि – अनेक दृष्टिकोण भी पाये जाते हैं। परन्तु वे सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययनार्थ विद्वानों द्वारा व्यापक रूप से प्रयोग नहीं किए जाते। हर एक दृष्टिकोण में विश्लेषणार्थ विभिन्न अल्पान्तर पाए जाते हैं।

2.8 अभ्यास प्रश्न

1) सामाजिक आन्दोलनों को समझने में सैद्धांतिक दृष्टिकोण का क्या महत्त्व है?

2) सामाजिक आन्दोलनों के विश्लेषणार्थ मार्क्सवादी दृष्टिकोण में "वर्ग-संघर्ष" का क्या महत्त्व है?

3) मुख्यधारा मार्क्सवादी दृष्टिकोण से "सबाल्टर्न स्टडीज़" दृष्टिकोण किस प्रकार भिन्न है?

4) क्या सामाजिक आन्दोलन राजनीतिक व्यवस्था के कार्यसंचालन में निष्क्रियात्मक है? क्यों?

5) "साधनों की शुद्धता ही गाँधीवादी दृष्टिकोण का केन्द्र है" स्पष्ट करें।

6) सत्याग्रह के गाँधीवादी स्वरूप के प्रमुख अभिलक्षणों को स्पष्ट करें।

7) सामाजिक आन्दोलन साहित्य में संसाधन संग्रहण (Relative Deprivation Theory) सिद्धांत पर चर्चा करें।

8) सामाजिक आन्दोलनों के विश्लेषण में सापेक्ष अभाव सिद्धांत (Relative Deprivation Theory) के महत्त्व पर प्रकाश डालें।

इकाई 3 सामाजिक आन्दोलनों का वर्गीकरण, नए सामाजिक आन्दोलनों समेत

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 सुधार, विद्रोह और क्रांति
3.3 नए सामाजिक आन्दोलन
3.4 मुद्दा-आधारित आन्दोलन
3.5 सामाजिक श्रेणियों द्वारा वर्गीकरण
3.6 सार-संक्षेप
3.7 अभ्यास प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

वर्गीकरण तथ्यों/आँकड़ों को चुनने और क्रमबद्ध करने का एक तरीका है। यह किसी के अवलोकनों को अर्थ प्रदान करने का भी एक तरीका है। किसी भी सामाजिक दृश्यघटना, प्रक्रिया अथवा जन-समूह को वर्गीकृत करने का कोई एक तरीका विशेष नहीं होता। कोई भी वर्गीकरण परमपावन और सभी विद्वत्जनों व सक्रियतावादियों द्वारा सार्वत्रिक रूप से स्वीकार्य नहीं है। वर्गीकरण सैद्धान्तिक दृष्टिकोण और उस प्रश्न से संबंध रखता है, जो कि व्यक्ति समझना चाहता है। एक ही आन्दोलन को अनेक तरीकों से वर्गीकृत किया जा सकता है, इस बात पर निर्भर करते हुए कि अध्ययन का मुख्य बिंदु क्या है। उदाहरण के लिए, प्रदूषण के मुद्दे को उठाते लोगों के एक सामूहिक संघर्ष को पर्यावरण आन्दोलन कहा जा सकता है और मानव-अधिकार आन्दोलन अथवा मध्यवर्ग आन्दोलन अथवा सुधारवादी आन्दोलन अथवा नए सामाजिक आन्दोलन भी। इस इकाई में हम इन आन्दोलनों के कुछ ऐसे रूपों की व्याख्या करेंगे जो कि विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रयोग किए जाते हैं और इस प्रकार की वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रक्रिया हेतु उसके मूल में स्थित तर्क-आधारों की भी।

3.2 सुधार, विद्रोह और क्रांति

सामान्यतया वे लोग जो मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं, सामाजिक आन्दोलनों को समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन की संभावनाओं के दृष्टिकोण से देखते हैं। वे इन आन्दोलनों को न केवल भागीदारों एवं नेताओं की विचारधारा तथा तत्काल एवं दीर्घावधि उद्देश्यों, अपितु सामाजिक आन्दोलनों से विद्वत्जनों की निजी अपेक्षाओं के संदर्भ में भी अभिलक्षित करते हैं। इस दृष्टिकोण में आन्दोलनों को इस आधार पर वर्गीकृत किया जाता है कि वे क्या हासिल करते हैं अथवा करने वाले हैं और राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध सामूहिक कार्रवाई के उद्देश्यों के आधार पर भी। इस सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार सामाजिक

आन्दोलन तीन प्रकार के होते हैं: विद्रोह अथवा राजद्रोह, सुधार, तथा क्रांति। विद्रोह अथवा राजद्रोह राजनीतिक व्यवस्था अथवा शासन प्रणाली का विरोध करता है और सत्ता – सरकार और/अथवा शासनकारी अभिजात वर्ग/शासकों – में परिवर्तन हेतु प्रयास भी कर सकता है। परन्तु वह न तो राजनीतिक व्यवस्था को बदल डालने का सवाल उठाता है न ही ऐसी कोई मंशा रखता है। संक्षेप में, यह आन्दोलन व्यवस्था की बजाय शासन-प्रणाली के विरुद्ध होता है। विद्रोह **(Revolt)** राजनीतिक सत्ता को एक चुनौती के रूप में होता है जो कि सरकार को उखाड़ फेंकने पर अभिलक्षित होता है। जबकि राजद्रोह **(Rebellion)** को व्यवस्था को बदल डालने हेतु राज्य-सत्ता को हथिया लेने संबंधी किसी भी मंशा के बग़ैर विद्यमान सत्ता पर आक्रमण कहा जा सकता है।

ऐसा सामाजिक आन्दोलन जो व्यवस्था में कुछ निश्चित परिवर्तन लाने पर ही अभिलक्षित होता है, न कि व्यवस्था को पूरी तरह बदल डालने पर, सुधारवादी आन्दोलन कहलाता है। इस प्रकार के आन्दोलन राजनीतिक संस्थाओं की प्रकार्यात्मक पर संदेह करते हैं और सरकार पर दबाव डालते हैं कि वह अपने प्राधार और प्रक्रियाओं में कुछ निश्चित परिवर्तन लायें। ऐसा करते समय वे पूरी की पूरी व्यवस्था पर सवाल नहीं करते; न ही वे किसी राजनीतिक संस्था को वृहत्तर राजनीतिक प्राधार के साथ जोड़ते हैं। दूसरे शब्दों में, वे किसी संस्था अथवा व्यवस्था के एक भाग-विशेष को सुधारने पर ही ध्यान केन्द्रित करते हैं। उदाहरण के लिए, वह आन्दोलन जो मुख्य रूप से चुनाव-नियमों एवं प्रक्रियाओं को बदले जाने पर अभिलक्षित होता है, चुनावों को समाज में आर्थिक प्राधार और सत्ता-संबंध के साथ नहीं जोड़ता। इस अर्थ में वह सुधारवादी आन्दोलन होता है। या फिर, विभिन्न समाज-सुधार आन्दोलन कुछ रीति-रिवाजों को सुधारने का प्रयास करते हैं; जैसे – बाल-विवाह अथवा दहेज प्रथा, पशु-बलि जैसी मान्यताएँ, अस्पृश्यता; अथवा सामाजिक व्यवस्थाएँ, जैसे – सामाजिक पद स्थिति एवं गतिशीलता में अधिश्रेणिक व्यवस्था, बजाय इसके कि असमानता के सिद्धांतों के इर्द-गिर्द प्रदूषण एवं शुद्धता पर आधारित समग्र सामाजिक व्यवस्था में अविश्वास प्रकट किया जाए। जब नारी-आन्दोलन संसद में महिलाओं के लिए आरक्षण हेतु संघर्ष करते हैं तो यह सुधारवादी आन्दोलन होता है जो कि प्रतिनिधि प्रणाली को बदलने पर अभिलक्षित होता है। कोई सुधार अपने आप में राजनीतिक व्यवस्था को चुनौती नहीं दिया करता। वह व्यवस्था के विभिन्न भागों के बीच संबंधों को बदल डालने हेतु प्रयास करता है ताकि उसे अधिक प्रभावी, उत्तरकारी और कारगर बनाया जा सके।

क्रांति **(Revolution)** में समाज का एक अथवा अनेक वर्ग न सिर्फ स्थापित सरकार व शासन-प्रणाली को बल्कि उसे कायम रखने वाले सामाजिक-आर्थिक ढाँचे को भी उखाड़ फेंकने के लिए एक संगठित संघर्ष छेड़ते हैं, और उस ढाँचे के स्थान एक वैकल्पिक सामाजिक व्यवस्था ले आते हैं। उदाहरण के लिए, नक्सलवादी आन्दोलन न सिर्फ़ सरकार-विशेष को चुनौती देता है बल्कि उस राज्य को उखाड़ फेंकने पर भी अभिलक्षित होता है जो सामंती/अर्ध-सामंती हो। साथ ही, नक्सलवादी जन साम्यवादी राज्य स्थापित किए जाने की इच्छा भी रखते हैं। या फिर दलित आन्दोलन उस सामाजिक व्यवस्था को बदल डालने पर अभिलक्षित है जो जाति-व्यवस्था पर आधारित है और ये लोग समतावादी सामाजिक व्यवस्था बनाये जाने की इच्छा रखते हैं। इसी प्रकार जब नारी-आन्दोलन समाज में पितृसत्ता को चुनौती देता है और उसके उन्मूलन का प्रयास करता है तो वह एक क्रांतिकारी आन्दोलन बन जाता है।

सामाजिक आन्दोलनों की प्रवृत्ति एक दूसरे पर अधिव्याप्त होती है। अनेक आन्दोलनों में समय के साथ

परिवर्तन आ जाता है। कुछ प्रतीयमानत: सुधारवादी आन्दोलन क्रांतिकारी रूप ले लेते हैं; और कुछ जो क्रांतिकारी मुद्दों को लेकर शुरू होते हैं सुधारवादी भी बन जाते हैं। सभी सामाजिक आन्दोलन ज़रूरी नहीं कि व्यवस्था को कायम रखने अथवा कायान्तरित करने के लिहाज से स्पष्ट उद्देश्यों को लेकर ही शुरू हों। वे अक्सर नेताओं, भागीदारों और विचारधारा के माध्यम से प्रक्रिया में रूपायित हो जाते हैं।

3.3 नए सामाजिक आन्दोलन

भागीदारों के वर्ग-प्राधार पर ध्यान केन्द्रित करते हुए मार्क्सवादी सैद्धांतिक दृष्टिकोण पर आधारित वर्गीकरण, वर्तमान राज्य को उखाड़ फेंकने के अन्तिम उद्देश्यों और उत्पादन संबंध में समग्र परिवर्तन लाने पर लक्ष्य साधने वाले आन्दोलनों को 'पुराने' सामाजिक आन्दोलन कहते हैं। उन्हें पारम्परिक अथवा क्लासीकल आन्दोलन भी कहा जाता है। ऐसा दावा किया जाता है कि ये आन्दोलन मुख्य तौर पर राज्य सत्ता पर और भागीदारों की वर्ग-चेतना पर ध्यान केन्द्रित करता है। सामंती/अर्ध-सामंती आर्थिक ढाँचे के विरुद्ध किसान अथवा कामगार वर्ग आन्दोलन आदि उदाहरण इसी श्रेणी में आते हैं।

इसके विपरीत, हाल के कुछ आन्दोलन, खासकर यूरोप में 'साठ के दशक में व उसके बाद, जैसे – शान्ति आन्दोलन, पर्यावरण आन्दोलन, नारी-आन्दोलन आदि, 'नए' आन्दोलन कहलाते हैं। भारत में पहचान के मुद्दे – दलित, आदिवादी, नारी, मानवाधिकार, पर्यावरण आदि को लेकर चलने वाले आन्दोलन भी 'नव या नए' सामाजिक आन्दोलन के नाम से जाने जाते हैं। एक अर्थ में उनको 'नया' इसलिए कहा जाता है क्योंकि उन्होंने पहचान और स्वायत्तता से जुड़े ऐसे मुद्दों को उठाया है जो कि इतर-वर्गीय (non-class) मुद्दे हैं और राज्य से झगड़े में नहीं पड़ते। ये सामाजिक आन्दोलनों के आधुनिक रूप हैं। तथापि, यह बयान इकतरफा ही होगा कि अतीत में लोग पहचान और स्वायत्तता हेतु उठ खड़े नहीं हुए और संघर्ष नहीं किया। उदाहरण के लिए, 1830 के दशक में छोटा नागपुर में बिरसा मुण्डा आन्दोलन अपने जीवन में ब्रिटिश राज्य के हस्तक्षेप का विरोध करने हेतु संघर्ष ही था। यही आन्दोलन उनकी स्वायत्तता के रक्षार्थ भी था। के.एस.सिंह (1966) के अनुसार, इस आन्दोलन का लक्ष्य था – "प्रजातीय शत्रुओं, डिकुओं, यूरोपीय धर्म-प्रचारक एवं अधिकारीगण तथा देशज ईसाइयों से निजात पाना। मुण्डाओं को अपना 'खोया राज्य' फिर से हासिल करना था। जहाँ खाने को पर्याप्त होगा, कोई अकाल नहीं होगा, लोग प्रेमपूर्वक साथ-साथ रहेंगे''। अत: यह कहना ठीक नहीं कि बीते काल में लोगों ने पहचान और स्वायत्तता के लिए संघर्ष नहीं किया। दरअसल, जैसा कि आन्द्रे गुंदर फ्रांक और मार्ता फुंतेस (2002) बताते हैं कि 'परम्परावादी' कामगार-वर्ग आन्दोलन 19वीं शती के औद्योगिक समाज का परिणाम हैं। "दूसरी ओर, कृषक वर्ग, निष्ठावादी समुदाय, नृजातीय/राष्ट्रवादी, धार्मिक, और यहाँ तक कि नारीवादी/महिला आन्दोलन भी विश्व के अनेक भागों में शताब्दियों और सहस्राब्दियों से अस्तित्व में हैं।'' इसी कारण 'पुराने' और 'नए' समय से संबंध नहीं रखते। वे अपने अभिलक्षणों में भी भिन्न हैं।

वे विद्वत्जन जो पारम्परिक अथवा मार्क्सवादी दृष्टिकोण के तानेबाने को अस्वीकार करते हैं, 'नए' सामाजिक आन्दोलन की निम्नलिखित विशेषताओं को बताते हैं :

1) नए सामाजिक आन्दोलन अपनी सामूहिक कार्यवाही का ध्यान-केन्द्र राज्य-सत्ता को नहीं बना रहे। वे वैयक्तिक एवं सामूहिक नैतिकता से जुड़े हैं। आन्द्रे गुंदर फ्रांक और मार्ता फुंतेस पाते हैं

कि ये आन्दोलन "वैयक्तिक अभिप्रेरण में नैतिक-बल और एक न्याय/अन्याय भाव, तथा सामाजिक शक्ति विकसित करने में सामाजिक संघटन-बल का परस्पर प्रयोग करते हैं। सभी प्रकार के सामाजिक आन्दोलनों में वैयक्तिक सदस्यता अथवा भागीदारी और अभिप्रेरण में सामाजिक एवं सार्वजनिक व्यवस्था में न्याय के साथ एक सशक्त नीति-घटक और रक्षात्मक चिंत्य विषय पाए जाते हैं। (2000)''

2) नए सामाजिक आन्दोलन वर्ग-आधारित नहीं हैं। वे बहुवर्गीय हैं। वस्तुतः, वे इस सिद्धांत का समर्थन नहीं करते कि समाज वर्ग-विचारधारा पर विभाजित है और तमाम वर्ग प्रतिद्वन्द्वितावादी हैं। ये नए सामाजिक आन्दोलन या तो नृजातीय हैं या फिर राष्ट्रवादी तथा एकाधिक। नारी-आन्दोलन एक उदाहरण है। गेल ओमवेट समकालीन किसान आन्दोलन को 'नए' और इतर-वर्गीय (non-class) आन्दोलन के रूप में लेती हैं। उनके अनुसार, यह छोटे और ग़रीब के साथ-साथ मध्यम और धनी किसानों का भी आन्दोलन है। इन आन्दोलनों को, गेल का दावा है, कृषि श्रमिकों का समर्थन भी प्राप्त है। आन्दोलन को दुकानदारों और ऊँची व नीची जातियों का समर्थन भी प्राप्त है। उनका कहना है –

"किसान-आन्दोलनों की विचारधाराओं ने, इस प्रकार, मार्क्सवाद को खुली चुनौती दी जिसने उसका विश्लेषण केवल पूँजी-श्रमिक, संघर्षों तक ही समेट दिया जैसी कि उपभोक्ता-वस्तु विनिमय क्षेत्र में स्पष्ट व्याख्या की गई; संकीर्ण अर्थ में परिभाषित वर्ग की बजाय अन्य कारकों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने पूँजी संचयन और आर्थिक शोषण के एक व्यापक रणक्षेत्र की ओर देखा, और कई तरीकों से उनका दबाव विकासशील पर्यावरण आन्दोलनों के दबाव के साथ मेल खाता था (1993)।''

3) नए सामाजिक आन्दोलन नागरिक समाज के साथ ही परिसीमित और संबद्ध हैं। इन आन्दोलनों के विरोधियों के अनुसार "नागरिक समाज ह्रासमान है; उसका सामाजिक क्षेत्र संकुचन से ग्रस्त है और नागरिक समाज का 'सामाजिक' राज्य के नियंत्रण सामर्थ्य द्वारा क्षयग्रस्त है। राज्य का विस्तार, समकालीन परिवेश में, बाज़ार के विस्तार के अनुरूप ही है। राज्य और बाज़ार को नागरिक जीवन में सभी पहलुओं पर दो हमला करती संस्थाओं के रूप में देखा जाता है। राज्य व बाज़ार की ताकतों के संयुक्त प्रभाव के अधीन समाज असहाय हो जाता है। परिणामतः, ये आन्दोलन राज्य संगठनों : निगरानी एवं सामाजिक नियंत्रण अभिकरणों के बढ़ते विस्तार के खिलाफ़ समुदाय और समाज की 'आत्म-रक्षा' के मुद्दे को उठाते हैं। (सिंह 2001)''

4) नए सामाजिक आन्दोलन भूमि, वेतन अथवा सामाजिक आदि मुद्दों को लेकर नहीं चलते। वे राज्य, बाज़ार व सामाजिक संख्याओं के खिलाफ़ मुख्य रूप से अपनी पहचान व्यक्ति एवं समुदाय की और स्वायत्तता से ताल्लुक रखते हैं। इसी कारण, गरिमा हेतु दलित आन्दोलन और अपनी स्वायत्तता हेतु आदिवासी आन्दोलन को नए सामाजिक आन्दोलन के रूप में लिया जाता है।

5) नए सामाजिक आन्दोलन किसी एक वर्ग अथवा समूह के हित ही से नहीं जुड़े हैं। वे किसी वर्ग विशेष पर ध्यान न देते हुए वे सभी की भलाई से जुड़े हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार उस अर्थ में पर्यावरण आन्दोलन नव सामाजिक आन्दोलन ही है क्योंकि वह किसी वर्ग विशेष के मुद्दे को नहीं उठाता।

6) कुछ लोगों के अनुसार नए सामाजिक आन्दोलन जन-साधारण अथवा लघु आन्दोलन (grass-root or micro movements) हैं और अपनी कार्यसूची में राज्य-सत्ता को हथियाना नहीं रखते। वे अपनी संगठनात्मक संरचना में लोकतांत्रिक हैं। ज़ाँ कोहन के अनुसार, ये आन्दोलन ऐसा मुद्दा उठाते हैं जो राज्य व अर्थव्यवस्था की बजाय समाज से उठता हो। वे दैनिक जीवन में लोकतंत्रीकरण से जुड़े होते हैं। राजेन्द्र सिंह के अनुसार, "नए सामाजिक आन्दोलनों का उद्देश्य राज्य, समाज व अर्थव्यवस्था के बीच संबंधों को मान्यता देना होता है, साथ ही एक ऐसा सार्वजनिक स्थल बनाना भी जिसमें व्यक्ति व समष्टियों की स्वायत्तता एवं स्वतंत्रता, उनकी पहचानों एवं उद्गमों विषयक लोकतांत्रिक कथन पर चर्चा व उनकी जाँच-पड़ताल की जा सके। अपनी अनेक अभिव्यक्तियों में ये आन्दोलन आमतौर पर स्वयं को सामाजिक कार्यवाही तक परिसीमित रखते हैं जिसकी मुख्य विशेषता को कोहन 'आत्म सीमाकारी आमूल परिवर्तनवाद' कहते हैं। (2001)"

3.4 मुद्दा-आधारित आन्दोलन

उनमें से कुछ लोग जो प्राधार-प्रकार्य दृष्टिकोण का अनुसरण करते हैं, सामाजिक आन्दोलनों का वर्गीकरण उन मुद्दों के आधार पर करते हैं जिनको लेकर लोगों को संघटित किया जाता है। लोग अनेकों स्थानीय व तत्काल से लेकर दैहिक एवं दीर्घावधि मुद्दों के अस्तित्व में संघटित अवश्य होते हैं। वे समय-समय व समाज-समाज में भिन्न-भिन्न होते हैं। कभी-कभी मुद्दा-आधारित वर्गीकरण भिन्न मुद्दों को अलग ही मानकर चलता है। कभी-कभी मुद्दों को सैद्धांतिक दृष्टिकोण में प्रत्ययीकृत कर दिया जाता है, जैसे कि विकासात्मक, जीवनयापन, मानवाधिकार मुद्दे अथवा राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक मुद्दे; या फिर स्थानीय, क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय मुद्दे। मुद्दों का वर्गीकरण विद्वानों के नज़रिये पर ही निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, बाँध-प्रभावित लोगों का आन्दोलन उन लोगों का पुनर्वास आन्दोलन कहला सकता है और उसे विकास-विरोधी आन्दोलन अथवा मानवाधिकार आन्दोलन भी कहा जा सकता है।

इसी प्रकार, वनवासियों के संघर्षों को भी ऐसे वर्गीकृत किया जा सकता है : वन आन्दोलन, नागरिक अधिकार अथवा जीवनयापन आन्दोलन या फिर जन-संसाधन हेतु आन्दोलन।

3.5 सामाजिक श्रेणियों द्वारा वर्गीकरण

वे लोग जो मार्क्सवादी दृष्टिकोण को अपनाते हैं, सामाजिक आन्दोलनों को प्रायः वर्गों के आधार पर वर्गीकृत करते हैं; जैसे – किसान आन्दोलन अथवा संपन्न किसान आन्दोलन, कामगार वर्ग आन्दोलन अथवा मध्यवर्ग आन्दोलन, इत्यादि। वे लोग जो सांस्कृतिक अथवा सामुदायिक प्राधार अपनाते हैं, आन्दोलनों को समुदाय के आधार पर बाँटते हैं; जैसे – नृजातीय आन्दोलन, पाश्चात्य आन्दोलन, अश्वेत आन्दोलन, दलित आन्दोलन, आदि। कभी-कभी सामाजिक श्रेणियों को क्षेत्र द्वारा भी विभाजित किया जाता है; जैसे – शहरी और ग्रामीण। आन्दोलनों को आर्थिक के साथ-साथ नृजातीय श्रेणियों में भी बाँटा जा सकता है तथा मुद्दों को एक साथ लेकर भी वर्गीकृत किया जा सकता है। कुछ अन्य लोग आन्दोलनों

को भागीदारों के आधार पर वर्गीकृत करते हैं; जैसे – किसान, जनजातियाँ, छात्र, महिलाएँ, दलित, आदि। अनेक उदाहरणों में भागीदार और मुद्दे एक साथ चलते हैं।

3.6 सार-संक्षेप

वर्गीकरण विश्लेषण के लिए एक उपकरण है। यह सैद्धांतिक दृष्टिकोण से गहरे रूप से जुड़ा होता है। अत: सामाजिक आन्दोलनों का वर्गीकरण विद्वान्-विद्वान् के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है जो कि उसके विश्लेषण के दृष्टिकोण पर निर्भर होता है। वर्गीकरण हेतु महत्त्वपूर्ण नियामक है : आप क्या पता लगाना चाहते हैं? अथवा आपके वर्गीकरण का उद्देश्य क्या है? आजकल सामाजिक आन्दोलन दो वर्गों में बाँटे जाते हैं : (1) पुराना अथवा पारम्परिक और (2) नया। पूर्ववर्ती मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाता है। यह उद्देश्यों एवं भागीदारों के वर्ग-लक्षणों पर आधारित होता है। नए सामाजिक आन्दोलन वे आन्दोलन हैं जो इतर-वर्गीय (non-class) हैं और पहचान व स्वायत्तता आदि मुद्दों को लेकर ही शुरू होते हैं आन्दोलनों का वर्गीकरण मुद्दों और/अथवा भागीदारों के सामाजिक वर्ग द्वारा किया जाता है।

3.7 अभ्यास प्रश्न

1) "सामाजिक आन्दोलनों का कोई भी वर्गीकरण परमपावन (sacrosanct) नहीं है" स्पष्ट करें।
2) सुधार और क्रांतिकारी आन्दोलन के बीच भेद पर चर्चा करें।
3) नए सामाजिक आन्दोलनों को "नए" क्यों कहा जाता है?
4) नए सामाजिक आन्दोलनों के मुख्य अभिलक्षण क्या हैं?
5) मुद्दा-आधारित आन्दोलनों के कुछ उदाहरण दें।
6) सामाजिक वर्गों पर आधारित वर्गीकरण के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करें।

इकाई 4 भारतीय समाज का लोकतंत्रीकरण और बदलता स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 औपनिवेशिक काल में समाज-सुधार एवं असमानताएँ
4.3 स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक बदलाव की अवधारणा
4.4 लोकतंत्र एवं सामाजिक परिवर्तन के प्रकटन स्वरूप जन-आन्दोलन
4.5 ऊँची जातियों के आधिपत्य को पिछड़े वर्गों व दलितों की चुनौती
4.6 राज्य, लोकतंत्र एवं परिवर्तन
    4.6.1 जाति
    4.6.2 लिंगभेद
4.7 उदारीकरण, ग़रीबी और सामाजिक बदलाव
4.8 मानव विकास संदर्शिका एवं वास्तविकता
4.9 सार-संक्षेप
4.10 अभ्यास प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

स्वतंत्रताप्राप्ति उपरांत भारत में घटनाक्रम पर एक गहन दृष्टि डालने से हमें पता चलता है कि लोकतंत्र की स्थापना – वितरणकारी न्याय की अवधारणा से जुड़े आर्थिक विकास ने एक पारम्परिक समाज का कायापलट कर दिया है। राज्य ही परिवर्तन का मुख्य साधन रहा है। राजनीति ने इस कायांतरण को आसान बनाने में एक अभिकर्त्ता की भूमिका अदा की है। जब भारत ने एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अपनी यात्रा आरम्भ की, एक लोकतांत्रिक गणतंत्र होने संबंधी हमारे दावे के बावज़ूद, राजनीतिक भागीदारी सामाजिक एवं आर्थिक असमानताओं द्वारा निरुद्ध रही। तिस पर भी, राष्ट्रीय, राज्यीय एवं स्थानीय स्तरों पर आवधिक चुनावों ने समाज के परंपरागत रूप से दबे एवं वंचित वर्गों की सशक्त भागीदारी को प्रोत्साहित किया है। यह कहा जा सकता है कि लोकतंत्र चंद लोगों के विशेषाधिकारों एवं अधिकारों के खिलाफ एक हथियार सिद्ध हुआ है। सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों ने कठोर श्रेणीबद्ध ढाँचों, सामाजिक भेदभाव तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियों की गिरत से छुड़ाने में एक लम्बी भूमिका निभाई है। इन सकारी घटनाओं के बावज़ूद भारत को अभी भी व्यापक ग़रीबी, निरक्षरता, साम्प्रदायिक हिंसा एवं नारी पर अत्याचार आदि समस्याओं से जूझना पड़ रहा है। इस इकाई में हम पायेंगे – भारतीय समाज का लोकतंत्रीकरण तथा वे स्वरूप-परिवर्तन जो उसमें हुए हैं।

4.2 औपनिवेशिक काल में समाज-सुधार एवं असमानताएँ

उन्नीसवीं शताब्दी के समाज-सुधार आन्दोलनों ने जाति-प्रथा की कड़ी आलोचना की, जो कि सामाजिक स्थिति के पदानुक्रम में श्रेणीकृत थी। इस जाति-प्रथा के सबसे निचले स्तर पर रखे गए थे – अछूत, जो कि हिन्दू जनसंख्या का पच्चीस प्रतिशत थे और भेदभाव के निकृष्टतम रूप से पीड़ित थे। उनको मन्दिरों में प्रवेश की अनुमति नहीं थी, न ही उन्हें ऊँची जातियों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले तालाबों, कुओं और सिंचाई-नहरों से पानी लेने दिया जाता था। वे उन स्कूलों में भी नहीं जा सकते थे जिनमें ऊँची जातियों के बच्चे पढ़ते थे। पुलिस और सेना जैसी सार्वजनिक सेवाओं में उनके प्रवेश पर पाबंदी थी। उनके सामने एक मात्र विकल्प था – दासोचित कार्यों में प्रवेश करना, जिन्हें गन्दा काम माना जाता था; जैसे – सफाई करना, शव आदि हटाना। देश के कुछ भागों में उनके होने मात्र को भी प्रदूषणकारी माना जाता था। सामाजिक आन्दोलनों के बीच उनमें से कुछ का उल्लेख अवश्यकरणीय है; जैसे – महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले के नेतृत्व वाला और केरल में श्री नारायण गुरु के नेतृत्व वाला आन्दोलन। इन आन्दोलनों ने जाति-आधारित असमानता पर सवाल उठाया। गाँधी जी ने अपृश्यता निवारण को स्वतंत्रता आन्दोलन का एक अभिन्न हिस्सा बनाया। उन्होंने इस बात के प्रयास भी किए कि उच्च जातियों को अस्पृश्यता-प्रथा से होने वाले अन्याय के महापराध को महसूस करा सकें। उन्होने अछूतों को हिन्दुओं से अलग समझे जाने संबंधी अंग्रेजों के प्रयास का विरोध किया। भीमराव अम्बेडकर जो कि एक अछूत जाति – महार जाति से संबंध रखते थे, बीसवीं सदी के दूसरे दशकांत में महाराष्ट्र में एक शक्तिशाली नेता के रूप में उभरे। वह जाति-प्रथा के खिलाफ और अछूतों के लिए पृथक् निर्वाचन-वर्ग के पक्ष में लड़े। उनका कहना था कि सामाजिक रूप से पृथक्कृत राजनीतिक रूप से भी पृथक्कृत होने चाहिए। जब 1932 में साम्प्रदायिक पुरस्कार ने पृथक् निर्वाचन-वर्ग हेतु व्यवस्था दी तो गाँधी जी इसके खिलाफ अनशन पर चले गए। अम्बेडकर 'पूना समझौते' पर हस्ताक्षर करने को सहमत हो गए, जिसके अनुसार अछूतों को सामान्य हिन्दू श्रेणी के भीतर ही आरक्षित सीटें दे दी गईं।

भारत में महिलाएँ सदियों से विभिन्न प्रकार के उत्पीड़नों का शिकार होती रहीं हैं। साथ ही, देश में प्रचलित विभिन्न धर्मों द्वारा इसे वैध भी ठहराया जाता रहा है। उनका कोई अपना व्यक्तित्व भी है, ऐसा नहीं माना जाता था : उन्हें अपने पति के व्यक्तित्व में सहायक के रूप में देखा जाता था। पारम्परिक दृष्टिकोण पत्नी अथवा माँ की भूमिका को बहुत अच्छी तरह समझते थे परन्तु वैयक्तिक रूप में महिलाओं को एक निम्न स्थिति पर रखते थे। बहुविवाह, पर्दा प्रथा, बाल-विवाह, तथा सती प्रथा आदि प्रथाओं के प्रचलन ने उनकी स्थिति को गुप्त रूप से क्षति पहुँचाई। हिन्दू महिलाओं को उत्तराधिकार में सम्पत्ति पाने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था, जबकि मुस्लिम महिलाएँ उत्तराधिकार में पुरुष का मात्र आधा ही प्राप्त कर सकती थीं। समाज सुधार आन्दोलन को देश भर में एक ही धुन लगी थी और वह थी – महिलाओं की स्थिति में सुधार।

4.3 स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक बदलाव की अवधारणा

संविधान सभा के अनेक सदस्यों का यह दृष्टिकोण था कि उदारवादी लोकतंत्र के मूल्य और संस्थाएँ भारतीय परम्परा से जुड़े सामाजिक ताने-बाने का कायापलट कर देंगीं। आस्टिन का विचार था कि

संविधान सभा के सदस्यों ने उदारवादी लोकतंत्र का वैस्टमिंस्टर मॉडल चुना था। व्यक्तिगत पसंद, स्वीकृति, स्वतंत्रता एवं समानता आदि विचारों पर आधारित लोकतंत्र के एक उदावादी प्रतिमान को रीति-रिवाजों, आरोपित पदस्थिति, पदानुक्रम तथा असमानता पर आधारित जीवन के प्राचीन परम्परावादी प्राधार के एक मुक्तिकारी विकल्प के रूप में देखा गया। आस्टिन के अनुसार, ऐसा औपनिवेशिक काल के दौरान इन संस्थाओं की कार्यवाही के साथ रही हमारी सुविज्ञता के कारण ही है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में यह वचन दिया गया कि देश के सभी नागरिकों के लिए न्याय – सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक – सुनिश्चित किया जायेगा। इस प्रस्तावना में स्वतंत्रता, समानता एवं भाईचारे के मुकाबले न्याय की संकल्पना को प्राथमिकता दी गई और राजनीतिक न्याय के मुकाबले सामाजिक एवं आर्थिक न्याय को ऊपर रखा गया। इसके शब्दों का क्रम यह दर्शाता है कि सामाजिक एवं आर्थिक न्यायों को भारतीय संविधान का मौलिक प्रतिमान माना गया। भारतीय संविधान के निर्माताओं द्वारा अभिकल्पित लोकतांत्रिक समाज एक न्यायसंगत समाज के निर्माण पर ज़ोर देता है।

उदारवादी लोकतंत्र सिर्फ़ उन देशों में पाया जाता था जिनकी अर्थव्यवस्था प्रधान रूप से पूँजीवादी थी। इन समाजों में जो कुछ हुआ उसे 'उदारवाद का लोकतंत्रीकरण' तथा 'लोकतंत्र का उदारीकरण' कहा जा सकता है। आर्थिक न्याय पर ज़ोर ने, जैसा कि उक्त प्रस्तावना में और 'राज्य-नीति के निदेशक तत्त्वों' के विभिन्न प्रावधानों में कहा गया, आर्थिक असमानता की दिशा में उदारवादी लोकतंत्र के पूर्वाग्रह से ही जुड़ने का प्रयास किया। संविधान सभा के सदस्यगण भारतीय समाज के कायांतरण हेतु संविधान द्वारा प्रदत्त लोकतांत्रिक संस्थाओं की अन्त:शक्ति के प्रति आशावान थे। सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने दृढ़तापूर्वक कहा कि आधुनिक संसदीय लोकतंत्र भारतीय समाज की संरचनाओं में एक बुनियादी बदलाव लायेगा। के.एम. पणिकर ने 1955 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'हिन्दू सोसाइटि ऐट क्रॉस रोड' में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि सार्वभौम वयस्क मताधिकार पर आधारित संसदीय लोकतंत्र ने विशेषाधिकारों और असमानताओं पर आधारित सामाजिक संस्थाओं के विध्वंस हेतु आम जनता को डाइनामाइट के साथ प्रस्तुत किया। नागरिक स्वतंत्रताओं के पदार्पण ने मूक जनता को वाग्-वरदान दे दिया। सार्वभौम वयस्क मताधिकार ने मताधिकार प्रयोग के अधिकार को ग़रीबों और अशिक्षितों तक पहुँचा दिया। डबल्यू.एच. मोरी-जोन ने ग़रीबी उन्मूलन और असमानताओं को घटाये जाने हेतु एक सशक्त सरकार की आवश्यकता से इंकार किया। उसने बताया कि अलाभांवितों की श्रेणियों की ओर से मज़बूत दबाव बनाने के लिए उदारवादी लोकतंत्र को पर्याप्त विस्तार देने के बाद ही पश्चिमी यूरोप में ग़रीबी का सबसे महत्त्वपूर्ण ह्रास हुआ। उसका दृढ़ विश्वास था कि लोकतंत्र को अलाभांवितों द्वारा सुस्थापित विशेषाधिकारों एवं चंद लोगों की सत्ता के विरुद्ध एक हथियार के रूप इस्तेमाल किया जा सकता है।

स्वतंत्रताप्राप्ति के समय भारतीय राज्य की बागडोर एक आभिजात्य राजनीतिक वर्ग के हाथ में थी जो कि मुख्य रूप से उच्च जाति के पुरुषों से मिलकर बना था। उनमें ऐसे शहरी अंग्रेजी पढ़े-लिखे ब्राह्मणों का प्रकर्ष भी था जो धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण रखते थे। कांग्रेस पार्टी के हाथ में सरकार ब्रिटिश शासन का उत्तर भाग ही था क्योंकि अंग्रेजों की ही तरह उसने भी सामाजिक व्यवस्था को परिवर्तित नहीं बल्कि रूपान्तरित करने का ही प्रयास किया। अल्प-लाभांवित वर्गों के आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षिक उत्थान को संभव बनाने के लिए भारतीय संसद और कांग्रेस पार्टी द्वारा किये गए प्रयास आमतौर पर प्रतीकात्मक ही रहे। कांग्रेस पार्टी ने विशेषाधिकारप्राप्त लोगों के लिए एक समझौताकारी दृष्टिकोण अपनाया और

राजनीतिक कार्यवाही के लिए समाज के अपेक्षाकृत ग़रीब वर्गों को संगठित करने में कोई ज़्यादा रुचि नहीं दिखाई।

बिहार और उत्तर प्रदेश में पिछड़े वर्ग (यह एक वृहद् वर्ग है जिसमें मध्यवर्गी किसानों के साथ-साथ ग़रीब कृषक वर्ग भी आते हैं) उच्च जातियों के प्रभुत्व वाली कांग्रेस पार्टी के विरोध में 'साठ के दशक से एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक बल के रूप में उभरने शुरू हुए। इन राज्यों में भूमि-सुधार केवल आंशिक रूप से ही सफल रहे। तथापि, उन्होंने उच्च जाति के ज़मींदारों के अधिकारों को गुप्त रूप से क्षति पहुँचाई और पिछड़ी जातियों को लाभ। मझली पिछड़ी जाति के मध्यम व सम्पन्न किसान – यादव, जाट, कुर्मी, गूजर आदि भी हरित क्रांति, समुदाय विकास कार्यक्रमों, पंचायती राज एवं सहकारियों से लाभान्वित हुए। इस नव-अर्जित आर्थिक शक्ति ने उन्हें इसे राजनीतिक सर्वोच्यता में बदल डालने के लिए बेचैन कर दिया। इसकी अभिव्यक्ति बीसवीं सदी के छठे दशक में कई किसानों की पार्टियों के गठन के रूप में हुई। इस अवधि में भारतीय लोकतंत्र के लोकतांत्रिक आधार में विस्तार देखा गया। ज्यों ही राजनीतिक प्रतिस्पर्धा तेज हुई कांग्रेस पार्टी के एक-दलीय प्रभुत्व का एक विकल्प उभरता दिखाई दिया शुरुआत में इस दल ने अपनी पहचान समाजवादियों और समय-समय पर चौधरी चरण सिंह द्वारा शुरू किए विभिन्न राजनैतिक गुटों के साथ बनायी। इन राज्यों में विधानमंडलों में सीटें जीतकर और सरकारी नौकरियों में आरक्षण हेतु दावे ठोंक कर उच्च जातियों का आधिपत्य समाप्त कर स्वयं आने हेतु संघर्ष छेड़े गए। इसी प्रकार का प्रतिमान देश के अनेक दूसरे राज्यों में भी देखा गया; यथा – महाराष्ट्र में मराठा, गुजरात में पटेल, कर्नाटक में वोकलिग्ग व लिंगायत तथा आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी व काम्मा।

4.4 लोकतंत्र एवं सामाजिक परिवर्तन के प्रकटन स्वरूप जन-आन्दोलन

'सत्तर का दशक विकास के एक विशेष चरण को दर्शाता है। इंदिरा गाँधी बैंकों के राष्ट्रीयकरण, प्रीवि-पर्स की समाप्ति तथा बीमा का राष्ट्रीयकरण आदि अनेक कार्यवाहियों की एक श्रृंखला द्वारा राज्य का एक लोकप्रिय आधार मज़बूत करने का प्रयास कर रही थीं। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, ग्रामीण गरीबों एवं कामगारों जैसे विशिष्ट समूहों पर अभिलक्षित नीतियाँ भी इसी उद्देश्य को लेकर बनायी गईं। इंदिरा गाँधी ने ग्रामीण व शहरी ग़रीबों वाली विशाल आम जनता से सीधे-सीधे अपील की, जिनकी दशा आज़ादी के तीन दशक बीत जाने पर भी नहीं सुधरी थी। इस समूह से की गई अपील और 'ग़रीबी हटाओ' का नारा 1971 के आम चुनावों तथा 1972 के विधानसभा चुनावों में इंदिरा गाँधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस पार्टी के लिए चुनावी जीत में बदल गए। 1973 के आरंभ से ही इंदिरा गाँधी का पतन शुरू हो गया। लोगों की उम्मीदें पूरी नहीं हुई थीं। सरकार की नीतियाँ ग्रामीण अथवा शहरी ग़रीबी के मामले में सफलता की ओर पहला कदम बढ़ाने में विफल रही थीं। कांग्रेस पार्टी को लगातार एक ऐसी पार्टी के रूप में देखा जाना खत्म होता जा रहा था जो आमूल-चूल सामाजिक परिवर्तन में रुचि रखती हो, बल्कि उसे अब एक ऐसी पार्टी के रूप में देखा जा रहा था जो असमानता का समर्थन और प्रबलन कर रही थी। देश के सामने मूल्य वृद्धि, औद्योगिक मंदी, मानसून की लगातार नाकामयाबी और बड़े पैमाने पर बेरोज़गारी जैसी असंख्य समस्याएँ थीं। उपद्रव और विरोध-प्रदर्शन आये दिन होते थे। ज़मींदारों द्वारा किए जा रहे दमन के विरोध में ग़रीब किसानों के आन्दोलन देश के विभिन्न

भागों में चल रहे थे। सबसे पहले गुजरात और फिर बिहार ही परिवर्तन हेतु लालायित जन-आन्दोलनों के रंगमंच बने। जयप्रकाश नारायण जिन्हें लोकप्रिय रूप से जे.पी. के नाम से जाना गया, बिहार आन्दोलन के नेतृत्व हेतु राजनीतिक विस्मृति से निकलकर सामने आये और सम्पूर्ण क्रांति हेतु आह्वान किया। बहुत शीघ्र ही आन्दोलन बिहार के बाहर भी फैल गया। इस आन्दोलन को छात्रों, मध्यवर्गों एवं बुद्धिजीवी वर्ग के एक भाग का समर्थन मिला। इसको लगभग उन सभी ग़ैर-वामपंथी पार्टियों को समर्थन मिला जो 1971 के चुनाव में कांग्रेस पार्टी को हटाने में विफल रही थीं। घनश्याम शाह ने इस आन्दोलन को क्रांति मानने से इंकार किया क्योंकि अपनी कार्यसूची में उसने लागू करने के लिए कोई भी क्रांतिकारी विचारधारा, संगठन अथवा संगठनात्मक प्राधार नहीं रखा था।

पिछड़े वर्गों के लिए पच्चीस प्रतिशत आरक्षण लागू करने संबंधी जनता सरकार के प्रयास को उच्च जातियों की ओर से कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। इस मुद्दे ने राज्य भर में पिछड़ी जातियों और उन्नत जातियों को ध्रुवित कर दिया। पिछड़ी जाति आन्दोलन राजपूतों, अनुसूचित जातियों और मुसलमानों के बीच ग़रीब किसानों के साथ गठजोड़ बनाकर राज्य में अधिक मज़बूती से उभरा। इस समूह ने जनता दल को समर्थन दिया, जिसने 1989 में राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस (इं.) को सत्ता से हटा दिया था और 1990 में राज्य विधानसभा में एक मात्र सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी थी। 1989 में केन्द्र और 1990 में अनेक राज्यों में विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व वाले जनता दल द्वारा कांग्रेस (इं.) को शिकस्त दिए जाने ने उत्तरी भारत में संघटन के दीर्घ स्थापित प्रतिमान के विघटन तथा अलाभांवित वर्गों के बीच सहयोग विन्यास का भी संकेत दिया। यह राजपूतों तथा अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न पिछड़ी जातियों, जैसे यादव, जाट व कुर्मी एवं अन्य पिछड़ी जातियों के बीच एकत्रीकरण के कारण ही संभव हुआ था। उन्हें मुसलमानों का भी समर्थन मिला जो कि परम्परागत रूप से कांग्रेस पार्टी का ही वोट बैंक समझे जाते थे।

'नब्बे के दशक में समाज के अलाभांवित वर्ग के बीच एक सहभागितापूर्ण उमंग दिखाई दी। 'सत्तर के दशक से पूर्व शहरी भागीदारी ग्रामीण भागीदारी के मुकाबले अधिक हुआ करती थी। परन्तु अब ग्रामीण भागीदारी शहरी भागीदारी से आगे निकल चुकी थी। बिहार, मध्यप्रदेश व राजस्थान में महिलाओं की भागीदारी में अत्यधिक बढ़ोत्तरी हुई। इस अवधि में जनजातियों की चुनावी भागीदारी में एक सुस्पष्ट चढ़ाव भी दर्ज किया गया। उक्त तीन राज्यों के मुकाबले उत्तर प्रदेश में दलित भागीदारी अधिक है। योगेन्द्र यादव का मत है कि चुनावी भागीदारी में यह लहर भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था पर कोई खतरा उत्पन्न नहीं करती क्योंकि इन भागीदारों के बीच इस प्रणाली को वैधता में व्यापक ह्रास अथवा बढ़ती हताशा का कोई चिंह्न नही है। यह बात एस.पी. हंटिंग्टन के सिद्धांत से मेल नहीं खाती, जो कि पूर्ववर्ती संस्थानीकरण के अभाव में अत्यधिक भागीदारी को क्रांति हेतु, बढ़ती हताशा और लोकतंत्र के संभावित विध्वंस के एक नुस्खे के रूप में देखते हैं।

4.5 ऊँची जातियों के आधिपत्य को पिछड़े वर्गों व दलितों की चुनौती

सार्वभौम वयस्क मताधिकार, आवधिक चुनाव तथा लोकतांत्रिक चेतना के पदार्पण ने उन्नत जाति प्रभुत्व को पहले मध्यम जातियों और फिर दलितों द्वारा चुनौती दिए जाने की ओर प्रवृत्त किया। अन्य-पिछड़ी-जातियों

भागों में चल रहे थे। सबसे पहले गुजरात और फिर बिहार ही परिवर्तन हेतु लालायित जन-आन्दोलनों के रंगमंच बने। जयप्रकाश नारायण जिन्हें लोकप्रिय रूप से जे.पी. के नाम से जाना गया, बिहार आन्दोलन के नेतृत्व हेतु राजनीतिक विस्मृति से निकलकर सामने आये और सम्पूर्ण क्रांति हेतु आह्वान किया। बहुत शीघ्र ही आन्दोलन बिहार के बाहर भी फैल गया। इस आन्दोलन को छात्रों, मध्यवर्गों एवं बुद्धिजीवी वर्ग के एक भाग का समर्थन मिला। इसको लगभग उन सभी ग़ैर-वामपंथी पार्टियों को समर्थन मिला जो 1971 के चुनाव में कांग्रेस पार्टी को हटाने में विफल रही थीं। घनश्याम शाह ने इस आन्दोलन को क्रांति मानने से इंकार किया क्योंकि अपनी कार्यसूची में उसने लागू करने के लिए कोई भी क्रांतिकारी विचारधारा, संगठन अथवा संगठनात्मक प्राधार नहीं रखा था।

पिछड़े वर्गों के लिए पच्चीस प्रतिशत आरक्षण लागू करने संबंधी जनता सरकार के प्रयास को उच्च जातियों की ओर से कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। इस मुद्दे ने राज्य भर में पिछड़ी जातियों और उन्नत जातियों को ध्रुवित कर दिया। पिछड़ी जाति आन्दोलन राजपूतों, अनुसूचित जातियों और मुसलमानों के बीच ग़रीब किसानों के साथ गठजोड़ बनाकर राज्य में अधिक मज़बूती से उभरा। इस समूह ने जनता दल को समर्थन दिया, जिसने 1989 में राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस (इं.) को सत्ता से हटा दिया था और 1990 में राज्य विधानसभा में एक मात्र सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी थी। 1989 में केन्द्र और 1990 में अनेक राज्यों में विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व वाले जनता दल द्वारा कांग्रेस (इं.) को शिकस्त दिए जाने ने उत्तरी भारत में संघटन के दीर्घ स्थापित प्रतिमान के विघटन तथा अलाभांवित वर्गों के बीच सहयोग विन्यास का भी संकेत दिया। यह राजपूतों तथा अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न पिछड़ी जातियों, जैसे यादव, जाट व कुर्मी एवं अन्य पिछड़ी जातियों के बीच एकत्रीकरण के कारण ही संभव हुआ था। उन्हें मुसलमानों का भी समर्थन मिला जो कि परम्परागत रूप से कांग्रेस पार्टी का ही वोट बैंक समझे जाते थे।

'नब्बे के दशक में समाज के अलाभांवित वर्ग के बीच एक सहभागितापूर्ण उमंग दिखाई दी। 'सत्तर के दशक से पूर्व शहरी भागीदारी ग्रामीण भागीदारी के मुकाबले अधिक हुआ करती थी। परन्तु अब ग्रामीण भागीदारी शहरी भागीदारी से आगे निकल चुकी थी। बिहार, मध्यप्रदेश व राजस्थान में महिलाओं की भागीदारी में अत्यधिक बढ़ोत्तरी हुई। इस अवधि में जनजातियों की चुनावी भागीदारी में एक सुस्पष्ट चढ़ाव भी दर्ज किया गया। उक्त तीन राज्यों के मुकाबले उत्तर प्रदेश में दलित भागीदारी अधिक है। योगेन्द्र यादव का मत है कि चुनावी भागीदारी में यह लहर भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था पर कोई खतरा उत्पन्न नहीं करती क्योंकि इन भागीदारों के बीच इस प्रणाली को वैधता में व्यापक ह्रास अथवा बढ़ती हताशा का कोई चिंह्न नही है। यह बात एस.पी. हंटिंग्टन के सिद्धांत से मेल नहीं खाती, जो कि पूर्ववर्ती संस्थानीकरण के अभाव में अत्यधिक भागीदारी को क्रांति हेतु, बढ़ती हताशा और लोकतंत्र के संभावित विध्वंस के एक नुस्खे के रूप में देखते हैं।

4.5 ऊँची जातियों के आधिपत्य को पिछड़े वर्गों व दलितों की चुनौती

सार्वभौम वयस्क मताधिकार, आवधिक चुनाव तथा लोकतांत्रिक चेतना के पदार्पण ने उन्नत जाति प्रभुत्व को पहले मध्यम जातियों और फिर दलितों द्वारा चुनौती दिए जाने की ओर प्रवृत्त किया। अन्य-पिछड़ी-जातियों

तथा दलितों द्वारा सत्ता पर काबिज़ होना जाति-प्रथा के भीतर व्याप्त पदस्थिति एवं आय संबंधी असमानताओं के लिए रामबाण प्रतीत होता है। लालू यादव सत्ता में 'उच्च जातियों को कुचल डालो' (भूरा बाल साफ करो) नारा लेकर आये। इन दलों से आये नेताओं का मुख्य उद्देश्य था – सरकारी पदों को प्राप्त करना। इसी प्रकार, बसपा ने 'मत हमारा राज तुम्हारा, नहीं चलेगा' या फिर 'वोट से लेंगे पी.एम./सी.एम., आरक्षण से एस.पी./डी.एम.' जैसे नारों का प्रयोग किया। उनका सुधारों में कोई विश्वास नहीं है। वे सामाजिक परिवर्तन समाज-सुधारों के माध्यम से लाना चाहते हैं परन्तु राजनीतिक एवं प्रशासनिक सत्ता में भाग लेकर। दलित एवं अन्य पिछड़ी जातियाँ किसी भी तरीके से सहजात मित्र नहीं हैं, सिवाय इस तथ्य के कि ये दोनों ही वर्ग उच्च-जाति प्रभुत्व के शिकार रहे हैं और वे इस प्रभुत्व के ह्रास होने से कुछ पाने की उम्मीद लिए हैं। अपने बीच वे वैर-भाव, संदेह और अविश्वास का संबंध रखते हैं। वेतन/पगार के सवाल पर, तालाबों अथवा कुओं से पानी लेने के सवाल पर या फिर अन्य घिसे-पिटे मामलों को लेकर अन्य-पिछड़ी जातियों से संबंध रखने वाले लोगों द्वारा देश के अनेक भागों में दलितों पर अत्याचारों के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

4.6 राज्य, लोकतंत्र एवं परिवर्तन

उत्तर भारत में, खासकर उत्तर प्रदेश व बिहार राज्यों में सरकारी तंत्र, पुलिस, खण्ड विकास अधिकारी, ग्राम स्तरीय कर्मचारीगण तथा स्थानीय पंचायती राज संस्थाओं के नेतागण ग्रामीण सम्पन्न वर्ग के पक्ष में पूर्वाग्रह ग्रस्त रहे। घनश्याम शाह के अनुसार, वहाँ ग्रामीण सम्पन्न वर्ग और अधिकारी वर्ग के बीच भ्रातृभाव पाया जाता था। ऐसा इसलिए था कि अधिकारी वर्ग का अधिकांश भाग समाज के उसी भाग से आता था। राजनीतिक दलों का नेतृत्व भी समाज के उसी भाग के हाथों में था। राष्ट्रीय संसद और राज्य विधानसभाओं में अधिकतर सांसद और विधायक वे ही भेजते थे। पंचायत नेतृत्व भी समाज के उसी भाग से आने वाले लोगों के हाथों में हुआ करता था। इन सब बातों ने समाज के ग्रामीण विकास हेतु मिलने वाले धन को सुसम्पन्न वर्ग के द्वारा अपनी ओर मोड़ लेने को प्रवृत्त किया क्योंकि उच्च जाति के प्रभुत्व वाली राजनीतिक व्यवस्था, अधिकारी-वर्ग और पंचायती राज संस्था ने ग़रीबों की ज़रूरतों के प्रति आवश्यक रुचि और वचनबद्धता नहीं दर्शायी। पूरी की पूरी तस्वीर अब बदल गयी लगती है।

4.6.1 जाति

अन्य-पिछड़ी-जाति आन्दोलन व दलित आन्दोलन के उदय ने उच्च जाति प्रभुत्व को चुनौती दी है। राष्ट्रीय संसद और राज्य विधानसभाओं का रंग-ढंग सभी वर्गों से सांसदों व विधायकों के आने के साथ ही बदला है। आरक्षण नीति लागू करने की माँग समाज के इन वर्गों से आने वाले बेरोज़गार युवकों के हितार्थ कुछ नौकरियों मात्र के लिए ही नहीं थी बल्कि उनके द्वारा सरकारी धन की सुपुर्दगी में निभाई जाने वाली निर्याणक भूमिका हेतु भी थी। जब मायावती मुख्यमंत्री बनीं तो उन्होंने मुख्य सचिव, मुख्यमंत्री का निजी सचिव जैसे मुख्य पदों पर आसीन उच्च जाति के अधिकारियों के स्थान पर अनुसूचित जाति के अधिकारियों को बैठा दिया। यही बात बिहार में लालू यादव के सत्ता में आते ही हुई, जहाँ उच्च जाति के अधिकारियों के स्थान पर अन्य-पिछड़े वर्गों से ताल्लुक रखने वाले अधिकारियों को लाया गया। 73वें संशोधन द्वारा दिया गया अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं महिलाओं के लिए पंचायती राज

संस्थाओं में सीटों का आरक्षण उन संगठनों के खिलाफ एक प्राचीर के रूप में कायम कर सकता है, जिनका छलयोजन केवल ग्रामीण सम्पन्न लोगों के लाभार्थ ही किया जाता है।

अपने मुख्यमंत्रित्व काल में मायावती द्वारा शुरू किए गए महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों में एक थी – अम्बेडकर ग्राम विकास योजना, जो कि तीस प्रतिशत दलित जनसंख्या वाले 15,000 अम्बेडकर गाँवों को विकास निधि प्रदान करती थी। परन्तु दलित एवं पिछड़ा-वर्ग की अधिकार-माँग प्रस्थिति एवं प्रतिष्ठा पर अधिक ध्यान दे रही है और आर्थिक असमानताओं पर कम। ज्योतिबा फुले, पेरियार/ई.वी. रामास्वामी नायकर, अम्बेडकर व साहू महाराज जैसे ग़ैर-ब्राह्मण नेताओं की मूर्तियाँ लगवाना और हर एक गाँव व कस्बे में अम्बेडकर की प्रतिमाओं की स्थापना का उद्देश्य उच्च जाति के आधिपत्य से लड़ना और दलितों की प्रस्थिति को ऊँचा उठाना ही था। बिहार में राष्ट्रीय जनता दल (रा. ज. द.) सरकार ने इसी तर्ज पर अनेक विश्वविद्यालयों का नाम बदल कर ग़ैर-उच्च जाति के नेताओं के नाम पर रख दिया। परन्तु ये नेतागण संरचनात्मक असमानता की समस्याओं से अपने आपको जोड़ने में विफल रहे हैं। भूमि-सुधार उनकी कार्यसूची में ही नहीं है। वे अपने आप को कमज़ोर वर्ग के आर्थिक एवं इतर-आर्थिक शोषण से भी जोड़ पाने में नाकामयाब रहे हैं। राजद सरकार का अब तक का रिकार्ड तो इस संबंध में और भी बुरा रहा है। वह नक्सलवादी आन्दोलन को पूरी तरह से कानून एवं व्यवस्था की समस्या मानती रही है। यह बात आन्ध्र प्रदेश में पीपल्स वॉर ग्रुप के नेतृत्व वाले आन्दोलन के प्रति तेलुगु देशम्-पार्टी सरकार के दृष्टिकोण के विषय में भी सत्य है। वे यह अनुभव करने में असफल रहे हैं कि उनके द्वारा उठाये गए अधिकतर मुद्दों को बेहतर वेतन, प्रतिष्ठा और भूमि-सुधारों हेतु माँग के रूप में देखा जा सकता है। राज्य आर्थिक न्याय के प्रति अपनी वचनबद्धता से कतरा कर दूर भागता लगता है।

तमिलनाडु में द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम द्वारा अपनाई जाने वाली समंजनकारी राजनीति ने ज्यादा खलबली नहीं मचाई, हालाँकि आरक्षण का स्तर 68 प्रतिशत तक बढ़ा जिसमें अनुसूचित जातियों हेतु 15 प्रतिशत शामिल है। वहाँ की सरकार ने सरकारी नौकरियों में निम्न जातियों से आने वाले लोगों को अवसर प्रदान किए। सरकारी नौकरियों से बहिष्कृत उच्च जातियों के पास रूठने के लिए कोई कारण ही नहीं था क्योंकि उन्हें निजीकृत रूप से स्थापित इंजीनियरिंग एवं मेडिकल कॉलेज चलाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। इन संस्थाओं को छात्रों से वसूल की जाने वाली कैपिटेशन फीस (प्रतिव्यक्ति शुल्क) से चलाया जाता था और ये राज्यीय विश्वविद्यालयों से संबद्ध होती थीं। समाज के कमज़ोर वर्ग हेतु समाज-कल्याण उपायों के साथ जोड़कर इस रणनीति ने भूमि-सम्पन्न उच्च जातियों अथवा व्यापारी वर्गों के हित पर कोई भी खतरा उत्पन्न किए बग़ैर सरकार हेतु समर्थन मज़बूत किया। केरल समस्त जनता की ओर अभिलक्षित जन-नीतियों से लाभांवित हुआ है इस राज्य में जीवन-प्रत्याशा, साक्षरता, और सर्वोपरि दलितों के गौरव में आम सुधार देखा गया है। ऐसा मुख्य रूप से राज्य की सामान्य कल्याणकारी नीतियों के कारण हुआ है। कुल मिलाकर दक्षिण भारत में पिछड़ी जातियों हेतु आरक्षण और समाज-कल्याण कार्यक्रमों पर व्यय ने समंजनकारी नीतियों को कायम रखा गया क्योंकि वहाँ अल्पसंख्यक अलाभांवित जातियों को राजनीति में आने और सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने के अवसर प्रदान कर शहरी मध्यवर्ग में शामिल होने की पेशकश की गई थी।

4.6.2 लिंगभेद

स्वतंत्रताप्राप्ति के समय से ही महिलाओं की सामाजिक प्रस्थिति में नाटकीय परिवर्तन आते रहे हैं।

संविधान में महिलाओं को संपूर्ण समानता देने का वायदा किया गया। पुरुषों की ही भाँति महिलाओं को भी वोट देने का अधिकार मिला। स्वतंत्र भारत के कानून-मंत्री भीमराव अम्बेडकर ने एक विधेयक प्रस्तुत किया जिसमें विवाह-योग्य आयु को बढ़ाया गया, एक-विवाह प्रथा का समर्थन किया गया, महिलाओं को तलाक, भरण-भत्ता एवं उत्तराधिकार का अधिकार दिया गया और दहेज को स्त्रीधन अर्थात् नारी-सम्पत्ति के रूप में माना गया था। इस विधेयक की समाज के रूढ़िवादी वर्ग से कड़ी आलोचना का सामना करना पड़ा था। इसी की वजह से विधेयक को स्थगित करना पड़ा। अन्तोगत्वा इस विधेयक के मुख्य भाग चार भिन्न-भिन्न अधिनियमों में पारित हुए : हिन्दू विवाह अधिनियम, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, हिन्दू अल्पसंख्यक एवं अभिभावकता अधिनियम और हिन्दू दत्तक एवं भरण-भत्ता अधिनियम। हिन्दू महिलाओं के कानूनी अधिकारों का विस्तार पर्याप्त तो नहीं था परन्तु एक साहसिक कदम ज़रूर था। इसको इन्हीं कानूनी अधिकारों को अन्य धार्मिक समुदायों से संबंध रखने वाली महिलाओं को दिए जाते समय सरकार द्वारा सामना किए जाने वाले कड़े विरोध से आंका जा सकता है। 1985 में सर्वोच्च न्यायालय ने एक तलाकशुदा मुस्लिम महिला शाहबानो को एक अल्पवृत्ति प्रदान की तो मुस्लिम समुदाय के बीच रूढ़िवादियों ने मुस्लिम पर्सनल लॉ में हस्तक्षेप के नाम पर इतनी तीव्र उत्तेजना पैदा की कि राजीव गाँधी सरकार ढीली पड़ गई और सर्वोच्च न्यायालय के फैसले को अस्वीकार करने के लिए संसद में एक विधेयक प्रस्तुत कर दिया। कुछ कानूनी अधिकारों का प्रयोग किया गया है जबकि कुछ अभी काग़ज़ों पर ही हैं। वोट देने के अधिकार को ग्रामीण इलाकों तक में गंभीरता से लिया गया है। बहुधा वे 'किसको वोट देना है' विषय पर अपने पतियों से पूछे बग़ैर ही स्वतंत्र निर्णय लेती हैं। 73वें तथा 74वें संविधान संशोधन अधिनियमों ने महिलाओं के लिए शहरी व स्थानीय दोनों ही स्थानीय स्व-शासन संस्थाओं में 33 प्रतिशत सीटों के आरक्षण की व्यवस्था दी है। इसने हमारे राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में लिंगभेद पूर्वाग्रह को दूर करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। परन्तु संसद में सीटें आरक्षित करने के वायदे अभी निभाये नहीं गए हैं। केरल ने महिलाओं के बीच 86 प्रतिशत वयस्क साक्षरता दर प्राप्त कर ली है। केरल के बाद हिमाचल प्रदेश और तमिलनाडु ने नारी साक्षरता में उल्लेखनीय सफलता हासिल की है। 12-14 आयु-वर्ग की ग्रामीण लड़कियों की जनसंख्या जो कभी स्कूल ही नहीं गईं, पूरे भारत में 50 प्रतिशत है; उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, व बिहार में यह दो-तिहाई है और राजस्थान में 82 प्रतिशत तक है।

4.7 उदारीकरण, ग़रीबी और सामाजिक बदलाव

यद्यपि प्रमुख भारतीय राजनीतिक दलों ने सम्प्रदाय के आधार पर, न कि वर्ग के आधार पर, ग़रीबों को संघटित करने की योजना बनाई, इसका मतलब यह नहीं कि भारतीय राजनीति को समझने हेतु आर्थिक विभेदीकरण अब कसौटी नहीं रहा है। केरल और पश्चिम बंगाल को छोड़कर, अनौपचारिक क्षेत्रों में गरीब कृषि-वर्ग, कृषि-श्रमिक, कारीगरों व कामगारों के असंगठित बहुसंख्यक जन केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रायोजित समाज-कल्याण कार्यक्रमों पर निर्भर हो गए हैं। यहाँ तक कि 'ग़रीबी हटाओ' अभियान की पराकाष्ठा तक सत्तर के दशक में शुरू किए गए पुनर्वितरणकारी कार्यक्रम भी प्रतिबद्धता के अभाव में कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं छोड़ सकते। 'नब्बे के दशक में भारतीय राज्य ने उदारीकरण का रास्ता अपनाया। यह अंशत: विदेशी मुद्रा कोष के खाली होने के प्रति अनुक्रिया था और अंशत: विश्व वित्त संस्था, नामत: विश्व बैंक व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, से दबाव के तहत। भारतीय राज्य ने नीति-निर्माण और

शासन चलाने में पश्चिमी वित्त संस्थाओं से पड़ रहे दबाव के चलते घुटने टेक दिए। उदारीकरण मुख्य रूप से उच्च व मध्य वर्गों के लिए लाभकारी है। अनुमानतः चार करोड़ भारतीय ऐसी जीवन-शैली अपनाए हुए हैं जिसकी तुलना उन्नत औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं में उनके प्रतिस्थानियों से ही जा सकती है। अन्य छह करोड़ लोग आरामदेह मध्यवर्गीय जीवन की दहलीज पर ही हैं। इस मध्यवर्ग का प्रचुरोद्भव होने को है क्योंकि सेवा क्षेत्र और सफ़ेदपोश नौकरियाँ प्रचुर मात्रा में उत्पन्न हो रही हैं। एक आशंका यह है कि इससे ग्रामीण व शहरी ग़रीबों की दशा और बिगड़ेगी। भारतीय राज्य विकासार्थ मानवीय आधार बनाने में निष्प्रभावी रहा है। जनसंख्या के एक बड़े हिस्से के लिए बुनियादी शिक्षा, लिंगभेद अधिकार, स्वास्थ्य सुविधाओं व रोज़गार अवसरों का अभाव आर्थिक न्याय के लक्ष्य से मेल नहीं खाता। उपांतिक वर्ग जो संगठित नहीं हैं, अपनी कल्याणकारी वचनबद्धताओं को पूरा करने के लिए राज्य पर दबाव डालने की स्थिति में नहीं हैं।

आर्थिक उदारीकरण के नियोग अलाभांवितों के आर्थिक एवं राजनीतिक हितों के बीच संघर्ष की अपवृद्धि से जाने जाते हैं। उदारीकरण भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (आई.आई.टी.) एवं भारतीय चिकित्सा संस्थान (आई.आई.एम.) व्यवसायियों के लिए व्यवसाय एवं सफ़ेदपोश नौकरियों हेतु रास्ते खोल रहा है। यह उच्च व मध्य वर्ग के हितों से मेल खाता है क्योंकि उदारीकरण पैकेज के हिस्से के रूप में खुल रहे नए व्यापार अवसरों से लाभ उठाने के लिए पूँजी जैसे साधन उन्हीं के पास हैं। इस वर्ग के युवा जन उत्कृष्ट शिक्षा तक पहुँच रखने के कारण बड़ी-बड़ी तनख्वाहों वाले बहु-राष्ट्रीय निगमों में नौकरियाँ पाकर चले जाने की प्रवृत्ति अधिक रखते हैं। निजीकरण और विनिवेशों का प्रचलन हो जाने के कारण सार्वजनिक क्षेत्रों में नौकरियों की संख्या कम से कमतर हो रही है। आरक्षण का लाभ सिर्फ़ सरकारी नौकरियों में ही उपलब्ध है। यही कारण है कि अनेक दलित नेता उदारीकरण को उन्हें आरक्षण लाभ से वंचित किए जाने के षड्यंत्र के रूप में देखते हैं। आर्थिक विकास अब तक भूमिहीन तथा ग्रामीण व शहरी शिक्षितों को लगाने के लिए पर्याप्त नौकरियाँ उत्पन्न करने में विफल रहा है। इन लोगों को अनेक प्रकार के अभाव कष्टों से गुज़रना पड़ता है। कृषि-श्रमिक, थोड़ी सी अथवा एक भी टुकड़ा ज़मीन नहीं रखने वाले उपांतिक व छोटे किसान ही समाज के सर्वाधिक वंचित वर्ग हैं। वे दरिद्रता और शिक्षा, स्वास्थ्य एवं आवासीय सुविधाओं के अभाव से औरों के मुकाबले अधिक ग्रस्त हैं।

4.8 मानव विकास संदर्शिका एवं वास्तविकता

भारत में सामाजिक व आर्थिक विकास पर व्यापक रूप से फैली ग़रीबी, असमानता, सामाजिक अन्याय तथा निकृष्ट जीवन-स्वरूप की मार पड़ी है। आर्थिक विकास व राजनीतिक लोकतंत्र के मोर्चे पर उल्लेखनीय उपलब्धियों के बावज़ूद भारत ने बीसवीं सदी में निम्न प्रतिव्यक्ति आय, असह्य रूप से साक्षरता के निम्न स्तर तथा मानव संसाधन विकास की विश्व संदर्शिका में बहुत ही निम्न स्थिति के साथ प्रवेश किया। ’साठ के दशकारंभ में योजना आयोग ने ग़रीबी की रेखा संबंधी अवधारणा प्रतिपादित की। इस रेखा से नीचे वे लोग थे जिनके उपभोग ही मात्रा, खासकर खाद्यान्न व कैलोरी के हिसाब से एक न्यूनतम स्तर तक भी नहीं थी। 1971 में लगभग उनसठ प्रतिशत जनसंख्या ग़रीबी की रेखा से नीचे रह रही थी। उसके बाद से ग़रीबी में निरंतर गिरावट दर्ज़ की जा रही है। 1994 में यह छत्तीस प्रतिशत रही। स्वतंत्रताप्राप्ति के समय भारत की जनसंख्या के बराबर लगभग तीस लाख लोग अब भी

ग़रीबी की रेखा के नीचे हैं। ग़रीबी के विषय में एक अन्य तथ्य यह है कि यह क्षेत्र-क्षेत्र में भिन्न-भिन्न है। बिहार में भ्रष्टाचार की वजह से, सरकार द्वारा शुरू किए गए ग़रीबी-विरोधी कार्यक्रमों के बावज़ूद लगभग तिरेसठ प्रतिशत लोग ग़रीबी की रेखा से नीचे हैं। ग़रीबी का सबसे बड़ा धक्का ग़रीब किसान, कृषि-श्रमिक और शहरी ग़रीब झेल रहे हैं। ग़रीबी की समस्या प्रत्यक्ष सामाजिक व आर्थिक असमानता के व्याप्त होने से और अधिक जटिल हो गई है। यद्यपि ग़रीब जन और अधिक ग़रीब नहीं हुए हैं, वस्तुतः उन्हें आर्थिक विकास से लाभ ज़रूर मिला है, ग़रीब और अमीर के बीच की खाई चौड़ी हुई है और उदारीकरण के युग में और अधिक चौड़ी होने वाली है। विकास के परिणाम उच्च व मध्यवर्ग द्वारा अनानुपातिक रूप से अपने पक्ष में मोड़ लिए गए हैं और यह प्रक्रिया अब भी जारी है।

1999 में संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम द्वारा संकलित मानव विकास की नवीनतम संदर्शिका में लिए गए 147 देशों में भारत 132 वें स्थान पर था। जन्म के समय जीवन-प्रत्याशा, शिशु मृत्युदर तथा अन्य बातों के बीच साक्षरता को भी इस संदर्शिका को संकलित करते समय ध्यान में रखा गया। औपनिवेशिक काल के रिकार्ड से स्वतंत्रता-उपरांत काल की तुलना करने पर पता चलता है कि भारत की उपलब्धियाँ प्रशंसनीय रही हैं। परन्तु अपने पड़ोसी देशों के साथ भी अगर तुलना की जाए जो हम इन महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के संबंध में बहुत पीछे हैं। 1950 में, जन्म के समय एक भारतीय की जीवन-प्रत्याशा 32 वर्ष थी। 1998 में यह बढ़कर 63 वर्ष हो गई जो कि काफ़ी प्रभावशाली लगता है परन्तु चीन और श्रीलंका में 1997 में यह क्रमशः 69.8 वर्ष और 73.1 वर्ष थी। शिशु मृत्युदर प्रति 1000 जीवित नवजात जो 1941 में 227 थी, 1997 में गिरकर 71 रह गयी थी। तथापि, यह 1997 में चीन 38 और श्रीलंका 17 के अनुसार काफी कम थी। भारत के विषय में एक अन्य दुखद तथ्य यह है कि बहुत सी औरतें बच्चा जनते समय ही मर जाती हैं। भारत में वर्तमान मातृत्व मृत्युदर प्रति सौ हज़ार जीवित नवजात 507 तक है जबकि चीन में 95 और श्रीलंका में 140 है। परन्तु भारत के सामने सबसे बड़ी समस्या है – उच्च रूप से निरक्षरता की परिव्याप्ति। 1952 में लगभग 82 प्रतिशत भारतीय निरक्षर थे। यहाँ तक कि 1997 में ये 38 प्रतिशत तक थे। चीन और श्रीलंका हेतु तुलन-अंक क्रमशः 17.1 और 9.3 प्रतिशत ही थे। इसके अलावा, भारत में साक्षरता के मामले में लिंगभेद अंतर आश्चर्यजनक रूप से लगभग दुगुना था, यथा स्त्रियाँ दूनी संख्या में पुरुषों के मुकाबले निरक्षर थीं।

स्वतंत्रता-पश्चात् भारत में शुरू की गई लोकतांत्रिक प्रक्रिया का एक सुनिश्चित परिणाम यह लगता है कि इससे हाशिये पर के लोग अपनी आवाज़ उठाने में कामयाब हुए हैं। 'नब्बे के दशक-मध्य के आसपास राजनीतिक संगठनों और अलाभांवित वर्गों की चुनावी भागीदारी में उमड़ देखी गई। कांग्रेस पार्टी जो अलाभांवितों को उचित प्रतिनिधित्व देने से मुँह छिपाती थी, देश के अनेक भागों में करारी हार का सामना कर रही है। नई पार्टियों ने प्रतिनिधित्व में असंतुलन ठीक करने का प्रयास किया है। इस लम्बी सामाजिक मंथन प्रक्रिया का सबसे उत्कृष्ट परिणाम रहा है – सरकार में निम्न जातियों के प्रतिनिधित्व में वृद्धि, अधिक विशेष रूप से क्षेत्रीय व स्थानीय स्तर पर। सत्ता-संतुलन उच्च जातियों के हाथों से पिछड़ी व निचली जातियों के पास चला गया है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना है – देश की सत्ता में भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) का उदय, जिसे मध्य व उँच्च वर्गों का समर्थन प्राप्त है। यह सामाजिक प्रखण्ड निम्न जातियों की लोकतांत्रिक लहर से होने वाले लाभों को असत्य घोषित करने की संभावना रखता है। एक हिन्दू राष्ट्र के रूप में भारत के प्रति भाजपा की वचनबद्धता ने धर्मनिरपेक्षवाद को एक विकृति अर्थ प्रदान करते हुए भारतीय राष्ट्रवाद को पुनर्परिभाषित किए जाने की ओर प्रवृत्त किया है।

यह पश्चदर्शी और उच्च-जाति प्रभावित है जो कि अभिजातवर्ग और शिक्षित भारतीयों को बहुत आकर्षक लगती है, जिनके हित को जन-आन्दोलनों और निम्न-जाति अधिकार-माँगों से खतरा है।

4.9 सार-संक्षेप

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि लोकतंत्रीकरण, अधिक मुख्य रूप से सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार, कामोबेश स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव, समाज के अलाभांवित वर्ग के संघटन आदि ने एक उच्च जातियों द्वारा प्रभुत्व स्थापित व्यवस्था को बदल डालने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसने अलाभांवित वर्ग से उत्तरोत्तर अधिक संख्या में प्रतिनिधियों वाली संसद और सरकार के स्वरूप को बदल दिया है। दलित अल्पसंख्यक वर्ग और महिला वर्ग इस बारे में सवाल उठाने लगीं हैं कि उनकी भयानक ग़रीबी के लिए कौन जिम्मेदार है। उनको अपने आन्दोलनों और संगठनों से लाभ मिला है और अपने समर्थन के बदले उन्हें राजनीतिक दलों से लाभ उठाना आया है।

4.10 अभ्यास प्रश्न

1) औपनिवेशिक काल में समाज-सुधार और असमानताएँ किस प्रकार परस्पर जुड़े थे? चर्चा करें।
2) जन-आन्दोलन और सामाजिक परिवर्तन के बीच संबंध पर एक टिप्पणी लिखें।
3) जाति के संदर्भ में भारतीय समाज में परिवर्तनों को स्पष्ट करें।
4) भारतीय समाज में परिवर्तनों पर उदारीकरण के प्रभाव पर एक टिप्पणी लिखें।

इकाई 5 भूमण्डलीकरण तथा सामाजिक आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना

5.2 भूमण्डलीकरण का अर्थ

5.3 भूमण्डलीकरण के प्रभाव

5.4 भूमण्डलीकरण, सामाजिक आन्दोलन तथा विकासशील देश

5.5 भारत में भूमण्डलीकरण एवं सामाजिक आन्दोलन

  5.5.1 कृषक वर्ग

  5.5.2 श्रमिक वर्ग

  5.5.3 मध्यम वर्ग

  5.5.4 महिलाएँ

  5.5.5 संचारतंत्र एवं सहयोग

5.6 सार-संक्षेप

5.7 अभ्यास प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम भूमण्डलीकरण तथा सामाजिक आन्दोलनों के बीच संबंध का अध्ययन करेंगे। भूमण्डलीकरण सभी जगह लोगों के जीवन में गहरा बदलाव लाया है और इसमें सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक दशा को सार्वभौमिक रूप से प्रभावित करने की अपार क्षमता है। भूमण्डलीकरण के आलोचक इसे एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखते हैं जो धन और शक्ति संबंधी विषमताओं को बढ़ा सकती है। उनका मत है कि आर्थिक उदारीकरण दरअसल सभी विकासशील क्षेत्रों में संपन्नों और विपन्नों के बीच खाई को और चौड़ा कर रहा है। भूमण्डलीकरण में कुछ देशों को दूसरों के मुकाबले अधिक सबल बना दिया है। निवेश, पर्यावरण प्रबंधन एवं सामाजिक नीति विषयक नियमों एवं प्रतिमान इन्हीं देशों द्वारा निर्धारित किए जाते हैं क्योंकि उनमें अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को नियंत्रित करने की क्षमता होती है। कम शक्तिशाली देश, अतीत में और भी अधिक, नियमपालक बनते जा रहे हैं। भूमण्डलीकरण के पक्षधर उन अवसरों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं जो उनके सहवर्ती के रूप में देखे जाते हैं। यह एक ऐसी प्रक्रिया की अनुवर्ती है जो विश्ववाद को लागू करते हुए वर्ग प्राधार को बदल सकती थी। भूमण्डलीकरण लोगों की स्वार्थ एवं पहचान संबंधी परिभाषाओं को भी बदल रहा है। यह भी दावा किया जाता है कि इसमें मध्यवर्ग के पक्ष में एक निहित पूर्वाग्रह है और भौतिक अर्थ में यह अल्पलाभांवितों के हितों को नुकसान पहुँचाता है। भूमण्डलीकरण के दौर में पर एक रोज़गार-रहित विकास का दौर होने का आरोप लगाया जाता रहा है। श्रम क्षेत्रों में छँटनी, स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति योजना तथा कार्यबल के नैमित्तिकरण का बोलबाला है। श्रम

सुधार जो भूमण्डलीकरण प्रक्रिया के साथ आते लगते हैं, कम से कम आसन्न अर्थ में तो कामगारों के हितों को नुकसान पहुँचाते ही लगते हैं। मैराकस में हस्ताक्षरित शुल्क दर एवं व्यापार विषयक व्यापक सहमति (गैट) की शर्तों के हिस्से के रूप में भारत समेत विकासशील देशों पर दबाव डाला जा रहा है कि वे किसानों को दिए जाने वाले परिदानों को उनके मान उत्पादन के दस प्रतिशत तक ही रखें। इसने एक एकस्व (पेटेंट) प्रणाली भी शुरू की है। यह घटनाक्रम एक आधारभूत अर्थ में भारतीय कृषि एवं हमारे कृषकों के हित को प्रभावित करने की संभावना रखता है। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया पर्यावरण पर एक बड़ा खतरा भी पैदा करती है, जिसका कारण है – उचित निवेश का वातावरण बनाने के लिए सरकारों के बीच शुरू हो चुकी एक अंधाधुंध दौड़। कई बार इसका अर्थ होता है आर्थिक लाभों को पाने के लिए पर्यावरण सुरक्षा प्रतिमानों में ढील दिया जाना। एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न है – भूमण्डलीकरण महिलाओं के हित को किस प्रकार प्रभावित करता है?

5.2 भूमण्डलीकरण का अर्थ

भूमण्डलीकरण का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है – राज्य-प्रधान केन्द्रीकृत एवं नियोजित आर्थिक विकास के स्थान पर बाज़ार-प्रधान उदारीकृत एवं भूमण्डलीकृत आर्थिक विकास। राज्य के साथ लोगों में अविश्वास प्रतीत होता है तथा उसे सभी बुराइयों के स्रोत के रूप में देखा जाता है, दूसरी ओर बाज़ार को सभी आर्थिक बुराइयों के रामबाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। द्रेज़ एवं सेन का मत है कि बाज़ार का विस्तारण उन साधनों में एक है जो मानवीय क्षमताओं को बढ़ाने में मदद कर सकते हैं, और भारत में विशेष क्षेत्री अभाव को दूर करने की आवश्यकता पड़ने पर वह अवसर को अनदेखा करने के लिए ज़िम्मेदार नहीं होगा। राज्य के प्रभाव एवं भूमिका में कमी आई है। भारत में भी राज्य-केंद्रित विकास दृष्टिकोण की तीखी आलोचना होने लगी है। विकास परियोजनाओं में राज्य और उसके अधिकारीतंत्र को सौंपी गई मुख्य भूमिका ने आम जनता और स्थानीय लोगों की समस्याएँ हल करने में उनकी भागीदारी को बाधित किया है। सूचना प्रौद्योगिकी के विस्तार के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय पूँजी प्रवृत्ति भी राष्ट्र-राज्यों की सीमाओं एवं संप्रभुता के निर्मूल होने में परिणत हुई है। कदम खींचते राज्य द्वारा पैदा यह अभिशून्य भूमण्डलीकरण और सामाजिक आन्दोलनों के बीच संवाद की आवश्यक बनाता है। सामाजिक आन्दोलन एक संदेश स्पष्ट रूप से देने में सफल हुए हैं कि उनकी भागीदार का समर्थन न करने वाला कोई भी विकास प्रतिमान उन्हे स्वीकार्य नहीं होगा। भारत में भूमण्डलीकरण के विषय में शुरुआती संदेह और आशंकाएँ धुंधली पड़ गई लगती हैं। आज भूमण्डलीकरण के पक्ष में अधिक सर्वसम्मति दिखाई पड़ती है। प्रणव वर्धन के अनुसार यह सर्वसम्मति अटल और अनुत्क्रमणीय है। एक तिरस्कृत, अन्तर्मुखी अर्थव्यवस्था आज के समय में कोई विकल्प प्रतीत नहीं होती। ऐसी स्थिति में एक अधिक सत्य-प्रतीयमान विकल्प भूमण्डलीकरण की योजना बनाना ही लगता है। अपने बीच सहयोग एवं संचार-तंत्र के साथ सशक्त सामाजिक आन्दोलन स्थानीय, राष्ट्रीय एवं वैश्विक स्तर पर इस उद्देश्य को लेकर एक लम्बे रास्ते जा सकते हैं।

5.3 भूमण्डलीकरण के प्रभाव

'अस्सी के दशक तक बहुत से विकासशील देश अन्तर्मुखी विकास रणनीतियों का अनुपालन करते थे, राज्य के स्वामित्व वाले उद्योगों पर अत्यधिक विश्वास करते थे और उनकी अर्थव्यवस्थाएँ उच्च रूप से

संरक्षित और नियंत्रित थीं। भारतीय अर्थव्यवस्था इस व्यापक प्रतिमान की कोई अपवाद नहीं थी। 'नब्बे के दशक में देखा गया कि इन देशों ने निजीकरण, उदारीकरण और विनियमन का मार्ग अपना लिया। भारत भी इन देशों में एक था। अंतर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय दोनों ही कारकों के संयोजन ने एक नीति अपनाये जाने हेतु भारत के फैसले को प्रभावित किया जिसे 'नई आर्थिक नीति' के नाम से जाना गया। भारत के सामने विदेशी मुद्रा कोष पर्याप्त नहीं था। देश के पास इस संकट से उबरने के लिए ऋण माँगने विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास जाने के सिवा कोई चारा न था। इन ऋणों को प्राप्त करने के लिए देश को स्थिरीकरण एवं संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम के पैकेज पर राज़ी होना पड़ा। इस पैकेज ने भारत में आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया को काफ़ी ज़रूरी सहारा प्रदान किया। इसने सरकार के भीतर सुधारोन्मुखी अधिकारीतंत्र को अवसर प्रदान किया कि वे अपने दिल में लम्बे समय से संजोयी कार्यसूची को क्रियान्वित करें। आसन्न वित्तीय शक्तिपात ने सरकारी स्तर पर सुधार हेतु संकल्प को मज़बूत कर दिया। सुधारों वाली नीति के प्रति वैचारिक विरोध इस दौर में बेहद कमज़ोर दिखाई दिया। इंग्लैण्ड में मार्गरेट थैचर और अमेरिका में रोनाल्ड रीगन ने जो आर्थिक नीति घोषित की उसे 'राज्य को पीछे धकेलना' (रॉलिंग बैक ऑफ द स्टेट) कहा जाने लगा। एक तरीके से इसने कल्याणकारी राज्य वाले कीन्सवादी आर्थिक प्रतिमान की ह्रासोन्मुखी लोकप्रियता को व्यक्त किया। पूर्व सोवियत संघ के विघटन के रूप में समाजवादी प्रतिमान का पतन और उसके उत्तरवर्ती राज्यों द्वारा विकास का पूँजीवादी मार्ग अपनाये जाने तथा उसके कभी उपाश्रित रहे पूर्वी यूरोपीय राज्यों ने व्यापक राज्य नियंत्रण वाली विचारधारा हेतु वैचारिक अवलम्ब को निष्प्रभावी बना दिया। सुधारोपरांत काल में चीन की आर्थिक सफलता गाथा ने भी उदारीकरण हेतु भारत के संकल्प को मज़बूत किया प्रतीत होता है।

ज़्याँ द्रेज़ एवं अमर्त्य सेन का मत है कि इस दौर में सरकारी नीति अत्यधिक रूप से उत्पादन-विरोधी नियंत्रणों को हटाने से संबद्ध दिखाई पड़ती है। राज्य पहले भी सरकारी गतिविधियों की उपेक्षा करता रहा है और अब भी ऐसा कर ही रहा है। ज़ोया हसन का मत है कि आर्थिक उदारीकरण भौतिक अर्थ में इतर-विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग के हितों को नुकसान पहुँचा सकता है; अतः वर्गों, जातियों, समुदायों, लिंगभेदों एवं क्षेत्रों के बीच अभाव एवं अन्याय की दरारों से पार पाने के लिए कल्पनातीत रणनीतियों की आवश्यकता है। कल्याणकारी लक्ष्यों हेतु राज्य की ओर से वचनबद्धता का अभाव और उपान्तिक वर्गों की दशा के प्रति असंवेदनशीलता देखी गई है। भूमण्डलीकरण-उपरांत दौर में राज्य की सामाजिक प्रतिबद्धता को फिर से अनुस्थापित करने एवं याद दिलाने हेतु सशक्त सामाजिक आन्दोलन की आवश्यकता है।

5.4 भूमण्डलीकरण, सामाजिक आन्दोलन तथा विकासशील देश

भारत में सामाजिक आन्दोलनों ने स्वतंत्रताप्राप्ति के पूर्व भी और पश्चात् भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भूमण्डलीकरण सामाजिक आन्दोलनों के समक्ष नई-नई चुनौतियों को जन्म देता लगता है। भूमण्डलीकरण के समय में दुनिया भर के सामाजिक आन्दोलन, लोकतांत्रिक तथा ग़ैर-लोकतांत्रिक दोनों ही, राज्यों के खिलाफ़ आन्दोलन छेड़कर लोगों की दशाएँ सुधारने में सक्रिय रहे हैं। कुछ आन्दोलनों ने अन्तरराष्ट्रीय संचार-तंत्र तैयार करने के लिए भूमण्डलीकरण द्वारा प्रस्तावित अवसरों का लाभ उठाया है। साथ ही, कुछ आन्दोलन भूमण्डलीकरण के नकारी प्रभावों का मुकाबला करने में जुटे रहे हैं।

चार्ल्स ओमैन का कहना है कि भूमण्डलीकरण के समक्ष चुनौती यह है कि वह सामाजिक संसक्ति को दृढ़ करे, न कि उसे कमज़ोर। यह तभी हो सकता है जब तमाम देशों के भीतर और अन्तर्राष्ट्रीय रूप से समाज के सभी अंग लाभ को आपस में बाँटकर प्रयोग करें और उत्पादन-स्तरों को वहाँ तक उठाकर लाभ महसूस करें जहाँ तक कि भूमण्डलीकरण योगदान दे सकता है। परन्तु समस्या यह है कि विश्व की राजनीतिक अर्थव्यवस्था चंद बहुपक्षीय संस्थाओं द्वारा नियंत्रित की जाती है, खासकर विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, तथा विश्व व्यापार संगठन की तिकड़ी द्वारा। इन सगठनों की नीतियाँ सबसे अमीर उद्योगीकृत देशों द्वारा निर्धारित की जाती हैं, जो कि ग्रुप-7 के सदस्य हैं। ये देश मिलकर 60 प्रतिशत से भी अधिक विश्व आर्थिक उत्पादन तथा 75 प्रतिशत से भी अधिक विश्व व्यापार को नियंत्रित करते हैं। 1992 में दक्षिण आयोग की रिपोर्ट में बताया गया कि जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था विकसित और अधिक उद्योगीकृत हुई, असमानताएँ बढ़ने लगीं। आय, ज्ञान और शक्ति की दरार बढ़ रही थी और जनता के बड़े हिस्सों को अपने जीवन-स्तर में कोई महत्त्वपूर्ण सुधार महसूस नहीं हो रहा था। तीन संगठनों – विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष (IMF) तथा विश्व व्यापार संगठन (WTO) द्वारा आर्थिक प्रबंधन किया जाना विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था और समाज में व्यापक पुनर्गठन का कारण बना है। भूमण्डलीकरण ने एक अर्थ में दक्षिण के देशों हेतु नीति-विकल्पों के परिसीमन का द्योतन किया है। यह उनकी संप्रभुता को भी गुप्त रूप से क्षति पहुँचाता प्रतीत होता है।

बड़ी संख्या में विकासशील देशों के अनुसार भूमण्डलीकरण प्रेरित उच्च-विकास आर्थिक कार्यकलापों ने उनके पर्यावरण पर गंभीर खतरा उत्पन्न किया है और ये कार्यकलाप उनके संसाधनों के तेजी से चुक जाने की ओर प्रवृत्त भी कर सकते हैं। भूमण्डलीकरण ने बेहतर निवेश वातावरण बनाने के लिए विकासशील देशों की सरकारों के बीच एक होड़ पैदा कर दी है। कई बार इसके अर्थ विदेशी निवेश को आकर्षित करने हेतु पर्यावरण सुरक्षा दिशा-निर्देशों में ढील देना भी होता है। यह स्पष्ट है कि पर्यावरण सुरक्षा प्रतिमानों में समझौता उच्च आर्थिक विकास के नाम पर किया जाता है। इस प्रकार के विकास ने चिली के जन्मजात चिरविकसित वन के दोहन की ओर प्रवृत्त किया है, जहाँ मैंग्रोव (एक औषधीय/औद्योगिक महत्त्व का वृक्ष) के पारिस्थितिक तंत्र को बर्बाद कर ऑन्द्यूरा में झींगा मछली उत्पादन का व्यापक विस्तार किया गया। उसने ब्राज़ील की कज़ारा योजना के पैमाने पर खनिजों के निष्कर्षण की ओर भी प्रवृत्त किया। पुनर्नव्य एवं इतर-पुनर्नव्य संसाधनों के इस संपूर्ण दोहन का एक आम उद्देश्य निर्यात आय अर्जित करना ही रहा है।

भारत के अनेक भागों में पर्यावरण प्रदूषण अनर्थकारी आयाम तक पहुँच गया है। दोनों ही प्रमुख नदियाँ – गंगा और यमुना प्रदूषित हो चुकी हैं और प्रदूषण का मुख्य कारण है – इन नदियों में अनौपचारित औद्योगिक कचरे का निपटान। गुजरात में वापी, अंकलेश्वर, नान्देसरी तथा बड़ौदा जैसे स्थानों में कारखानों व उद्योगों से होने वाले प्रदूषण के शिकार लोगों का कहना है कि उनके कपड़ों में छेद हो जाते हैं; नदियों, तालाबों या खुले स्थानों में छोड़े गए प्रदूषित जल को पीकर उनकी भैंसे अथवा हाथी मर जाते हैं; या फिर किसानों की शिकायत है कि प्रदूषण के कारण उनकी फसल बर्बाद हो जाती है। प्रदूषणकारी उद्योगों ने कोई भी ज़िम्मेदारी लेने से इंकार कर दिया।

लैटिन अमेरिका तो उन निगमों और उत्पादन इकाइयों हेतु प्रदूषण आश्रय ही बन गया है जिनको कठोर पर्यावरण प्रतिमानों की वजह से अमेरिका, कनाडा और पश्चिमी यूरोप से बाहर जाने को बाध्य कर दिया

गया था। लैटिन अमेरिका का पर्यावरण संकट साफ़ दर्शाता है कि भूमण्डलीकरण की तर्कसंगति धनी उद्योगीकृत देशों में ही अन्ततः उगाहे जाने वाले लाभों के साथ पारदेशीय पूँजी के प्रभावाधीन ही है। सामाजिक आन्दोलनों को इस बात की अधिक आवश्यकता है कि वे अपनी कार्य-शक्ति विश्वव्यापी असमानता, दक्षिणी देशों में पर्यावरण एवं जीवनयापन की बढ़ती दोषपूर्णता का सामना करने की दिशा में लगाएँ। विश्व-व्यापी स्तर पर प्रतिरोध ही आकृति और प्रकृति की कल्पना करना कठिन है। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण सुरक्षा की आवश्यकता संबंधी विचार-विनिमय करना और भी कठिन है। अधिकतर अन्तरराष्ट्रीय ग़ैर-सरकारी संगठन मुख्य तौर पर राष्ट्रीय एवं उप-राष्ट्रीय स्तर पर ग़रीबी और मानवाधिकार आदि मुद्दों से ही जुड़े हैं।

5.5 भारत में भूमण्डलीकरण एवं सामाजिक आन्दोलन

5.5.1 कृषक वर्ग

भूमण्डलीकरण के भारतीय कृषि के लिए गंभीर परिणाम हो सकते हैं। भारत ने 1994 में मैराकस में शुल्क दर एवं व्यापार विषयक व्यापक सहमति (गैट) समझौते पर हस्ताक्षर किया और विश्व व्यापार संगठन (WTO) का अंग बन गया। गैट (GATT) समझौते के हिस्से के रूप में भारत समेत विकासशील देश इस बाध्यता के अधीन हैं कि आर्थिक परिदानों में कटौती लागू करें और उसे किसानों के मान उत्पादन के 10 प्रतिशत तक ही रखें। परन्तु परिदानों में कटौती किसान समर्थक-वर्ग के कड़े विरोध के कारण व्यवहार्य नहीं लगती। भारत ने तीसरी दुनिया के अन्य देशों के साथ मिलकर उक्त संगठन पर भेदभावपूर्ण व्यवहार करने का आरोप लगाया है, क्योंकि विकसित देश परिदान देना खुद तो जारी रखे हुए हैं और विकासशील देशों पर लगातार दबाव डाल रहे हैं कि परिदान घटायें। किसानों के हित को प्रभावित करती गैट-संबंधी एक अन्य समस्या – कृषि में एकस्व अधिकार (पेटेंटिंग) का लागू होना। पेटेंटिंग के कारण एक किसान को स्वतः अनुमति नहीं है कि उन संरक्षित किस्मों के बीजों को प्रयोग करे जो उसने अगली की बुवाई के लिए बचाए हों। उसे अपने द्वारा बचाए गए बीजों के प्रयोग हेतु हर्जाना भरना होगा या फिर प्रजनक की अनुमति लेनी होगी। चूँकि अधिकांश पादप प्रजनक (Plant breeders) बहु-राष्ट्रीय निगम ही हैं और उनका मुख्य ध्येय लाभ कमाना है, किसानों के पास एकमात्र विकल्प बचता है कि बीजों को फिर से खरीदें। कर्नाटक में किसानों ने एक बहुराष्ट्रीय बीज कम्पनी – कार-गिल सीड्स के फार्म पर हमला कर इस समझौते के खिलाफ़ अपना विरोध दर्ज़ किया। बीज कम्पनियों के खिलाफ़ किसानों के विरोध-प्रदर्शन में ग़ैर-सरकारी संगठन भी उनके साथ शामिल हो गए हैं।

कृषि-क्षेत्र को उदार बनाना और अधिक विवादास्पद लगता है। इस भय का एक मज़बूत आधार है। खाद्यान्न के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य घरेलू मूल्यों से कहीं अधिक हैं। खाद्यान्न मूल्यों में कोई भी बढ़ोत्तरी ग़रीबों की कमर तोड़कर रख देगी। ऐसा करना तात्कालिक सरकार को अत्यधिक अलोकप्रिय बना देगा और शासक दल के चुनावी भविष्य को गंभीर रूप से ख़तरे में डाल देगा। नई आर्थिक नीति और भारत के विश्व व्यापार संगठन में शामिल होने की जानिब 'सम्पन्न किसान आंदोलन' का कुल मिलाकर जवाब अभिन्न नहीं रहा है। देश के पश्चिमी भाग में किसानों के एक प्रमुख नेता – शरद जोशी ने नए विकास का स्वागत किया है। वह उदारीकरण के दौर में किसानों के लिए अवसरों को अनुभव करते हैं। साथ

ही, उत्तर में महेन्द्र सिंह टिकैत और दक्षिण में नांजुंडास्वामी कृषि क्षेत्र पर उदारीकरण के नकारात्मक परिणामों के प्रति आशंकित हैं। कृषि-क्षेत्र में आर्थिक सुधारों का कोई गंभीर विरोध नहीं हुआ है क्योंकि संपन्न किसानों को चीनी, चावल मिलों, खाद्य प्रसंस्करण, पुष्प कृषि एवं बागवानी जैसे कृषि-आधारित उद्योगों में नए निवेश अवसर मिल रहे हैं। 'नब्बे के दशक में भारत ने ताज़े व प्रसंस्करित दोनों ही प्रकार के फलों एवं सब्जियों का निर्यात बढ़ाया। चूँकि चीन उक्त संगठन में शामिल हो गया है और भूमण्डलीकरण के साथ अपने संबंध गहरे कर रहा है, भारत के लिए सबसे बड़ा खतरा यह है कि वह उससे पिछड़ सकता है। इसका अर्थ होगा – भूमण्डलीकरण द्वारा प्रदान किए गए अवसरों को खो देना। कुछ लोगों का कहना है कि किसान आन्दोलनों को भूमण्डलीकरण का विरोध नहीं करना चाहिए। यद्यपि यह सदा हितकारी होगा कि भूमण्डलीकरण के नकारी परिणामों के प्रति सावधान रहे; साथ ही, भारतीय किसानों को यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि भूमण्डलीकरण द्वारा प्रदान किए गए अवसरों से उन्हें लाभ अवश्य पहुँचे।

5.5.2 श्रमिक वर्ग

भूमण्डलीकरण ने श्रमिक-वर्ग आन्दोलन के सामने विशाल चुनौतियाँ रखी हैं। भूमण्डलीकरण की कार्यसूची का एक अहम भाग भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों का निजीकरण करना रहा है, जिसका अर्थ है – बीमार एवं घाटे में चल रहे सार्वजनिक उद्योगों को बंद करना। कर्मचारियों के सामने छँटनी (retrenchment) का संभावित संकट आन खड़ा हुआ है। स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति योजनाओं (वी.आर.एस.) के उदाहरण सामने आते रहे हैं। कर्मचारियों का नैमित्तिकरण एवं अनुबंधीकरण भूमण्डलीकरण के अन्य अनुलग्नक रहे हैं। नियमित कर्मचारियों के स्थान पर अनुबंधित एवं अस्थायी श्रमिक रखने की प्रथा व्याप्त हो चुकी है। कई लोगों का कहना कि आर्थिक सुधारोपरांत काल एक रोज़गार-रहित विकास का काल रहा है। स्थिरीकरण एवं संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम के हिस्से के रूप में अनेक रिक्तियाँ घट गई हैं। 'अस्सी के दशक के मुकाबले 'नब्बे के दशक में संगठित क्षेत्र में कुल रोज़गार वृद्धिदर में उल्लेखनीय गिरावट आयी है। नई आर्थिक नीति के हिस्से के रूप में लघुकरण की नीति शुरू हो चुकी है। इसका अर्थ है – लागत घटाने हेतु उपरिव्ययों को कम करना।

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 छँटनी अथवा संवृति (closure) का काम हाथ में लेने के उद्देश्य से कर्मचारियों पर तर्कसंगत प्रतिबंध लगाता है। उक्त अधिनियम यह शर्त रखता है कि छँटनी अथवा संवृति के मामले में यूनियन को पहले से नोटिस देना होगा। ऐसी स्थिति में यूनियन और प्रबंधन को कर्मचारियों के रोज़गार को बचाने हेतु तरीके और साधन अभिकल्प करने होते हैं। यह स्पष्ट है कि रोज़गार सुरक्षा से संबंधित श्रमिक कानून आर्थिक युक्तियुक्तता के आधार पर बदले जा रहे हैं। पहले से ही यथावत् सुव्यवस्थित ढंग से पूर्ण विकसित सामाजिक सुरक्षा प्रणाली विद्यमान होने के कारण विकसित देशों में कर्मचारियों की संख्या घटाना (downsizing) अपेक्षाकृत कम तकलीफ़देह है। यह बात दुर्भाग्यवश भारत जैसे विकासशील देशों के मामले में नहीं है। तथापि 1992 के आरंभ में बेरोज़गार कर दिए श्रमिक बल को सामाजिक सुरक्षा जाल प्रदान करने के लिए एक राष्ट्रीय नवीकरण कोष बनाया गया था। उदारीकरण ने भी निजी क्षेत्र पर सरकारी नियंत्रण में ढील देने का मंतव्य रखा था जिसके परिणामस्वरूप पूँजी की तुलना में श्रम की सौदाकारी शक्ति घट गई है। राज्य विद्युत् बोर्डों, भारतीय पर्यटन विकास निगम के होटलों, राष्ट्रीयकृत बैंकों आदि में कर्मचारियों के हितों की रक्षा हेतु श्रमिक संघों

द्वारा हड़तालें की गई हैं। नई आर्थिक नीति ने श्रमिक-वर्ग आन्दोलन की कमज़ोरियों को उजागर किया है। श्रमिक-विरोधी सुधार नीतियों का प्रत्युत्तर प्रभावशाली नहीं हो सकता है क्योंकि श्रमिक संघ एक आपसी फूटवाला घर है। कुछ विद्वानों का मत है कि श्रमिक-वर्ग आन्दोलन को निजीकरण का विरोध नहीं करना चाहिए, उन्हें श्रमिकों के हित-संरक्षण पर ध्यान देना चाहिए। आशुतोष वार्ष्णेय के दृष्टिकोण में वृहत्तर निजीकरण कार्यक्रमों को शुरू किया जाना अपेक्षाकृत आसान होगा यदि उसे वृहद स्तरीय छँटनी से अलग कर दिया जाए।

5.5.3 मध्यम वर्ग

नौकरी के मोर्चे पर यह समूची कथा इतनी निराशाजनक नहीं है क्योंकि भूमण्डलीकरण ने तमाम लोगों के लिए ढेरों अवसर भी प्रदान किए हैं। यह बात खासकर उन लोगों के विषय में सत्य है जिनके पास सुविख्यात आई.आई.टी. और आई.आई.एम. संस्थाओं की डिग्रियाँ हैं और जिनकी भारत और विश्व भर में भारी माँग है। इस प्रकार की अग्रणी संस्थाओं से छात्र अश्रुतपूर्व वेतन-पैकेट के साथ निकलते हैं। भारत आई.आई.टी. से स्नातकों के अतिरिक्त हर वर्ष 70,000 से भी अधिक कम्प्यूटर व्यवसायी मथ निकालता है। 1998-99 में भारतीय सॉटवेयर उद्योग ने लगभग 1,60,000 व्यवसायियों को रोज़गार दिया। इस संस्थान ने विश्वव्यापी ख्याति प्राप्त की है। यह कमाल भारत की अत्यंत कुशल तकनीकी जनशक्ति को ऊँचा उठा कर किया गया है। भारत सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विश्व में एक शक्तिशाली खिलाड़ी के रूप में उभरा है। सूचना प्रौद्योगिकी में भारत की उन्नति ने अनेक अमेरिकी और यूरोपीय कम्पनियों को आकर्षित किया है कि अपने पार्श्व-कार्यालयी कारोबार बंगलौर, चेन्नई, पुणे, व गुड़गाँव आदि में स्थापित करें। विदेशी कम्पनियों के पार्श्व-कार्यालयी कार्यकलापों का स्थानांतरण अनेक कारणों से प्रभावित हुआ, जैसे – सस्ते श्रमिकों की प्रचुर आपूर्ति, सस्ता उपग्रह संचार तथा इंटरनेट की सुविधा। जबकि इस विकास ने भारत में अत्यधिक रोज़गार अवसर पैदा किये हैं, विदेशी कम्पनियों द्वारा इसे एक लागत-कटौती व्यवस्था के रूप में प्रयोग किया गया है। इन पार्श्व-कार्यलयी कार्यकलापों में बिल बनाने से लेकर वेतन-चिट्ठा संभालने, वायुयान आरक्षण से लेकर ग्राहक-शिकायत प्रश्नोत्तरी तक के काम शामिल हैं। इन दोनों की तरह की नौकरियों ने, चाहे सुप्रसिद्ध सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र में हों चाहे किसी कॉल सैन्टर में, उच्च मध्यवर्ग तथा शहरी पृष्ठभूमि से आने वाले छात्रों को ये नौकरियाँ मिलने की अधिक गुंजाइश होती है। सरकार की आरक्षण नीति सामाजिक न्याय की धारणा कायम रखने में लगी रही है। यह पाया गया कि आरक्षण के बिना अलाभान्वित वर्ग से आने वाले लोग नौकरियाँ पाने में असमर्थ हैं। अभी तक निजी कम्पनियों और बहुराष्ट्रीय निगम आरक्षण संबंधी को नियम नहीं मानते हैं। अलाभांवित वर्गों के कुछ प्रतिनिधि उदारीकरण को ऐसी कपटपूर्ण युक्ति के रूप में देखते हैं जो समाज के अलाभांवित स्तर को आरक्षण लाभ से वंचित करती है। रामविलास पासवान जैसे अनेक दलित नेताओं और डॉ. मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाली यू.पी.ए. सरकार में सामाजिक न्यायमंत्री मीरा कुमार ने निजी क्षेत्र में भी आरक्षण हेतु अपील की है। कुछ लोगों का मत है कि निजी क्षेत्र में भी आरक्षण की माँग करने के अलावा अलाभांवित वर्ग के इस आन्दोलन को सरकार पर इस बात के लिए दबाव डालना चाहिए कि वह सरकार-नियंत्रित संस्थाओं में शिक्षा की गुणवत्ता सुधारे। कारण, अलाभांवित वर्गों से वाले लोगों के पास समाज के संपन्न वर्गों के लिए खुले आभिजात्य स्कूलों में ऊँचे दामों पर दी जाने वाली उत्कृष्ट शिक्षा प्रदान करने के साधन नहीं होते। अत: नई आर्थिक नीति के पदार्पण ने जनता के एक बड़े हिस्से को हाशिये पर धकेल दिया है, क्योंकि भूमण्डलीकरण द्वारा प्रस्तुत अवसरों से लाभ उठाने के लिए उनके पास

आवश्यक कौशल नहीं है। भूमण्डलीकरण प्रक्रिया द्वारा प्रस्तुत अधिदान में उपान्तिक वर्ग को साझेदार बनाने के लिए उन्हें इस प्रकार के कौशलों को प्रदान किए जाने में भारी निवेश की आवश्यकता है कि वे समाज के विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग से आने वाले उच्चाकांक्षियों से पिछड़ें न। द्रेज़ एवं सेन का मत है कि इस पद्धति में पीछे छोड़ दिए गए लोगों के लिए बुनियादी शिक्षा, स्वास्थ्य रक्षा एवं सामाजिक सुरक्षा के विस्तार किए जाने हेतु ध्यानपूर्वक माँग करने की दिशा में राजनीतिक सक्रियतावाद को सही रास्ते पर लाने के लिए यहाँ विशाल संभावना है।

5.5.4 महिलाएँ

भूमण्डलीकरण को लाभ के लिए उत्पादन हेतु कटिबद्ध एक विचारधारा के रूप में देखा जा सकता है, जो कि महिलाओं, बस्तियों तथा उपांतिक समूहों व समुदायों की सापेक्ष अथवा निरपेक्ष वंचना की ओर प्रवृत्त करता है। प्रतिस्पर्धा और बाज़ार की तात्कालिक आवश्यकताओं को नीतियाँ लागू करने के लिए प्रयोग किया जाता है, जिसका उद्देश्य होता है जनसाधारण तथा भूमण्डल की कीमत पर लाभ कमाना। एंजेला माइल्स का मत है कि दुनिया भर में नारीवादी जन इस लाभ-आधारित बाज़ार व्यवस्था को अस्वीकार करने लगे हैं जो कि पूरी धरती के माल के निजी स्वामित्व हेतु बाध्य करती है और उन्हीं चीजों को मूल्यवान मानती है जो खरीदी जा सकती हैं और बाज़ार में लाभार्थ बेची जा सकती हैं। यह बाज़ार प्रकृति और नारी के काम को मूल्य नहीं देता। विकसित देशों में नारीवादी जन घरों में उनके द्वारा उत्पादित माल और सेवाओं के मूल्य को मान्यता दिए जाने के लिए लड़ रहे हैं। वे ऐसे कार्यों में पुरुषों की समान भागीदारी के लिए भी लड़ रहे हैं। उनकी माँग यह भी है कि बच्चों की देखभाल, स्वास्थ्य एवं शिक्षा-सेवाओं के रूप में महिलाओं द्वारा प्रदत्त सामाजिक समर्थन का मूल्य पहचाना जाए। उत्तरी व दक्षिणी दोनों देशों में सर्वनाशी विकास प्रक्रिया के चलते वे भरण-पोषण के पारंपरिक प्रतिमान एवं क्षमताओं को कायम रखने के लिए संघर्षरत हैं। भूमण्डलीकरण उसकी वाणिज्यीकरण हेतु वचनबद्धता, आधुनिकीकरण, निर्यातोन्मुखी विकास, निजी क्षेत्र पर बढ़ते विश्वास तथा लाभ-प्रेरणग्रस्तता आदि की दृश्यघटना ने भारत में भी महिलाओं के आन्दोलन पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है। भूमण्डलीकरण के युग में संगठित क्षेत्र में महिलाओं के रोजगार में तेजी से गिरावट आयी है। अनौपचारिक क्षेत्र के विस्तार ने महिलाओं को आरक्षित सेना की श्रेणी में ला खड़ा किया है। वे ग़रीबों की पंक्ति में आ गई हैं। गरीबी का यह बढ़ता स्त्रीकरण एक गहन चिन्ता का विषय है। वर्तमान में भी भारत में लगभग दो हजार साल पहले स्थापित पितृसत्तात्मक प्रतिमान अभी तक प्रचलन में हैं। संचार माध्यम और शिक्षा-प्रणाली आज की नारी को जन्मदायिनी और सती-सावित्री पत्नी के आदर्शों वाली स्त्री के रूप में पेश किया जाना जारी है। समाज में महिलाओं की गौण स्थिति सरसरी तौर पर इन बातों से संबलित होती है – लड़कियों के लिंग अनुपात में गिरावट, नारी-विरुद्ध सभी प्रकार की बढ़ती घरेलू हिंसा, दहेज-मृत्युओं में तेजी से उछाल और बढ़ते बलात्कार के मामले। द्रेज़ व सेन का कहना है कि अनेक भिन्न-भिन्न रूपों में दारुण लिंग भेद असमानताओं की स्थिति का बना रहना भारतीय अर्थव्यवस्था का एक सर्वाधिक ध्यानाकर्षक पहलू है और यह सत्ता, निर्णयन् एवं कल्याण में विषमताओं को जन्म देता है। उनका मत है कि भारतीय समाज में महिलाओं का अधीनतास्वीकरण व्याप्त वंचना को घटाने में उनकी प्रभाविता को कम करने की प्रवृत्ति रखता है। बुनियादी शिक्षा और आर्थिक स्वतंत्रता के रूप में महिलाओं का उद्धार अनेक सकारात्मक प्रभाव ला सकता है। केरल इस संबंध में एक ज्वलंत उदाहरण है। नारी-उद्धार का बच्चों की देखभाल पर सीधा प्रभाव पड़ता है और जनन दर पर सुस्पष्ट नियंत्रण लगता है। सामाजिक,

राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन में भागीदारी से महिलाओं की अस्तित्व समाप्ति समग्र समाज को क्षति पहुँचाती है, न कि सिर्फ़ महिला वर्ग को। महिलाएँ बहुधा बुनियादी सामाजिक परिवर्तन हेतु माँग करने और काम करने में सक्रिय रही हैं। आम तौर पर सामाजिक आन्दोलनों और खासतौर पर नारी आन्दोलन को सरकार पर पर्याप्त दबाव डालना चाहिए ताकि नारी-उद्धार हेतु उचित नीतियाँ बनाई जा सकें और लागू की जा सकें।

5.5.5 संचारतंत्र एवं सहयोग

अधिकांश सामाजिक आन्दोलन आम तौर पर अपने संघर्ष विशेष में ही तन्मय रहते हैं। वे 'हमारा आन्दोलन' और 'उनका आन्दोलन' संबंधी मानसिकताओं में ही फँसे रहते हैं। यह अनन्यता उन्हें राज्य द्वारा उन्मुक्त दमन किए जाने के समय नाजुक बना देती है। अपने बीच संचारतंत्र और सहयोग के साथ ये सामाजिक आन्दोलन लोकतांत्रिक सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। संचारतंत्र और सहयोग की आवश्यकता किसी देश के भीतर सामाजिक आन्दोलन तक ही सीमित नहीं है। पर्यावरण आन्दोलनों और विश्व-व्यापार-संगठन विरोधी आन्दोलनों ने भूमण्डलीय संचारतंत्र और सहयोग का प्रमाण प्रस्तुत किया है। आरॉन पोलैक का मत है कि सामाजिक आन्दोलन नवोदारवादी अर्थशास्त्र के प्रति अपने जवाब में विश्वव्यापी होते जा रहे हैं। लोगों के जीवन पर प्रभाव डालती योजनाएँ और नीतियाँ अनन्य रूप से राष्ट्रीय सरकारों के हाथ में नहीं होतीं हैं। कई बार ये योजनाएँ और नीतियाँ विश्व-अभिनेताओं द्वारा लिए गए निर्णयों का सीधा परिणाम होती हैं। यह एक बेहतर कार्यव्यापार के लिए सौदेबाज़ी हेतु विश्वव्यापी स्तर पर सामाजिक आन्दोलनों के बीच संचारतंत्र और सहयोग को आवश्यक बना देता है। संचार क्रांति जो भूमण्डलीकरण के साथ-साथ ही आयी है, ने एक ऐसी स्थिति ला दी है जिसमें विश्व के किसी भी भाग में किसी भी प्रकार का आन्दोलन विश्व-समुदाय का ध्यान आसानी से अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है। इससे कुछ मुद्दों के समर्थन अथवा विरोध में बहुत अच्छी तरह से जनमत तैयार किया जा सकता है।

रोड्रिक अपनी पुस्तक *हैज़ ग्लोबलाइज़ेशन गोन टू फ़ार* (1997) में बताते हैं कि आर्थिक भूमण्डलीकरण सामाजिक विरोध-प्रदर्शन को तीन तरीकों से उत्प्रेरित करता है। प्रथम, विकसित देशों में अकुशल कर्मचारी-वर्ग वृहत्तर पूँजी सुलभता और घरेलू श्रमिक माँग की लोचता में सशंक वृद्धि के परिणामस्वरूप अपने सौदाकारी शक्ति में गिरावट महसूस करता है। कर्मचारियों को अंदेशा है कि पूँजी में द्वितीय विश्वयुद्धोपरांत करार को कायम रखने हेतु एक अल्पकृत प्रोत्साहन है, जिसमें पूँजी ने श्रम-शांति के वायदे की खातिर बदले में उन्हें एक स्थायी निर्वाह-योग्य वेतन दिलवाया था। तदनुसार, अकुशल कर्मचारी भूमण्डलीकरण का विरोध करते हैं क्योंकि अब उनके सामने वेतन-रहित लागतों, श्रम बाज़ार में अस्थिरता, और निम्नतर वेतन व लाभ आदि के विषय में बढ़ी अनिश्चितता का सामना करना पड़ रहा है। दूसरे, विरोध खड़ा हो सकता है क्योंकि भूमण्डलीकरण घरेलू मानदण्डों का महत्त्व कम कर देता है। अधिकांश देश श्रम बाज़ार मानकों एवं स्वीकार्य विपणन प्रथाओं के विषय में भिन्न-भिन्न मानदण्ड अनुमोदित करते हैं। जब विश्व बाज़ार उच्च रूप से सुरक्षित होते हैं तो ये मानकीय अंतर पास-पास होते हैं परन्तु विरले ही एक-दूसरे के विरुद्ध होते हैं। वृहत्तर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एकीकरण के साथ, हालाँकि, ये मानकीय अंतर सीधे टकराते हैं और नागरिकों की तुलना में राज्य दायित्वों के विषय में भिन्न एवं विरोधी विचारों को तीव्र राहत प्रदान करते हैं। जहाँ राष्ट्रीय कानूनी मानदण्डों की कीमत पर वृहत्तर

आर्थिक एकीकरण होता है वहाँ भूमण्डलीकरण प्रक्रियाएँ राजनीतिक विरोध आन्दोलनों को भी प्रेरित किया। तीसरे, विरोध को खतरे में डाल सकती हैं और डालती भी हैं। इसने बाल-श्रमिक विरोध इसलिए भी जन्म लेता है कि कर्मचारीगण कल्याणकारी राज्य को ढाने के लिए भूमण्डलीकरण को दोष देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ उन सामाजिक कार्यक्रमों एवं व्यवस्थाओं को धीरे-धीरे कम करने हेतु दाबानुकूलित करती हैं जिन्होंने अतीत में अस्थिर, अननुमेय एवं अधिक अनवरुद्ध बाज़ारों से आये किन्हीं भी श्रमिक-वर्गों की रक्षा की हो।

भारत में भूमण्डलीकरण के कारण औद्योगिक विकास बढ़ा है जिसने अनौपचारिक क्षेत्र में रोज़गार प्रदान किया है। अत: कर्मचारी-वर्ग विखण्डित हो जाता है और वे सुरक्षा और काम के लिए आपस में संघर्ष करते हैं। इस प्रकार यह संगठित संघर्षों पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। जिन्हें हम जानते हैं वो स्थानीय श्रमिक-वर्ग आन्दोलन ही हैं।

मानवाधिकारों हेतु सक्रियतावादियों के अभिवर्धित अन्तर्राष्ट्रीय तंत्र के कारण पारदेशीय सामूहिक कार्यकलाप बढ़ा है। नर्मदा बचाओ आन्दोलन तथा गुजरात साम्प्रदायिक हिंसा के विरुद्ध अंतर्राष्ट्रीय दबाव कुछ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं।

5.6 सार-संक्षेप

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि भूमण्डलीकरण के पीछे हटने (रॉल बैक होने) का कोई प्रत्यक्ष उचित विकल्प नहीं लगता क्योंकि राजनीतिक दलों और बुद्धिजीवी वर्ग दोनों के ही बीच इसके पक्ष में आजकल एक जबरदस्त सहमति है। भूमण्डलीकरण पुरानी असमानताओं को जारी रखता लगता है और नई प्रकार की असमानताओं को जन्म देता लगता भी। यही कारण है कि एक चीज़ की आवश्यकता है जिसे भूमण्डलीकरण की परिकल्पना कहा जाता है। समृद्धि और अवसर जो पैदा हों उनसे समाज के हर वर्ग को लाभ पहुँचना चाहिए। सरकारी नीतियों का लक्ष्य दलितों व महिलाओं जैसे अलाभांवित वर्गों को शिक्षा एवं अन्य तकनीकी कौशल प्रदान करना होना चाहिए ताकि वे भी प्रगति में भागीदारी का भाव जगा सकें। आज के प्रसंग में सशक्त सामाजिक आन्दोलनों की गहरी आवश्यकता है, विशेष रूप से इसलिए कि राज्य अब कदम खींचता लगता है। राष्ट्रीय एवं वैश्विक स्तर दोनों पर सामाजिक आन्दोलनों के बीच सहयोग और संचारतंत्र की आवश्यकता है ताकि सतत और साम्यिक विकास सुनिश्चित हो। यह सुनिश्चित करना भी आवश्यक है कि विकास जनता के अधिकारों एवं आज़ादी की कीमत पर न हो।

5.7 अभ्यास प्रश्न

1) भूमण्डलीकरण के विभिन्न अभिलक्षणों की पहचान करें।

2) भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों पर भूमण्डलीकरण के प्रभाव विषयक चर्चा करें।

3) सामाजिक आन्दोलनों का संबंध आप भूमण्डलीकरण के प्रभाव से किस प्रकार स्थापित करेंगे?

इकाई 6 राज्य, बाज़ार और सामाजिक आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना

6.2 भारतीय राज्य की बदलती प्रस्थिति

6.2.1 स्वातंत्र्योत्तर काल में राज्य

6.2.2 भारतीय राज्य पर चर्चा

6.3 बाज़ार की बदलती स्थिति

6.4 नए प्रसंग में राज्य और बाज़ार

6.5 राज्य, बाजार और सामाजिक आन्दोलनों का प्रासंगीकरण

6.6 सार-संक्षेप

6.7 अभ्यास प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

इस पाठ्यक्रम की विभिन्न इकाइयों में आप विभिन्न जनसमुदायों की सामूहिक कार्रवाइयों अथवा सामाजिक आन्दोलनों का अध्ययन करेंगे, यथा – कृषि वर्ग, श्रमिक वर्ग, महिलाएँ, दलित जन, अन्य-पिछड़ा वर्ग, पर्यावरण एवं पारिस्थितिक समूह, आदि, जिन्होंने भारत में काफी प्रमुखता हासिल कर ली है, खासकर बीसवीं शताब्दी के गत तीन दशकों से, हालाँकि इस प्रकार के आन्दोलन पहले भी हुआ करते थे। विभिन्न देशों के समाज व अर्थव्यवस्था में बदलावों के साथ, सामूहिक कार्रवाई का सहारा लेने वाले सामाजिक समूहों की संख्या बढ़ रही है। उनका उदय भूमण्डलीकरण के नवीनतम दौर के राज्य और बाज़ार की बदलती स्थितियों के साथ ही हुआ है। इस घटनाक्रम ने राज्य बाज़ार और सामाजिक आन्दोलनों के बीच संबंधों के विषय में शैक्षिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में बहस को ही बढ़ावा दिया है। इन्होंने राज्य और बाज़ार की प्रकृति एवं भूमिकाओं में एक परिवर्तन विषयक बहस को भी जन्म दिया है। यह बहस इन प्रश्नों को उठाती है : क्या सामाजिक आन्दोलनों की प्रकृति बदल गई है, या फिर बाज़ार के विस्तार के साथ-साथ बदल रही है? किस प्रकार के नए सामाजिक आन्दोलन उभर रहे हैं? क्या राज्य कमज़ोर पड़ गया है और सामाजिक बदलाव हेतु अपनी ज़िम्मेदारी से पीछे हट रहा है? क्या बाज़ार शक्तियाँ हावी रहती हैं और राज्य पर शासन करती हैं? क्या सामाजिक वर्ग संगठित करने और छा जाने वाली अपनी क्षमता में विखण्डित और अबद्ध होते जा रहे हैं? क्या बाज़ार के उदय के होते ही सामाजिक आन्दोलनों का वर्ग-आधार पतन हो गया है? आदि। प्रस्तुत इकाई राज्य, बाज़ार एवं सामाजिक आन्दोलनों के बीच संबंध को स्पष्ट करने का प्रयास करती है।

6.2 भारतीय राज्य की बदलती प्रस्थिति

6.2.1 स्वातंत्र्योत्तर काल में राज्य

स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत में राज्य का गतिमार्ग, बाज़ार एवं सामाजिक आन्दोलनों से उसके संबंध को समझने के उद्‌देश्य से दो चरणों में बाँटा जा सकता है। ये हैं – 'नब्बे के दशक और 'नब्बे के दशकोत्तर के चरण; उदारीकरण के वर्तमान स्वरूप से पहले का दौर और उसका सम्पाती दौर। इस प्रकार का सीमांकन उनके बीच संबंध को समझने में मददगार होगा, खासकर इसलिए कि राज्य और बाज़ार की तुलनात्मक कमज़ोरी, शक्ति, प्रासंगिकता अथवा अप्रासंगिकता विषयक मुद्‌दा उदारीकरण के नए दौर के आगमन के साथ ही अधिक प्रभावशाली हो गया है, यथा 'सत्तर के दशक से। 'नब्बे के दशक-पूर्व चरण को और भी उपविभाजित किया जा सकता है, यथा विकास के 'पचास के दशक एवं 'साठ के दशक-मध्य वाले नेहरू-महालैनोबिज़ मॉडल द्वारा पहचानप्राप्त राज्य के प्रभुत्व अथवा स्वायत्तता वाले युग, और 'साठ के दशकांत एवं अस्सी के दशक के बीच का दौर। स्वतंत्रता-पश्चात् प्रथम दो दशकों के दौरान राज्य को स्वातंत्र्योत्तर विकास प्रतिमान में एक प्रमुख स्थान दिया गया। राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियाँ जो उस समय विद्यमान थीं, ने ही राज्य को ऐसी स्थिति से समझौता करने को मज़बूर कर दिया। देश का भारत और पाकिस्तान में विभाजन, तदोपरांत साम्प्रदायिक दंगे, विभाजन-उपरांत शरणार्थियों का अंतर्वाह, भारतीय संघ में 565 राजसी राज्यों का विलय, विश्व का दो वैचारिक रूप से भिन्न गुटों में बँट जाना – अमेरिका और रूस, जिन्हें शीतयुद्ध में लिप्त माना जाता था, आदि ही वो परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने राष्ट्रीय नेतृत्व को प्रेरित किया कि ऐसा विकास प्रतिमान अपनाया जाए कि जिसमें राज्य को एक प्रमुख स्थान मिले। तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और विकास-अर्थशास्त्री पी०सी० महालैनोबिस की पहलकारी पर आधारित यह प्रतिमान जो राज्य को प्रमुखता देता था; विकास का नेहरू-महालैनोबिस मॉडल कहलाया। इसने विविध क्षेत्रीय, आर्थिक, सांस्कृतिक व धार्मिक समूहों की एकता को दर्शाते हुए भारत को एक सशक्त "राष्ट्र-राज्य" बनाने का प्रयास किया। बाज़ार से अपेक्षा की गई कि अपने अस्तित्व के लिए वह राज्य पर निर्भर करे; उसे नियम-पाबंदियों के अधीन होना पड़ा और लाइसेंसों के माध्यम से राज्य की अनुमति अनिवार्य हो गई। इसने राज्य संस्थाओं को प्रमुखता दी, विशेष रूप से अधिकारी-वर्ग अर्थात् दतरशाही को, जिसको "स्थायी सरकार" अथवा "स्टील फ्रेम", राज्य नियोजन, मिश्रित अर्थव्यवस्था, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में गुट निरपेक्षता आदि रूपों में जाना गया। इस मॉडल ने कल्पना की कि वह देश के समग्र विकास की ओर ले जाएगा, सामाजिक मतभेदों – जाति, धर्म, भाषा, प्रजाति, क्षेत्र, और आर्थिक विषमता पर आधारित भेदभाव और पदानुक्रम को समाप्त करेगा (आर्थिक विकास का संवर्धन करेगा, ग़रीबी हटायेगा, आदि)। समष्टि अर्थशास्त्र में इसने कृषि अथवा ग्रामीण क्षेत्र की बजाय उद्योग को प्राथमिकता दी। तथापि, राज्य ने अनेक ऐसे कदम उठाये जिन्होंने विभिन्न वर्गों एवं समूहों को प्रभावित किया; इन समूहों ने आने वाले दशकों में सामूहिक कार्रवाइयों में भाग लिया। विभिन्न राज्यों में सरकार द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि-सुधार – ज़मीदारी प्रथा का उन्मूलन और किसानों/ हरवाहों को ज़मीन का मालिक बनाना, कृषि विस्तार योजनाएँ, सामुदायिक विकास कार्यक्रम आदि अनेक कल्याणकारी कदम उठाये गए। यद्यपि ये योजनाएँ पूरी तरह सफल नहीं रहीं, उन्होंने विभिन्न रूप से उनकी दशाओं को सुधारा ज़रूर। ग्रामीण अर्थव्यवस्था में राज्य का सबसे सशक्त

और प्रभावशाली हस्तक्षेप 'साठ के दशक में देश के चुनिंदा क्षेत्रों में हरित क्रांति, एच.वाई.वी. (बीजों की उच्च-उत्पादन किस्में), उर्वरकों व निवेशों, बीजों, मशीनीकरण आदि के माध्यम से रहा।

'साठ के दशकांत से लेकर 'अस्सी के दशक की अवधि में सरकारी तंत्र का नि:संस्थानीकरण (deinstitutionalisation) तथा वैयक्तिकरण (personalisation) देखा गया, विशेषत: इंदिरा गांधी के शासनकाल में। कुछ रुकावट के साथ यह दौर 'अस्सी के दशक तक चला। इसमें शामिल रहे – आपातकाल क़ी अवधि, केन्द्र में चार से भी अधिक वर्षों तक विभिन्न ग़ैर-कांग्रेसी राजनीतिक संगठनों द्वारा शासन, यथा– जनता पार्टी, जनता दल सरकार और चरण सिंह व चन्द्रशेखर के नेतृत्व वाली सरकारें। राज्य संस्था का पतन जो इंदिरा गाँधी के शासन काल में शुरू हुआ बाद के शासन कालों में भी जारी रहा।

'नब्बे के दशक से उदारीकरण के दौर में, राज्य प्राधिकार में गिरावट देखी गई जो कि 1991 में नरसिम्हा राव सरकार द्वारा शुरू किए गए सैप (संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम – SAP) के लागू होने के बाद आयी। इस दौर की पहचान रही – बाज़ार शक्तियों, नागरिक समाज संगठनों का समांतर उदय जिन्होंने राज्य के एकाधिकार को क्षति पहुँचाई है।

6.2.2 भारतीय राज्य पर चर्चा

भारतीय राज्य – उसकी प्रकृति, स्वायत्तता एवं क्षमता के विश्लेषणार्थ दो दृष्टिकोण अपनाये गए हैं। ये हैं: मार्क्सवादी और ग़ैर-मार्क्सवादी। परवर्ती को फिर से उपविभाजित किया जा सकता है, यथा – विकास/ आधुनिकीकरण/ व्यवस्थित और नव-उदारवादी पहलू। मार्क्सवादी पहलू शिक्षाशास्त्रियों और विभिन्न साम्यवादी दलों द्वारा अपनाया जाता है। ग़ैर-मार्क्सवादी पहलू में आते हैं – विकासवादी/ आधुनिकतावादी/ व्यवहारवादी, यथा रजनी कोठारी व मोरिस जॉन्स, एल.आई. रुडोल्फ व एस.एच. रुडोल्फ, तथा नव-उदारवादी, यथा पी.एन. भगवती, श्रीनिवासन, पदमा देसाई, वी.के. रामास्वामी व बी. आर. शिनॉय। विकासवादी शिक्षाशास्त्री राज्य के स्थान पर राजनीतिक व्यवस्था शब्द प्रयोग करते हैं। वैसे अपनी बाद की पुस्तकों में रजनी कोठारी ने राज्य का ही प्रयोग किया, न कि राजनीतिक व्यवस्था का। जबकि मार्क्सवादी भारतीय राज्य को एक धनी वर्गों यथा ज़मींदार वर्ग, बुर्जुवा वर्ग/ सामन्ती वर्ग, एवं विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का प्रतिनिधि मानते हैं, नव-उदारवादी जन इसे अक्षम पाते हैं। मार्क्सवादियों का ज़ोर इसके वर्ग अभिलक्षण को समझने पर है। नव-उदारवादी राज्य को अक्षम/ नौकरशाही परस्त/ शासनोन्मुखी पाते हैं जो पूर्व-1991 चरण (वर्तमान उदारीकरण का दौर) में विकास और प्रगति के लिए अहितकर रहा। भारतीय राज्य संबंधी उनकी आलोचना उसके दो अभिलक्षणों पर ध्यान केन्द्रित करती है – विकास नियोजन एवं राज्य हस्तक्षेप। राज्य के नवोदारवादी आलोचकों के अनुसार, भारतीय राज्य स्वातंत्र्योत्तर काल में अपने अस्तित्व के रहते न तो विकास लाने में समर्थ रहा है और न ही ग़रीबी हटाने में। पूर्व-उदारीकरण अवस्था (पूर्व-1991) को भगवती जैसे नवोदारवादियों द्वारा 'धीमी विकास दर व प्रतिव्यक्ति आय' के रूप में देखा गया और भारत की अपनी 'निजी आकांक्षाओं के संबंध में उसके 'कमज़ोर कार्यनिष्पादन' के रूप में। नव-उदारवादियों ने भारत के कार्यनिष्पादन को पूर्व एशियाई देशों के कार्यनिष्पादन के मुकाबले निकृष्ट आंका। उनका कहना है कि भारत का कार्यनिष्पादन पूर्व चरण के मुकाबले उदारीकरण-उपरांत काल में सुधरा। ऐसा एक तो उस सुस्पष्ट

भूमिका के कारण हुआ है जो कि बाज़ार निभाने आया है, दूसरे राज्य के प्रभुत्व में कमी के कारण। तथापि, उनमें से कुछ का मानना है कि राज्य हस्तक्षेप परंपरागत कृषि के कायापलट में सफल रहा है। परन्तु 'साठ व 'सत्तर के दशकों में भारतीय उद्योग में स्थिरता रही। मार्क्सवादी विद्वान नियोजन, राज्य हस्तक्षेप और पूर्व-उदारीकरण काल में राज्य के निराशाजनक कार्यनिष्पादन संबंधी नव-उदारवादी आलोचना को विश्वासोत्पादक नहीं मानते हैं। वे नव-उदारवादियों के तर्कों का हर दृष्टिकोण से खण्डन करते हैं। मार्क्सवादी पहलू के प्रतिनिधि हैं – टी.जे. बायर्स, प्रभात पटनायक तथा अमिय कुमार बागची। दीपक नय्यर का कहना है कि भगवती जैसे नवोदारवादियों के तर्क के विपरीत, उदावादी चरण से पूर्व, यानी 'सत्तर के दशकोत्तर और 'अस्सी के दशक में उद्योग का पुनरुथान हुआ। मार्क्सवादी, तथापि, नियोजित अर्थव्यवस्था और नेहरू-महालैनोबिस मॉडल की आलोचना करने के लिए अपने ही तर्क देते हैं। नव-उदारवादियों से भिन्न, वे नियोजन और राज्य हस्तक्षेप के योगदान को अनदेखा नहीं करते; वे नियोजन और हस्तक्षेपवादी राज्य को पूर्ण रूप से खारिज नहीं करते जो कि "एक अप्रशमित आर्थिक विपत्ति" ("an unmitigated economic disaster") के लिए ज़िम्मेदार है। उदारीकरण ग़रीबी को कम नहीं कर पाया है; बल्कि उसने इसे बढ़ाया ही है। टी.जे. बायर्स, नवोदारवादियों से भिन्न जो पूर्व-1991 युग में जनसाधारण की आर्थिक दशाओं में कोई सुधार नहीं पाते, कहते हैं कि एक ऐसा भी काल था जिसमें आर्थिक विकास और ग़रीबी की घटनाएँ देखी गईं, यथा 'सत्तर का दशक-मध्य और 'अस्सी का दशक। उदारीकरण के दौर में विकास नियोजन को उनके द्वारा अब भी प्रासंगिक माना जाता है।

तथापि, स्थूल रूप से ग़ैर-मार्क्सवादी पहलू अपनाते हुए, एल.आई. रुडोल्फ और एस.एच. रुडोल्फ अपनी पुस्तक इन परस्युट ऑफ़ लक्ष्मी : द पॅलिटिकॅल इकॉन्मी ऑफ़ दि इण्डियन स्टेट में भारतीय राज्य को भारतीय राजनीति के संदर्भ में दर्शाते हैं। उनका तर्क है कि भारत में राजनीति कोई वर्ग-राजनीति (class politics) नहीं है; यह केन्द्रवादी राजनीति (centrist politics) है। राज्य निजी पूँजी और संगठित क्षेत्र के बीच तीसरे कारक के रूप में स्वीकृत किया जाता है। चूँकि संगठित श्रमिक असंगठित श्रमिकों की तुलना में श्रमिक जनसंख्या का बहुत छोटा अनुपात ही बनाते हैं, भारत में वर्ग-राजनीति का अभाव है। यही केन्द्रवादी राजनीति है। एक तीसरे कारक के रूप में, राज्य श्रमिक और पूँजी के बीच एक स्वायत्त निकाय के रूप में समझौता करता है। रुडोल्फ-रुडोल्फ यह भी दर्शाते हैं कि भारतीय राज्य ने "समाजवादी राज्य" के रूप में सार्वजनिक क्षेत्र और राज्य नियोजन के अनुशीलन में "समाजवाद" का आह्वान किया। बायर्स इसे "खोखला राजनीतिक शब्दाडम्बर" की संज्ञा देते हैं। रुडोल्फ-रुडोल्फ के अनुसार, राज्य दो प्रकार की राजनीति से जुड़ा है – माँग राजनीति (demand politics) और आदेश राजनीति (command politics)। पूर्ववर्ती में, माँग समूहों को नेतृत्व, विचारधारा और सामूहिक कल्याण की अभिव्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है ताकि वे सामूहिक कार्रवाई में भाग ले सकें। यही सामूहिक कार्रवाइयाँ सामाजिक आन्दोलन कहलाता हैं। दूसरी ओर, आदेश राजनीति में, राज्य एक तीसरे कारण के रूप में "न सिर्फ़ व्यवस्था, न्याय व सुरक्षा प्रदान करता है, सामाजिक हित और लाभों में वृद्धि करता है, और सामाजिक व्यय घटाता व हटाता है, अपितु नानाविध कूटनीतिक अखाड़ों एवं ऐतिहासिक प्रसंगों में स्वयं-निर्धारक बनाने के लिए यथेष्ठ संसाधनों को सीधे-सीधे प्रयोग करने की स्थिति में भी होता है"।

उन विद्वानों ने जिन्होंने विकास/आधुनिकीकरण दृष्टिकोण अपनाया, विभिन्न देशों, खासकर अनौपनिवेशीकृत/विकासशील/तीसरी दुनिया के देशों की राज्य-व्यवस्था के अध्ययनार्थ राज्य की अवधारणा का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने विद्यमान व्यवस्था की संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं को समझने का प्रयास किया। इन विद्वानों

का मुख्य तर्क यह था कि राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न घटक एक दूसरे के साथ संघर्ष एवं समंजन करते हैं और इस प्रक्रिया में उक्त व्यवस्था लचीली बनी रहती है और स्वयं को कायम रखती है। राजनीतिक अभिजात्यों को राजनीति में परिसीमित करने और तदनुसार आम जनता की उपेक्षा करने के लिए इस प्रकार की आलोचना की गई है। इसके अलावा, इसने राजनीति को उसकी ऐतिहासिक विरासत और साम्राज्यवादी ताकतों से जोड़ने के प्रयास नहीं किए। तथापि, 'सत्तर के दशक तक, थेडा स्कोक्पोल की *ब्रिंगिंग द स्टेट बैंक* इन के साथ ही राज्य के अध्ययन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। यहाँ तक कि रजनी कोठारी ने भी अपनी बाद की पुस्तकों में 'राज्य' का प्रयोग किया, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है – *स्टेट अगेन्स्ट द पीपॅल*।

6.3 बाज़ार की बदलती स्थिति

जैसा कि हमने पिछले पाठांश में पढ़ा पूर्व-उदारीकरण दौर में राज्य के मुकाबले नीति प्रतिपादन में बाज़ार को दूसरा दर्ज़ा दिया गया था। बाज़ार को न सिर्फ़ निकासी (clearance), लाइसेंन्स अथवा इंस्पेक्टर राज में अपना काम करने के लिए राज्य नेतृत्व व अधिकार-वर्ग पर निर्भर करना पड़ता था, बल्कि समाज के विभिन्न वर्गों के लिए उठाये जाने वाले कदमों में भी उसकी कोई अहम भूमिका नहीं होती थी। इसके अलावा, बाज़ार को भ्रष्टाचार – पारदर्शिता का अभाव, लालफीताशाही, आदि का सामना करना पड़ता था। इनको आम तौर पर राज्य की विफलता माना जाता था। इसने लोकतंत्रीकरण, प्रशासन और विकास की प्रक्रिया में राज्य की भूमिका को प्रमुखता दी। विकास और लोकतंत्र लाने के लिए एक अभिकर्त्ता के रूप में राज्य के किसी विकल्प हेतु खोज शुरू हो गई। विद्वानों व राजनीतिज्ञों के वर्ग का तर्क है कि राज्य का विकल्प बाज़ार में तलाशा जा सकता था। परन्तु, इसके साथ ही, विकल्प रूप में बाज़ार को लाने का तीखा विरोध भी हुआ।

पूरी दुनिया में यह एक आम प्रवृत्ति थी। नव-उदारवादी विचारधारा को लेकर और विश्व बैंक, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, आदि संस्थाओं के माध्यम से पश्चिमी देशों ने अग्रणी भूमिका निभाई। इसका प्रयोजन इन विचारों को फैलाने के लिए था कि तीसरी दुनिया की समस्याओं का समाधान मिल जाएगा यदि राज्य इन देशों में "पीछे सिकुड़ जाए" या अपने आपको "रॉल बैक" कर ले। अथवा अल्पतम राज्य बन जाये और यहाँ संरचनात्मक सुधार भी लागू हो जायें। इसमें बाज़ार को बढ़ावा दिया गया जो कि आर्थिक सुधार कार्यक्रम से जुड़ा है, जिसे लोकप्रिय रूप से भूमण्डलीकरण अथवा संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम कहा जाता है। यह तीसरी दुनिया के देशों के लिए उपयुक्त रहा है। ये देश सभी पहलुओं में विशाल समस्याओं से घिरे रहे हैं और "शासन संकट" यथा हिंसा, भ्रष्टाचार, पारदर्शिता का अभाव, और वित्तीय अस्थिरता एवं असुरक्षा। भारत के उदाहरण में, 'अस्सी के दशक तक वित्तीय समस्या, मुख्य रूप से भुगतान-शेष, बहुत विकट हो गयी थी। इसका समाधान अन्तरराष्ट्रीय दाता एजेन्सियों से ऋण लिए जाने में खोजा जाना था। परन्तु वे उधार तभी दे सकते थे जब उनकी शर्तें मान ली जातीं। इस शर्तबद्धता के ही परिणामस्वरूप भारत सरकार को संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम लागू करना पड़ा जिसको नाम दिया गया – उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण।

भारत में भूमण्डलीकरण अथवा बाज़ार को प्रोत्साहन का वर्तमान दौर 1991 में पी.वी. नरसिम्हा राव के नेतृत्व वाली सरकार द्वारा शुरू किया गया। बाज़ार को बढ़ावा दिए जाने, यथा भूमण्डलीकरण के

विरोध के बावज़ूद भारत में केन्द्र के साथ-साथ विभिन्न राज्य सरकारें भी भूमण्डलीकरण अपना ही रही हैं। कुछ विद्वानों का, बहरहाल, तर्क है कि भूमण्डलीकरण अपने वर्तमान दौर से कहीं पहले शुरू हो चुका था; यह कोई नई दृश्यघटना नहीं है। यदि 1991 में भारत में दाता एजेन्सियों द्वारा अपनी शर्तों के तहत संरचनात्मक समंजन कार्यक्रम के माध्यम से बाज़ार को बढ़ावा दिए जाने का तत्काल कारण भुगतान-शेष संकट ही था, तो उप-सहाराई अफ्रीका के मामले में यह कारण 1989 में "शासन-संकट" था। यह इंगित किया गया पारदर्शिता, उत्तरप्रदता के अभाव द्वारा; राज्य की अक्षमता और भ्रष्टाचार द्वारा।

संरचनात्मक सुधार एक अर्थ में बाज़ार दूसरा नाम बन गया। इसके संकेतक थे : देश के भीतर और बाहर शुल्क व ग़ैर-शुल्क द्वारों को बंद करना; मुक्त अर्थव्यवस्था/ व्यापार क्षेत्रों का निर्माण; लाइसेन्स प्रणाली अथवा इन्सपेक्टर राज को खत्म करना; निजी पूँजी को प्रोत्साहित करना और राज्यीय/ सरकारी पूँजी अथवा सार्वजनिक क्षेत्र इकाइयों को हतोत्साहित करना (विनिवेश); विदेशी पूँजी अथवा बहु-राष्ट्रीय कम्पनियों को भारत में निवेश करने और अपना व्यापार कार्य यहाँ शुरू करने की अनुमति देना (अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में विदेशी सीधा निवेश अर्थात् एफ.डी.आई. की अनुमति देना)। बाज़ार को कल्याणकारी क्षेत्रों में भी प्राथमिकता दी जाती है, जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य और आधारभूत ढाँचा तैयार करना, आदि। जबकि कुछ विद्वान बाज़ार हेतु प्रबल भूमिका के पक्ष में तर्क देते हैं, अन्य का कहना है कि बाज़ार को राज्य व नागरिक समाज संगठनों के साथ सहयोग में भी काम करना पड़ता है। बाज़ार शक्तियों के समर्थकों के बीच मतभेदों के बावज़ूद वे सभी बाज़ार को प्रमुख स्थान देने हेतु साझा रूप से आम समझ रखते हैं। बाज़ार को द्वितीय "हरित क्रांति" का हिस्सा माना जाता है – कृषि का निगमीकरण, अनुबंध खेती, कृषि का विविधीकरण, फसल पैटर्न को बदलना ताकि अधिक लाभकारी फसलें पैदा हों/ एक-फसल खेती, आदि। सेवा-क्षेत्र में बाज़ार का प्रभाव उन नीतियों में देखा जा सकता है जो कि सरकारी संस्थाओं में नौकरियों की संख्या घटाने, स्वैच्छिक सेवा-निवृत्ति योजनाओं तथा अनुबंधात्मक रोज़गार, आदि विषयक हैं।

राज्य की सफलता, विफलता एवं प्रकृति के मामले की ही तरह, बाज़ार की प्रतिक्रिया को भी विभाजित किया जा सकता है। यदि कुछ लोग बाज़ार शक्तियों के समर्थक हैं तो उसके कुछ विरोधी भी हैं। परवर्ती में शामिल हैं – वामपंथी बुद्धिजीवी वर्ग एवं संगठन, स्वदेशी (विदेशी बाज़ार के विरोध में), और दलित प्रवक्ताओं का वर्ग, पर्यावरणवादियों का एक वर्ग, आदि (जैसा कि आप विभिन्न इकाइयों में पढ़ेंगे)।

6.4 नए प्रसंग में राज्य और बाज़ार

राज्य और बाज़ार की स्थितियों में परिवर्तन एक नए प्रसंग में आये हैं। इस प्रसंग के अभिलक्षण हैं : 'अस्सी के दशक में शीत युद्ध में कमी और समाजवादी गुट का विघटन तथा नागरिक समाज संगठनों, बुद्धिजीवियों, ग़ैर-सरकारी संगठनों व स्वैच्छिक संगठनों का उदय। यह घटनाक्रम समाज के कल्याणार्थ कार्यवाही के प्रमुख अभिकरण के रूप में राज्य के एकाधिकार को क्षति पहुँचाने में परिणत हुआ। बाज़ार से परे, नागरिक समाज के लिहाज से इन नए अभिकरणों को जनता के कल्याणार्थ संभावित अभिकरणों के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। जबकि समाज की क्षमता विषयक प्रश्नों कि क्या एक अभिकरण दूसरे के मुकाबले अधिक महत्त्वपूर्ण है, पर बहस जारी है, नागरिक समाज संगठनों का महत्त्व दुनिया भर में बहुत अधिक हो गया है। ये प्रश्न कि क्या ग़ैर-सरकारी संगठन अकेले ही लोगों का कल्याण कर सकते हैं अथवा एक दूसरे के साथ सहयोग में ही वे ऐसा कर सकते हैं, उठाये जा रहे हैं।

नागरिक समाज के बढ़ते महत्त्व के साथ-साथ राज्य व बाज़ार, स्वतंत्र रूप से अथवा एक-दूसरे के साथ काम करते हुए, शैक्षिक चर्चा एवं राजनीतिक कार्रवाइयों के मुख्य ध्यानाकर्षक केंद्र बन गए हैं। नागरिक समाज के साथ-साथ सामाजिक पूँजी (सोसियल केपिटल) जैसी अवधारणाएँ भी शैक्षिक चर्चा में खास स्थान रखने लगी हैं। रॉबर्ट पटनम द्वारा इटली की नगर परंपराओं का अध्ययन करते हुए लोकप्रिय बनायी गयी सामाजिक पूँजी को माना जाता है कि इसमें संचारतंत्र, आस्था और उन समूहों के सदस्यों के बीच साझा मूल्य आते हैं जो सामाजिक पूँजी रखते हैं। चूँकि सामाजिक आन्दोलन सामूहिक कार्रवाइयाँ हैं – संगठन, नेतृत्व, विचारधारा, संघटनों की नीतियाँ व रणनीतियाँ, संघ आदि सामाजिक आन्दोलनों के प्रमुख भाग बन गए हैं। तथापि, नागरिक समाज संगठन व सामाजिक पूँजी की अवधारणा चुनौतियों से अछूते नहीं रहे हैं। जॉन हेरिस का तर्क है कि सामाजिक पूँजी विकास को अराजनीतिकृत करती है। नागरिक समाज की विद्यमानता, सामाजिक पूँजी और सामाजिक आन्दोलनों को समसामयिक बातचीत के एक हिस्से में लोकतंत्र के अस्तित्व का संकेतक माना जाता है।

6.5 राज्य, बाज़ार और सामाजिक आन्दोलनों का प्रासंगीकरण

क्या सामाजिक आन्दोलन राज्य व बाज़ार की बदलती परिस्थितियों अथवा भूमण्डलीकरण से जुड़े हैं? राज्य व बाज़ार की स्थितियों की ही भाँति भूमण्डलीकरण व सामाजिक आन्दोलनों के बीच संबंध विषयक भी विरोधी मत पाए जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि सामाजिक आन्दोलन, विशेष रूप से पहचान आन्दोलनों के उदय के साथ नए सामाजिक आन्दोलन भूमण्डलीकरण के परिणामस्वरूप ही जन्मे हैं। परन्तु जब आप इस पाठ्यक्रम की विभिन्न इकाइयों का अध्ययन करेंगे तो पायेंगे कि 'नब्बे के दशक में भारत में भूमण्डलीकरण के वर्तमान चरण की शुरुआत होने से पहले भी विभिन्न समूहों की सामूहिक कार्रवाइयाँ हुआ करती थीं। इसी कारण, यह हमेशा मुमकिन नहीं कि सामाजिक आन्दोलन भूमण्डलीकरण से संबंधित हों ही। परन्तु यदि हम विभिन्न समूहों के मुद्दों और सामूहिक कार्रवाइयों को राजनीतिक अर्थव्यवस्था में बदलावों के संदर्भ में रखते हैं जिसमें भूमण्डलीकरण भी शामिल है, वह हमें सामाजिक आन्दोलनों बेहतर समझने में मदद कर सकती है। हम कुछ उदाहरणों के साथ सामाजिक आन्दोलनों को प्रसंगाधीन कर सकते हैं।

राज्य व बाज़ार के साथ सामाजिक आन्दोलनों के संबंध को सर्वोत्तम रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है : आम जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने में राज्य की अक्षमता और राज्य अभिकरणों या संस्थाओं में उनका प्रतिनिधित्व, तथा बाज़ार के साथ भी जनता को वह सब देने में उसकी अक्षमता जो कि राज्य देने में अक्षम रहा है। जैसा कि आपने विभिन्न इकाइयों में पढ़ा है, संविधान लागू होने के कुछ ही वर्षों के भीतर विकास प्रतिमान एवं राष्ट्र-राज्य निर्माण पर लोगों के विभिन्न वर्गों ने सवाल उठाना शुरू कर दिया। नृजातीय, भाषाई, जातीय एवं वर्गीय मुद्दों पर तमाम आन्दोलन उठ खड़े हुए। बढ़ते भ्रष्टाचार के साथ राजनीतिक कार्यकारिणी द्वारा राज्य संस्थाओं का वैयक्तिकरण गुजरात में नव-निर्माण आन्दोलन और सम्पूर्ण क्रांति (Total Revolution) के नाम से प्रसिद्ध जे.पी. आन्दोलन में परिणत हुआ। परन्तु बाद के दशकों से भिन्न, इन आन्दोलनों का संघटन राजनीतिक दलों द्वारा किया गया था, मुख्य रूप से विपक्षी अथवा ग़ैर-कांग्रेसी दलों द्वारा। जबकि 'साठ के दशक तक संगठन कार्य मुख्य रूप से राजनीतिक दलों अथवा उनसे जुड़े संगठनों द्वारा ही किया गया था, 'सत्तर के दशक से विभिन्न सामाजिक समूह

ग़ैर-पार्टी अथवा अराजनैतिक संगठनों द्वारा संघटित किए जाने लगे, हालाँकि आगे चलकर वे राजनैतिक हो गए। गेल ओमवेट ऐसे आन्दोलनों को नए सामाजिक आन्दोलनों की संज्ञा देती हैं क्योंकि वे परस्पर कुछ ऐसे अभिलक्षण रखते थे जो नए थे। इन आन्दोलनों द्वारा उठाये गए मुद्दे राज्य व बाज़ार दोनों से मुताल्लिक थे। वे राज्य से सम्बद्ध इस अर्थ में हैं कि राज्य को उनकी उपेक्षा करने और तदनुसार उन्हें सामाजिक आन्दोलन छेड़ने के लिए जिम्मेदार ठहराया गया है। दूसरी ओर, वे बाज़ार से संबंधित इस अर्थ में हैं कि उनकी माँगों में से बहुत सी बाज़ार से ही जुड़ी हैं। बाज़ार से जुड़ी माँगें हैं : किसानों की उपज का लाभकारी मूल्य, आर्थिक सहायताप्राप्त आगतों की उपलब्धता। टॉम ब्रास जैसे कुछ विद्वानों का तर्क है कि इन माँगों में नया कुछ नहीं है; वे पहले भी उठायी जा चुकी हैं। पानी जैसे प्राकृतिक संसाधनों की शीतल पेय बनाने वाली कम्पनियों द्वारा चोरी हेतु बाज़ार शक्तियों, खासकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हस्तक्षेप ने भूजल के इस्तेमाल के खिलाफ केरल व राजस्थान में किसान आन्दोलनों को जन्म दिया। अनेक सार्वजनिक-क्षेत्र उपक्रमों में, उनके निजीकरण हो जाने अथवा बंद हो जाने के बाद कर्मचारियों की छँटनी, बीमा व दूरसंचार कम्पनियों में विदेशी सीधा निवेश में वृद्धि आदि ने कामगार वर्गों व सरकारी कर्मचारियों के बीच असंतोष को जन्म दिया है। ये, बहरहाल, सतत सामूहिक कार्रवाई में परिणत नहीं हुए हैं।

'नब्बे के दशकोपरांत दलित नेताओं व राजनीतिक संगठनों की कार्यसूची में, निजीक्षेत्र में आरक्षण के मुद्दे को भी जोड़ा जा चुका है। उन्हें भय है कि भूमण्डलीकरण के एक भाग के रूप में निजीकरण सरकारी नौकरियों में गिरावट के रूप में परिणत होगा। इससे सामाजिक न्याय का सिद्धांत प्रभावित होगा। उनका तर्क है कि निजीकरण उपरांत सरकारी नौकरियों के संकुचन के आलोक में, दलितों को निजी क्षेत्रों में आरक्षण दिया जाना चाहिए। इस माँग ने, वैसे, बाज़ार के प्रतिनिधियों अथवा उद्योगपतियों को नाराज़ कर दिया है। परन्तु पुनः, यह मुद्दा दलितों की किसी सामूहिक कार्रवाई में परिणत नहीं हुआ है। यह पेम्लेटों, प्रैस बयानों अथवा पार्टी घोषणा-पत्रों के माध्यम से ही उठायी जा रही है।

6.6 सार-संक्षेप

संक्षेप में, राज्य, बाज़ार और सामाजिक आन्दोलनों के बीच संबंध शिक्षा-संबंधी बातचीत में बहुचर्चित मुद्दों में गिने जाते हैं। परन्तु इन सभी के विषय में दो भिन्न और परस्पर-विरोधी दृष्टिकोण हैं। जबकि विद्वानों का एक समूह सामाजिक आन्दोलनों के कारणों का संबंध सीधे राज्य के पतन और बाज़ार के उत्थान से जोड़ता है, तो दूसरा बिल्कुल इसके उलट दृष्टिकोण रखता है। इसी प्रकार, राज्य और बाज़ार की बदलती स्थितियों तथा अपना काम करने में उनकी भूमिकाओं के संबंध में भी परस्पर-विरोधी मत हैं। ऐसी स्थिति में, हम सामाजिक आन्दोलनों की एक उचित समझ रख सकते हैं, यदि हम उन्हें बाज़ार और राज्य की बदलती स्थितियों के संदर्भ में ही रखकर देखें, बेशक हम उनके कारणों को बाज़ार और राज्य से सीधे न जोड़ें।

राज्य की प्रबल और स्वायत्त स्थिति जो कि राज्य ने नेहरू-महालैनोबिस मॉडल के अनुसार हासिल की, उसकी प्रकृति, स्थिति और कार्यप्रणाली आदि का विद्वानों द्वारा विश्लेषण किया गया है। उनमें मार्क्सवादी यह मानते हैं कि भारतीय राज्य एक धनी वर्गों का प्रतिनिधि है, यथा – ज़मींदार/ सामंती घटक, बुर्जुआ वर्ग/ पूँजीपति वर्ग और विदेशी पूँजी। लेकिन साथ ही, वे राज्य सकारी योगदान जिसमें उनका नियोजन

कार्य शामिल है, की प्रशंसा भी करते हैं। दूसरी ओर, नव-उदारवादियों के नाम से प्रसिद्ध ऐसे भी लोग हैं जो भारतीय राज्य को विकास दर प्राप्त करने व ग़रीबी मिटाने आदि सभी लिहाज से परास्त मानते हैं। यद्यपि वे भारतीय राज्य के अपने पूरे स्वातंत्र्योत्तर काल में छाये रहने की आलोचना करते हैं, उदारीकरण के नए दौर में इस संबंध में उनकी आलोचना और भी अधिक कटु हो गयी है, यथा बीसवीं शती के अन्तिम दशक से। उनका तर्क है कि भारत में बाज़ार को राज्य के मुकाबले दोयम दर्ज़े पर रखा गया था। परवर्ती इन्स्पेक्टर राज, भ्रष्टाचार, लालफीताशाही आदि से प्रभावित रहा। समाज की समस्यायें सुलझाई जा सकती हैं यदि राज्य की अपेक्षा बाज़ार को विकसित होने हेतु प्रोत्साहित किया जाये। बाज़ार को प्रोत्साहन देने संबंधी उनके सुझावों में शामिल हैं : सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों का विनिवेश ताकि निजी अथवा विपणन शक्तियों को बढ़ावा मिले; अनुबंधात्मक नौकरियाँ, स्वैच्छिक सेवा-निवृत्ति योजनाएँ, अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में विदेशी सीधा निवेश; राज्य-बाज़ार-नागरिक समाज संबंध में बाज़ार की प्रमुख भूमिका, आदि। नव-उदारवादियों की भी विभिन्न क्षेत्रों में आलोचना की गई है; इनमें राज्य की भूमिका की उपेक्षा करने और बाज़ार को प्राथमिकता देने के लिए मार्क्सवादियों के साथ-साथ ग़ैर-मार्क्सवादी भी शामिल हैं। उनके मत में, बाज़ार जिसका एकमात्र उद्देश्य लाभ कमाना ही है, से उम्मीद नहीं की जा सकती है कि वह आम जनता के कल्याण हेतु भी कदम उठायेगा। एल.आई. रुडोल्फ एवं एस.एच. रुडोल्फ राज्य की स्वायत्तता को भारत की राजनीति में पूँजी और संगठित श्रमिक वर्ग के बीच एक "तृतीय कारक" के रूप में लेते हैं, जो कि केन्द्रवादी राजनीति है न कि वर्ग राजनीति।

स्वतंत्रता के पूर्व और पश्चात् भारत में सामूहिक कार्रवाइयाँ होती रही हैं। राज्य और बाज़ार से उनके संबंधों को उनकी बदलती प्रस्थितियों के संदर्भ में देखा जा सकता है। भारतीय संविधान के लागू होने के कुछ ही वर्षों के भीतर विभिन्न समूहों की सामूहिक कार्रवाइयाँ दिखाई पड़ने लगीं जिन्होंने भारतीय राज्य को चुनौती दी। 'सत्तर के दशकोपरांत कुछ और सामाजिक समूहों, मुद्दों, नेतृत्व, विचारधाराओं तथा संघटन के प्रतिमान एवं रणतीतियों के लिहाज से इन आन्दोलनों में वृद्धि ही होती रही है। यद्यपि ये आन्दोलन राज्य व बाज़ार की कार्रवाई के कारण सीधे-सीधे नहीं जन्मे, उनकी बदलती प्रकृति और स्थितियाँ सामाजिक आन्दोलनों को समझने के लिए एक संदर्भ ज़रूर प्रदान करती हैं।

6.7 अभ्यास प्रश्न

1) भारत में राज्य की बदलती स्थिति पर चर्चा करें।

2) बाज़ार की बदलती स्थिति पर चर्चा करें और भारत में राज्य से उसके संबंध का विश्लेषण करें।

3) राज्य, बाज़ार और सामाजिक आन्दोलनों का एक दूसरे से संबंध आप कैसे स्थापित करते हैं? स्पष्ट करें।

इकाई 7 दलित आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

7.1 प्रस्तावना

7.2 दलित कौन हैं?

7.3 दलितों की राजनीतिक लामबंदी

- 7.3.1 स्वतंत्रतापूर्व काल
- 7.3.2 स्वतंत्र्योत्तर काल

7.4 बहुजन समाज पार्टी और दलित

- 7.4.1 विचारधारा
- 7.4.2 बसपा की कमज़ोरियाँ

7.5 सार-संक्षेप

7.6 अभ्यास प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

हाल के वर्षों में भारत में दलित लामबंदी एवं आन्दोलनों में विद्वतापूर्ण रुचि का विकास हुआ है। ऐसा मुख्य रूप से इस तथ्य के कारण हुआ है कि देश भर में चुनावी प्रक्रिया में दलितों की वृहत्तर लामबंदी एवं राजनीतिक भागीदारी रही है। यह मुख्य रूप से बहुजन समाज पार्टी (बसपा) ही है जो कि वस्तुत: दलितों की बेहतर लामबंदी (mobilisation) एवं देश में दलितों के इर्द-गिर्द उठ रही लोकतांत्रिक लहर हेतु जिम्मेदार है। इस इकाई में आज के भारत में देश के अंदर दलित संघटन, अधिकार-माँग एवं आन्दोलन पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। यह इकाई दलित-वर्ग का अर्थ और स्वतंत्रता पूर्व एवं पश्चात् काल में उनकी लामबंदी के विषय से संबंधित है। इसमें बसपा की विचारधारा एवं दलित-वर्ग संबंधी उसके संघटन पर भी चर्चा की गई है।

7.2 दलित कौन हैं?

आरम्भ में हम एक सवाल रखते हैं – दलित कौन हैं? समाज में उनकी क्या स्थिति है। 'दलित' एक मराठी शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है – 'धरती' अथवा 'टूटे हुए खंड' और इसे सबसे पहले महाराष्ट्र में 'दलित पैन्थर्स' द्वारा प्रचलन में लाया गया जिससे उनका तात्पर्य था अनुसूचित जाति की जनता। तत्पश्चात् इस परिभाषा को व्यापक बनाने के प्रयास में किसी भी दबे-कुचले समूह के लिए इसका प्रयोग किया जाने लगा (चन्द्रा, 2004)। दलित मुख्य रूप से केवल अनुसूचित जातियों का संदर्भ प्रस्तुत करते हैं, यथा वे जातियाँ जो हिन्दू वर्ण व्यवस्था में वर्ण-व्यवस्था से बाहर थीं और उन्हें 'अवर्ण' अथवा अस्पृश्य

अतिशूद्रों के रूप में जाना जाता था। उन्हें अशुद्ध माना जाता था और जाति पदानुक्रम में रखा जाता था जिसने असमानता को जिंदा रखा। कुछ ऐसे भी हैं जो अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, अन्य-पिछड़े वर्गों तथा अन्य धर्मान्तरित अल्पसंख्यकों तक को इस वर्ग में शामिल करते हैं। इस इकाई में हम, बहरहाल, सिर्फ़ अनुसूचित जातियों का ही संदर्भ लेंगे, अन्य वर्गों का नहीं। दलित भारत की जनसंख्या के 15 प्रतिशत हैं और आर्थिक एवं सामाजिक रूप से भारतीय समाज के निम्नतर श्रेणियों से ताल्लुक रखते हैं। 1991 की जनगणना के अनुसार उनकी संख्या 13.8 करोड़ थी, यथा कुल संख्या 15. 8 प्रतिशत। 2001 की जनगणना के अनुसार वे 1ए666 करोड़ से भी अधिक, यथा समग्र जनसंख्या के लगभग 16.2 प्रतिशत हैं। वे पूरे देश भर में फैले हैं, तथापि उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, राजस्थान, उड़ीसा व महाराष्ट्र जैसे कुछ राज्यों में वे अधिक संघनित हैं। उनकी आबादी तमाम संसदीय एवं विधानसभा चुनावक्षेत्रों में फैली हुई है, परन्तु समस्त देश में ये निर्वाचकगण के लगभग एक-तिहाई हैं (चन्द्रा, 2004)।

दलित न सिर्फ़ निम्न-जाति श्रेणी से भी ताल्लुक रखते हैं बल्कि वे भारतीय समान के निम्न-वर्ग श्रेणी से भी ताल्लुक रखते हैं। ग्रामीण अर्थव्यवस्था में वे मुख्य रूप से ग़रीब किसान, बँटाई-मज़दूर तथा कृषि-श्रमिक होते हैं। शहरी अर्थव्यवस्था में वे मूल रूप से श्रमजीवी जनसंख्या के अधिकांश का निर्माण करते हैं। अनेक अध्ययन दर्शाते हैं कि समग्र देश में दलितों की दशा गत वर्षों कोई महत्त्वपूर्ण रूप से नहीं बदली (मेण्डलसोन एवं विक्ज़ियानी, 1998), भारत में राज्य ने यद्यपि ग़रीबोन्मुख नीतियों का परिपालन किया था, जो कि ग़रीबों की दशा सुधारने पर अभिलक्षित थीं जिनमें एक बड़ा भाग दलित ही थे। मेण्डलसोन एवं विक्ज़ियानी का कहना है कि "स्वतंत्र्योत्तर शासन-प्रणाली समाज शोषित वर्ग के लोगों के पक्ष में संसाधनों के योजनाबद्ध पुनर्वितरण को लागू करने में विफल रही है, और वह गरीबों को 'बुनियादी ज़रूरतों (स्वास्थ्य शिक्षा एवं सामान्य कल्याण) की आपूर्ति संबंधी किसी सुसंगत, यद्यपि इतर-क्रांतिक रणनीति के परिपालन में भी विफल रही है।''

रक्षात्मक भेदभाव (Pratective Discrimination) नीति के परिणामस्वरूप दलितों के बीच एक अभिजात वर्ग (मुख्य रूप से मध्य वर्ग) का उदय हुआ है। और ये आभिजात्य ही हैं जो सरकारी नीतियों के मुख्य लाभग्राही हैं। जैसा कि डी.एल. शेठ ने लिखा है कि मध्य वर्ग जिसमें मुख्यतः उच्च जातियाँ ही आती थीं, अब निम्न जातियों अथवा दलितों का एक छोटा वर्ग भी आता है (शेठ, 2002)। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप समस्त दलित जनसंख्या को अब मोटे तौर से दो भागों में बाँट सकते हैं : वह वर्ग जिसमें लोग अभी तक वैसे ही है; जैसे पहले और एक छोटा, संकुचित वर्ग जिसमें लोग अधिकांश दलित जनसंख्या की अपेक्षा अधिक खुशहाल हैं। इसको, तथापि, एक सकारात्मक परिवर्तन माना जा सकता है क्योंकि दलितों के बीच वो यही वर्ग (मध्य वर्ग) है जिसमें शामिल लोग आज के भारत में अपने संघटन और अधिकार-माँग के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं एक अन्य परिवर्तन भी देखा जा सकता है और जो कि उस जातीय भेदभाव का दुराग्रही रूप है जिसको सदियों तक अपनाया जाता रहा परन्तु वर्तमान भारत में व्यवहृत नहीं है। शाह (2001) ने उपर्युक्त परिवर्तनों के लिए कारण पर विचार-विमर्श किया है; हमें यहाँ उनकी चर्चा की ज़रूरत नहीं है।

7.3 दलितों की राजनीतिक लामबंदी

7.3.1 स्वतंत्रतापूर्व काल

अखिल भारतीय स्तर पर 'बीस के दशक में पहली बार अम्बेडकर ने दलित हित की अभिव्यक्ति शुरू की। अम्बेडकर से पहले भारत के कुछ राज्यों में उनकी दशा में सुधार लाने के लिए प्रयास होते रहे थे, उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र में फुले द्वारा। परन्तु यह राजनीतिक उद्देश्यों से दलितों की लामबंदी के बजाय सुधार की ओर प्रयास अधिक था। कहा जाता है कि दलित मुद्दों से जुड़े अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर कांग्रेस के साथ अम्बेडकर के मतभेद पैदा हो गए थे और 1919 से, स्वतंत्रतापूर्ण काल में साढ़े तीन दशक से भी अधिक, दलितों के कमोबेश वही एक मात्र प्रवक्ता एवं सर्वश्रेष्ठ अधिवक्ता रहे। यद्यपि कांग्रेस अस्पृश्यता निवारण की आवश्यकता पर बल देती थी, फिर भी उसने 1917 तक दलित वर्गों के हितों की रक्षा के लिए किसी भी माँग अथवा कार्यक्रम को अभिव्यक्ति प्रदान नहीं की (शाह, 2001)। इसके विपरीत 'तीस के दशक में फुले और अम्बेडकर द्वारा दलितों को लामबंद किया गया कि जब तक जाति व्यवस्था समाप्त नहीं होती, अस्पृश्यता की सामाजिक बुराई दूर नहीं हो सकती और यह तभी संभव है जब दलित-वर्ग सत्ता हासिल कर लेगा। अत: 1942 में अम्बेडकर ने अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ (AISCF) की स्थापना की। इससे पूर्व भी उन्होंने कई संगठन बनाए थे जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण था – भारतीय लेबर पार्टी। यह दल इस अर्थ में एक भिन्न प्रकार का संगठन था कि इसका उद्देश्य और प्रयास भारतीय समाज के एक वृहत्तर भाग को संघटित करना था, न कि अनन्य रूप से दलितों को ही। उन्होंने इस संगठन का प्रयोग अधिक व्यापक श्रोता वर्ग से अपील करने के लिए किया, यथा उद्योग-कर्मी एवं कृषि-मज़दूर। डंकन का कहना है कि उन्होंने इसका निर्माण संभवत: इसलिए किया कि वह स्वीकार करते थे कि अनुसूचित जाति से भी अधिक व्यापक समर्थनाधार आवश्यक है; अत: वह एक और वर्ग जैसी रणनीति में लग गए (डंकन, 2000)।

7.3.2 स्वतंत्र्योत्तर काल

अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ (AISCF) की स्थापना देश में दलितों की लामबंदी के इतिहास में एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटना है, हालाँकि वह अधिक सफल नहीं रही और उसे 1946 के चुनावों में और फिर 1951 के चुनावों में हार का सामना करना पड़ा। इन उत्क्रमणों ने अम्बेडकर को यह विश्वास दिला दिया कि एक पृथक् राजनीतिक दल की आवश्यकता है जिसके पास एक अधिक व्यापक चुनावी रणनीति हो। 1956 में उनकी मृत्यु के बाद उक्त संघ को भंग कर दिया गया और 1957 में भारतीय रिपब्लिकन पार्टी (आर.पी.आई.) की स्थापना की गई। इस पार्टी ने जो इस तरह की पहली पार्टी थी, संविधान के मौलिक प्रावधानों को स्वीकार किया और अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संसदीय लोकतंत्र का माध्यम अपनाने की सौगंध ली। इसने लगभग दो दशकों तक कार्य किया और महाराष्ट्र राज्य में, कुछ हद तक उत्तर प्रदेश राज्य में भी, अपना आधार बनाने में सफल रही; तथापि परवर्ती में आर.पी. आई. चुनावी लिहाज से महाराष्ट्र की अपेक्षा अधिक सफल रही। यह पार्टी कुछ बड़े आन्दोलनों को शुरू करने में सक्षम थी, उदाहरण के लिए, 1959 व 1964-65 में भूमि वितरण हेतु आन्दोलन। ये आन्दोलन हालाँकि, आर.पी.आई. की राजनीति के एक सामान्य अभिलक्षण की बजाय एक भूल अधिक थे; वे, कार्यत: अलग घटनाएँ थीं, न कि 'सतत जन-आन्दोलनों की अग्रदूत' (डंकन, 2000)। आई.पी.

आई. राजनीति की छुट-पुट प्रकृति ही संभवत: मुख्य कारण था कि यह पार्टी अपना आधार कायम नहीं रख सकी और हमेशा उसे उस वक्त अपना समर्थनाधार खो जाने की समस्या का सामना करना पड़ता जब आन्दोलन समाप्त होता।

'साठ के दशक-मध्य तक उसने महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश राज्यों में अपने आपको स्थापित कर लिया। यही वो राज्य थे जिनमें उनकी सशक्त विद्यमानता थी। शीघ्र ही, बहरहाल, वह व्यापक रूप से कमज़ोर पड़ गई, कारण कांग्रेस के साथ जा मिले के मुद्‌दे पर आंतरिक मतभेद। पार्टी के भीतर नेताओं का एक वर्ग व्यवहारिक था और कांग्रेस के साथ हाथ मिलाने का इच्छुक था जबकि दूसरों का मत था कि कांग्रेस में शामिल होने से देश में अनुसूचित-जातियों के आंदोलन कमज़ोर पड़ जाएँगे। इस मुद्‌दे पर कुछ नेता पार्टी से टूटकर अलग हो गए और कांग्रेस में शामिल हो गए। पार्टी अनेक गुटों में बँट गई और वर्तमान में ये विभिन्न महाराष्ट्र की राजनीति में एक उपान्तिक भूमिका का निर्वाह करते हैं।

अम्बेडकर के उदात्त आदर्शों को कायम रखने और दलित युवाओं की आकांक्षाओं को पूरा करने संबंधी आर.पी.आई. की असफलता ने 1972 में बम्बई मे उन्हें 'दलित पैन्थर्स' के निर्माण के ओर प्रवत्त किया। 'दलित पैन्थर्स' ने अपनी प्रेरणा अम्बेडकर और मार्क्स से प्राप्त की। उन्होंने अम्बेडकर के आदर्शों की रक्षा में विफल रहने और दुराग्रही दरारों व चुनावी विफलताओं के लिए आर.पी.आई. नेताओं की आलोचना की। उन्होंने अपने आपको आर.पी.आई. के विकल्प रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया और शीघ्र ही दलित युवाओं व छात्रों का ध्यान आकृष्ट करने में सफल हुए। हालाँकि शुरुआत में उसे महाराष्ट्र राज्य में जीत का सुखद अहसास हुआ, फिर जल्द ही यह आन्दोलन (संगठन) भी उन्हीं समस्याओं का शिकार हो गया जो आर.पी.आई. के सामने आयी थीं। अनेक मुद्‌दों पर नेताओं के बीच आन्तरिक विवादों के कारण, अपनी शुरुआत के कुछ ही वर्षों में यह आन्दोलन ढेर हो गया।

ऐसा क्यों हुआ कि दलित राजनीतिक दल, अम्बेडकर द्वारा गठित संघ समेत, अपने राजनीतिक उद्‌देश्यों में सफल नहीं हो सके या फिर आंशिक रूप से ही सफल रहे? इसके पीछे अनेक कारण हैं। डंकन (2000) ने इन संघों के साथ तीन समस्याओं की पहचान की है। प्रथमत: इन दलों/संघ ने हमेशा 'जाति-विशेष के समूहों के समर्थन पर ही भरोसा किया, न कि समस्त दलित-वर्ग पर' इन संगठनों ने मुख्य रूप से महाराष्ट्र में महारों और उत्तर भारत, खासकर उत्तर प्रदेश में चमारों (जाटवों) पर भरोसा किया। यही जातियाँ थीं जिन्होंने उक्त संगठनों की रीढ़ का निर्माण किया। परिणामत: अन्य दलित जातियों ने उपेक्षा महसूस की और संदेह किया कि ये दल उसी जाति-समूह की पार्टी स्वरूप है; न कि उनकी अपनी पार्टी स्वरूप। दूसरे, डंकन के अनुसार, इस संगठन हेतु एक मुद्दा था – चुनावों के दौरान अपनी रणनीति के रूप में अन्य राजनीतिक दलों का समर्थन करें अथवा नहीं? अम्बेडकर के इस संबंध में कोई स्पष्ट दिशा-निर्देश नहीं थे। अम्बेडकर से किसी स्पष्ट मार्गदर्शन के अभाव में, पार्टी नेतृत्व वैचारिक एवं रणनीतिक संघर्षों में ही फँसा रहा। जब कभी भी सवाल उठा, कुछ लोग कांग्रेस व अन्य दलों को समर्थन देने के पक्ष में खड़े हो जाते, जबकि दूसरों को यह लगता था कि कांग्रेस को समर्थन देना पार्टी के उद्‌देश्य एवं लक्ष्यों के तनूकरण की ओर प्रवृत्त करेगा। अकेले इसी प्रश्न पर आई.पी.आई. समेत अनेक दल विभाजित हो गए और इससे समस्त देश में यह आन्दोलन कमज़ोर पड़ गया। तीसरे, इन राजनीतिक दलों ने कोई आधुनिक संगठनात्मक प्राधार तैयार नहीं किया जिसको कि सुचारु बनाया जा सकता अथवा अन्तर्दलीय संघर्षों को कम करने और संसक्ति लाने में मदद करने के उद्‌देश्य से प्रयोग

किया जा सकता। इन सब बातों ने अम्बेडकरवादी दलों के पतन में शीघ्रता ला दी, जिनमें स्वयं अम्बेडकर द्वारा गठित पार्टियाँ भी थीं। पतन का एक और कारण दिया जा सकता है। अम्बेडकरवादी पार्टियाँ कांग्रेस पार्टी के वोट-बैंकों अथवा समर्थन आधार की काट करने में सक्षम नहीं थीं, जो कि एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात थी। चूँकि यह एक भारतीय जनता के सभी वर्गों की राजनीतिक पार्टी थी, अत: निम्न-जाति जनसंख्या पार्टी के कार्यक्रमों और नीतियों को अपने लिए सुखद महसूस नहीं करते थे। कांग्रेस की कल्याणकारी नीतियों में सामान्य तौर पर देश में रहने वाले दलितों और विशेष रूप से उत्तर प्रदेश व महाराष्ट्र में रहने वाले दलितों से समर्थन माँगा गया था। हाल के वर्षों में दलित दलों का प्रसार तभी हुआ है जब कांग्रेस पार्टी उल्लेखनीय रूप से अवनत हो चुकी है और देश में अन्य राजनीतिक शक्तियों के लिए रिक्तता पैदा की है। अत:, इस बात में कोई आश्चर्य नहीं कि बसपा ऐसे राज्य (उत्तर प्रदेश) में पनपी है जहाँ कांग्रेस का पतन भारत के किसी भी अन्य राज्य की अपेक्षा कहीं तेज गति से और संपूर्ण है।

7.4 बहुजन समाज पार्टी और दलित

1984 में कांशीराम द्वारा बहुजन समाज पार्टी (बसपा) का गठन देश में दलित संघटन एवं राजनीति के इतिहास में एक नई शुरुआत दर्शाता है। बसपा के मुख्य अभिलक्षणों में एक यह तथ्य है कि वह आंशिक रूप से ही सही, वहाँ सफल तो हुई (अधिक विशेष रूप से उत्तर भारत में) जहाँ अम्बेडकर और अम्बेडकरवादी पचास से भी अधिक वर्षों तक देश में अपने प्रयोजन में विफल रहे थे। उत्तर भारत में बसपा एक ऐसे समय सफल हुई जब पश्चिमी भारत में दलित राजनीतिक दल अस्तव्यवस्तताओं से ग्रस्त थे। अपने गठन के बाद बसपा न सिर्फ़ उत्तरी भारत में कुछ राज्यों में अपनी पकड़ ही मज़बूत बनाने में सफल रही है अपितु वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण उत्तर प्रदेश राज्य में चुनाव-पूर्व अथवा चुनावोपरांत सहयोगी दलों के साथ सरकारें बनाने में भी सक्षम रही है। यद्यपि ये सरकारें अल्पजीवी ही रहीं, फिर भी ये उल्लेखनीय घटनाएँ हैं क्योंकि इसके दलितों के लिए महत्त्वपूर्ण निहितार्थ हैं, न सिर्फ़ उत्तर प्रदेश राज्य में बल्कि देश भर में।

गेल ओमवेट ने इस पार्टी के गठन को सुविवेचित बताया है। इसकी जड़ें एक सरकारी कर्मचारी संघ 'वामसेफ'/ बेकवॉर्ड एण्ड माइनॉर्टी सेंट्रल एम्पलोइज़ फेडरेशन में पाई जाती हैं। यथा पिछड़े एवं अल्पसंख्यक केन्द्र-सरकार कर्मचारी संघ, जिसका गठन 1978 में पंजाब में कांशीराम द्वारा किया गया परन्तु फिर उत्तर प्रदेश तक बढ़ा दिया गया। प्रारम्भत: बामसेफ ने महाराष्ट्र में आर.पी.आई. की गतिविधियों का समर्थन किया और अन्य पर्टियों से आने वाले सभी अनुसूचित-जाति व अन्य राजनीतिज्ञों के समर्थन का प्रयास किया (चन्द्रा, 2004)। इसका मुख्य उद्देश्य, तथापि, उन दलितों के अभिजात वर्ग को संगठित करना था जिनको भारत सरकार की आरक्षण नीतियों से लाभ पहुँचता था। इस संगठन का गठन अतिमहत्त्वपूर्ण था क्योंकि यही वो संगठन था जो बसपा के लिए प्रारम्भिक संगठनात्मक एवं वित्तीय आधार प्रदान करता था। कांशीराम ने इस आधार पर तर्क प्रस्तुत करने और संगठित करने का प्रयास किया कि उक्त समुदाय की आगे उन्नति तभी हो सकती है जब समग्र समुदाय एक समूह में उठ खड़ा हो। वह यह मानते हुए इस प्रयास में सफल रहे कि 'नब्बे के दशकारंभ में एक दशक से कुछ ही थोड़े समय के भीतर 'बामसेफ' की सदस्य-संख्या लगभग 2 लाख पहुँच गई (हसन, 2000)।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निर्णय जो बसपा की गठन-प्रक्रिया के समय लिया गया वो था – 1981 में दलित शोषित संघर्ष समाज सीमित, सामान्यतः 'डी-एस-4' के नाम से मशहूर संगठन की स्थापना। इस संगठन का गठन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था, यह मानते हुए कि इसी संगठन के माध्यम से ही उन्होंने समाज के अन्य वर्गों के बीच अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयास किया। इस डी-एस-4 ने, वास्तव में, बसपा के गठन हेतु संगठनात्मक आधार के रूप में काम किया और राजनीतिक मुद्दे उठाये। यह इसने दो महत्त्वपूर्ण तरीकों से किया। एक था – वैचारिक अभियानों के माध्यम से जो कि वे अपने मुखपत्र "दि ऑप्रैस्ड इण्डियन'' के साथ चलाते थे, और दूसरा – देश भर में सभाओं के आयोजन, रैलियाँ, खासकर साइकिल रैलियाँ, और सामाजिक कार्रवाई कार्यक्रमों के माध्यम से। प्रथम के माध्यम से उसने शोषित समुदायों को 'शिक्षित करने, संगठित करने और आन्दोलित करने' का प्रयास किया और दूसरे के माध्यम से उसने समाज में दलित जातियों हेतु आत्म-सम्मान व समानता दिलाने का प्रयास किया (सिंह, 2002)। डी-एस-4 की गतिविधियाँ 1983 व 1984 में दृश्यमान और बारंबार रहीं, यथा बसपा के गठन से कुछ ही पूर्व अतः यह स्पष्ट है कि डी-एस-4 कांशीराम द्वारा बसपा के गठन की अग्रदूत थी और इस अर्थ में बसपा का गठन एक उपयुक्त और विवेचित गठन था। ऐसा प्रतीत होता है कि बसपा के गठन से पूर्व डी-एस-4 के माध्यम से कांशीराम ने आवश्यक तैयारी का काम किया था।

मंच और आधार तय कर कांशीराम ने 14 अप्रैल 1984 को बसपा का उद्घाटन कर दिया। उत्तर प्रदेश में जब उन्होंने पार्टी में शामिल होने के लिए मायावती को राजी कर लिया तो उन्हें एक काम का साथी मिल गया। उत्तर प्रदेश में मायावती का साथ होना बसपा के लिए निर्णायक सिद्ध हुआ क्योंकि इससे पार्टी राज्य में एक भरोसे का नेता प्राप्त कर सकी। मायावती एक चमार परिवार में जन्मी। उन्होंने मेरठ व दिल्ली विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की और अध्यापन व्यवसाय में रहीं। पूर्ण-कालिक राजनीतिज्ञ बनने के लिए उन्होंने अपनी नौकरी छोड़ी। उनका परिवार दरअसल उत्तर प्रदेश में कुछ समय आर.पी.आई. से जुड़ा रहा था।

कांशीराम ने, ऐसा कहा जाता है, सुविवेचित ढंग से एक नयी नृजातीय श्रेणी बनाने का प्रयास किया, यथा बहुजन, जिसमें शामिल थे – अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य-पिछड़े वर्ग तथा धर्मान्तिरित अल्पसंख्यक वर्ग (चन्द्रा, 2004)। ऐसा उन्होंने सुविमर्शित ढंग से दिमाग़ में यह बात रखते हुए किया कि अनुसूचित जातियाँ अकेले उन्हें यथा अभीष्ट सत्ता नहीं दिलवा सकतीं क्योंकि उनकी संख्या कुल जनसंख्या का लगभग 15 प्रतिशत ही है जो कि देश में कुछ निर्वाचक-वर्ग का एक-तिहाई मात्र है। भूतपूर्व अछूतों से समर्थनार्थ एक सचेत अपील करते हुए और 'ब्राह्मण, बनिया, ठाकुर चोर, बाकी सब डी-एस-फ़ोर' जैसे आकर्षक नारों को लेकर बसपा ने उत्तर भारत में दलित वोट-बैंक पर एक तत्काल प्रभाव बनाया। उत्तर भारत में दलितों ने परम्परागत रूप से कांग्रेस की पीठ पीछे संघर्ष जगाया परन्तु शीघ्र उसने पाया कि बसपा कांग्रेस के वोट-बैंक का अतिक्रमण कर रही है। दिसम्बर 1984 में कराए गए लोकसभा चुनावों में और मार्च 1985 में कराए गए विधान सभा चुनावों में यद्यपि वह अपने द्वारा लड़ी गई राज्य की सभी सीटों पर पराजित हुई, वह लाखों वोट हासिल करने में सफल रही थी। अधिक महत्त्वपूर्ण रूप से, वह कांग्रेस के वोट अपनी ओर खींच पाने में सफल रही थी जिसके परिणामस्वरूप 51 सीटें लोकदल को गईं (ओमवेट, 1994)। उसी वर्ष कुछ ही महीनों बाद पंजाब में कराए गए चुनावों में वह अपना प्रदर्शन दोहराने में सक्षम दिखाई दी। उसने वहाँ अकाली दल को प्रतिकूलतः प्रभावित

किया। इस काल में बसपा और डी.एस-4 ने देश भर में सहज तरीकों से ही अभियान में भाग लिया और उत्तरी भारत में आगे अपना समर्थनाधार सुदृढ़ नहीं कर सकीं। अभियान के सहज रूपों में शामिल थे – साइकिल का प्रयोग, विशाल साइकिल व रैलियों के अन्य रूप आयोजित करना और जागरूकता कार्यक्रम। इन अभियानों में बसपा ने समाज में उच्च जातियों के आधिपत्य और देश में अनुसूचित जातियों व अन्य पददलितों की दुर्दशा की तीखी आलोचना का विकल्प चुना। इसने पार्टी की मदद की, उसे विस्तार प्रदान किया और उसका आधार मज़बूत किया; इसका प्रमाण था 1987 में इलाहाबाद लोकसभा उपचुनाव। बसपा प्रत्याशी के रूप में कांशीराम सुनील शास्त्री के 24 प्रतिशत और विश्वनाथ प्रताप सिंह के 54 प्रतिशत के मुकाबले जनमत का 18 प्रतिशत प्राप्त करने में सक्षम रहे (ओमवेट, 1994)। चुनावों में कुल मिलाकर बसपा ने उन सामाजिक समूहों के बीच अपनी वर्धमान लोकप्रियता दर्शायी, जो कि पहले कांग्रेस के पास थी। यही चुनाव था जिसमें बसपा एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरी और कांशीराम एक राष्ट्रीय छवि के व्यक्ति बन गए।

1989 के लोकसभा चुनाव आये और बसपा ने अपने द्वारा लड़े गए 235 लोकसभा चुनावक्षेत्रों में से 2.4 प्रतिशत अखिल-भारतीय मतों के साथ तीन सीटें प्राप्त कीं। इस प्रभावशाली प्रदर्शन के साथ बसपा डाले गए वोटों के लिहाज से छठी अखिल भारतीय पार्टी बनने में सक्षम हुई। उसने अपनी चुनावी प्रगति जारी रखी और 1997 में चुनाव आयोग द्वारा एक राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त करने में सफल रही। उत्तर प्रदेश में इसको सबसे अधिक लाभ मिला। राज्य विधानसभा में उसकी सीटें 1989 में मिलीं 13 से बढ़कर 1993 में 66 तक पहुँच गयीं। 1996 में कराए गए चुनावों में भी उसे 66 सीटें ही मिलीं, वैसे उसका सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन 2002 के चुनावों में रहा जब उसने 97 सीटें प्राप्त कीं। बसपा का यह प्रदर्शन यह मानते हुए उल्लेखनीय है कि पहले के चुनावों में उसने 66 सीटें प्राप्त की थीं, हालाँकि पार्टी में अनेक विभाजनों के कारण 1998 में यह संख्या अन्त में घटकर 43 रह गयी। राज्य में उसका मत भाग बीस प्रतिशत के आसपास रहा है जो कि काफ़ी प्रभावशाली है। पार्टी की शानदार प्रगति पर चर्चा करने के बाद चलिए उसकी विचारधारा और रणनीति की ओर रुख करते हैं जो कि उसने अब तक अपनायी थी।

7.4.1 विचारधारा

बसपा की विचारधारा को भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के समय से ही दलितों के संघटन की दिशा में किए गए समग्र प्रयास की पृष्ठभूमि में समझना होता है। आरम्भ में यह ध्यान देना आवश्यक है कि उसकी विचारधारा उसकी रणनीतिक आवश्यकताओं के अनुसार समय-समय पर बदलती रही है। गेल ओमवेट ने लिखा है कि बसपा की विचारधारा का सबसे अच्छी तरह अनिश्चित अर्थात्मक के रूप में वर्णन किया जा सकता है। उनका कहना है कि पार्टी के कार्यक्रम और कार्यशीलता में कोई स्पष्ट सिद्धांतवादिता नहीं है। एकमात्र दबाव इस बात पर है कि राज्य सत्ता हासिल करने के बाद जाति-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न किया जाए (ओमवेट, 1994)। तथापि, जो सत्य है वो है – उसके पास अब तक कोई आर्थिक कार्यक्रम नहीं हैं और इस लिए पार्टी इस विषय में स्पष्ट नहीं है कि सत्ता हासिल करने के बाद वह क्या करने का इरादा रखती है। इस वैचारिक अस्पष्टता के कारण ही हम पाते हैं कि उसके अधिकतर आन्दोलन स्वभावतः प्रतीकात्मक ही हैं और वह आर्थिक मुद्दों के इर्द-गिर्द नहीं है। और दूसरे, इसी कारण से उत्तर प्रदेश राज्य सत्ता हासिल करने के बाद आर्थिक मुद्दों पर उसकी स्थिति डाँवाडोल ही रही।

इस अस्पष्टता के कारण ही उसकी विचारधारा पर मत प्रकट करना काफ़ी मुश्किल है। यहाँ एक प्रयोगात्मक प्रयास, वैसे ज़रूर किया जाना चाहिए। शुरू में एक बात कहना ज़रूरी होगा कि वैचारिक रूप से बसपा ने अम्बेडकर के लेखों से काफ़ी कुछ प्राप्त किया है और काफ़ी हद तक कांशीराम व मायावती के भाषणों से भी। पार्टी को फुले और पेरियार से भी प्रेरणा मिलती है। उसकी विचारधारा के संबंध में मुख्य बात यह है कि वह देश में ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था की आलोचक है। अपनी आलोचना में वह काफ़ी कुछ फुले से प्राप्त करती है। जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में महाराष्ट्र में ब्राह्मणवाद और ब्राह्मण सत्ता संबंधी आलोचना में प्रदान किया। बसपा और कांशीराम का मानना है कि भारतीय समाज में दो भिन्न समूह हैं – प्रथम समूह में निम्न जातियाँ आती हैं जिनमें अनुसूचित जनजातियाँ, अन्य-पिछड़े वर्ग तथा धार्मिक अल्पसंख्यक वर्ग शामिल हैं। दूसरी श्रेणी में आते हैं – ब्राह्मण, क्षत्रिय, बनिए और राजपूत अर्थात् परम्परागत उच्च जातियाँ (सिंह, 2002)। उच्च जातियाँ हालाँकि एक अल्पसंख्यक वर्ग का ही निर्माण करती हैं (आबादी का लगभग 15 प्रतिशत ही), फिर भी वे वोटों और तदनुसार निम्न जातियों से मिलने वाली स्वीकृति की वजह से शासन करने की मुक्ति निकाल लेते हैं। यह व्यवस्था, बसपा के अनुसार, और नहीं चलेगी और राजनीतिक सत्ता निम्न जातियों के हाथ में आते ही समाप्त हो जायेगी।

कांशीराम के मत में, विद्यमान ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था मूल रूप से आर्यों की है। आर्यों ने यह सामाजिक व्यवस्था भारत पर आक्रमण करके और असली बाशिन्दों अर्थात् मूल निवासियों, यथा देश में द्रविड़ों, को अधीन बनाकर क्रमविकसित की। जब आर्यों ने जीत हासिल कर ली तो द्रविड़ों को अछूतों के स्तर पर ला दिया गया। आर्यों की जीत पश्चात् यह सामाजिक व्यवस्था जो लागू हुई, कांशीराम के अनुसार जाति पर आधारित है न कि वर्ग पर, और असत्यों एवं धार्मिक किस्से-कहानियों पर टिकी है। अत: ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था जो उभर कर सामने आयी, एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था थी जो अन्यायपूर्ण थी और जिसमें ब्राह्मणवाद शासनकारी सामाजिक-सांस्कृतिक विचारधारा बन गया। इस विचारधारा का उद्देश्य था – समाज के विभाजन को प्रमुख जातीय समूहों में पूरी तरह उचित ठहराना। ऐतिहासिक रूप से, बसपा का तर्क है कि कोई हिन्दू समुदाय नहीं बल्कि केवल जातियाँ और समाज ही जो अस्तित्व में आये, सदा कायम रहे। अत: हम देखते हैं कि भारतीय समाज विषयक बसपा की अवधारणा उन अवधारणाओं जैसी ही है जो औपनिवेशिक काल में दक्षिण भारत में उभरीं, जैसा कि नायकर (पेरियार) के 'द्रविड़ आन्दोलन' और द्रुमुक मुनेत्र कड़गम की आरंभिक विचारधारा और फुले की विचारधारा में भी प्रकट हुआ।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था के इस मूल्यांकन से ही वे अपना लक्ष्य और रणनीति तैयार करते हैं। मुख्य उद्देश्य ब्राह्मणवादी शासन का अन्त अथवा उसे समाप्त कर देना और बहुजन के लिए राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना ही है। राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना अथवा हथिया लेना ही उनके लिए मुख्य कुंजी है। कांशीराम के अनुसार, 'राजनीतिक सत्ता ही मास्टर-की है जिससे आप कोई भी ताला खोल सकते हैं, चाहे वो (कोई भी) सामाजिक, शिक्षा-संबंधी अथवा सांस्कृतिक ताला हो' (चन्द्रा, 2004, पृ. 145 से उद्धत)। इसीलिए, राजनीतिक सत्ता हासिल करना उनकी मुख्य रणनीति है जिसके द्वारा कोई भी (बदलाव वास्तविक परिवर्तन) लाया जा सकता है। इससे समाज में बहुजनों की आर्थिक स्थिति सुधारने में बेहतर मदद मिलेगी राज्य सत्ता हाथ में आने के बाद ही ऐतिहासिक अन्यायों को मिटाया जा सकता

है और बहुजन, व अधिक विशेष रूप से दलित, अपनी सामाजिक-आर्थिक दशाएँ सुधार सकते हैं। इस प्रकार बसपा संपूर्ण क्रांति, हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के पूरी तरह अंत में विश्वास करती है; परन्तु यह मत-पेटी के माध्यम से ही होगा। उसका दृढ़ विश्वास है कि दलितों की दशा और स्थिति एक द्वि-चरण क्रांति के माध्यम से बेहतर बनायी जा सकती है। प्रथम है – ब्राह्मणों व उच्च जातियों से, जो कि भारतीय जनसंख्या के मात्र 15 प्रतिशत के आसपास ही हैं, और दूसरे चरण में क्रांति समाज में गहरे पैठेगी और उसे पूरा का पूरा बदल डालेगी (सिंह, 2002)।

बसपा निश्चयपूर्ण कहती है कि लोकतंत्र जो देश में विद्यमान है, एक नकली लोकतंत्र है जिस पर उच्च जातियों का आधिपत्य है और वह उन्हीं का है। इस लोकतंत्र की स्थापना, वयस्क मताधिकार आदि सबने उच्च जातियों व उनकी पार्टियों की ही मदद की है जो कि राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था पर सत्ता कायम रखे हुए हैं। कांग्रेस, देश में छायी हुई सियासी पार्टी, उच्च जातियों का ही राजनीतिक दल रही है और उच्च जातियों के लाभार्थ ही उसने समस्त नीतियाँ जारी रखीं। वे नीतियाँ जो उसने निचली जातियों के लिए चलाईं, उनसे इन जातियों को कतई लाभ नहीं मिला। इस प्रकार की स्थिति में इसीलिए जो आवश्यक है, वो है – वास्तविक एवं सच्चे लोकतंत्र की स्थापना, जिसमें सत्ता बहुमत वर्ग, यथा दलितों – बहुजन के हाथ में हो।

7.4.2 बसपा की कमज़ोरियाँ

अब चलिए उन समस्याओं, उन सीमाबद्धताओं पर ध्यान केन्द्रित करें जो कि एक राजनीतिक दल के रूप में बसपा के सामने हैं। हम देखेंगे कि ये सीमाबद्धताएँ काफी गंभीर हैं और इनमें से कुछ समस्याएँ उनके सदृश – उनसे अभिन्न ही हैं जो कि पहले आर.पी.आई. समेत अन्य अम्बेडकरवादी पार्टियों के समक्ष रही थीं।

उसके समक्ष खड़ी काफी गंभीर समस्याओं में एक है – विचारधारा संबंधी समस्या। यह लगता है कि बसपा के पास देश में रहने वाले दलितों के लिए तो कार्यक्रम है परन्तु ग़रीबों के विशाल जनसमूह के लिए नहीं है, फिर भी वह बहुमत वर्ग अथवा बहुजन का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है। दूसरे, उसके वैचारिक कार्यक्रम में कोई आर्थिक कार्यक्रम शामिल नहीं है जो कि उसने सुलभ कराने का प्रयास किया हो। किसी आर्थिक पैकेज अथवा सूचीपत्र के अभाव में बसपा विचारधारा बहुत सीमित, सामाजिक न्याय तक ही सीमित अथवा प्रतिबंधित लगती है। इसी वजह से, जब कभी भी उत्तर प्रदेश राज्य में बसपा ने सत्ता प्राप्त की उसके लिए यह मुश्किल हो गया कि वह आर्थिक नीतियों को कैसे लागू अथवा निर्देशित करे। इस प्रकार बसपा की विचारधरा एक अनन्य विचारधारा बन गई है।

बसपा के साथ दूसरी समस्या जिस पर जगपाल सिंह (2002) व अन्य ने ध्यान दिया है, वो यह है कि यह पार्टी एक नेता-केन्द्रिक पार्टी है। यद्यपि इसके पास बहुत से नेता और कार्यकर्त्ता हैं, फिर भी हर अर्थ में यह अपने सुप्रेमो (पार्टी प्रमुख) कांशीराम और कुछ हद तक मायावती के नेतृत्व वाली पार्टी है हालाँकि हाल के दिनों में कांशीराम को एक तरफ बैठा दिया गया है। अनेक महत्त्वपूर्ण अवसरों पर इन दो महत्त्वपूर्ण नेताओं ने ही पूरी पार्टी को दर किनार कर अकेले फैसले लिए हैं। यह एक समस्या है, जिस पर हमने पहले भी ग़ौर किया था, यथा अम्बेडकर की मृत्यु के बाद बनी अम्बेडकरवादी पार्टियों के साथ एक आम समस्या। आर.पी.आई. व अन्य अम्बेडकरवादी पार्टियों के सामने भी इसी प्रकार की

समस्याएँ आयीं। यहाँ तक कि स्वयं अम्बेडकर का भी सुझाव किसी सशक्त संगठन अथवा किसी संगठित आन्दोलन की ओर नहीं रहा। अम्बेडकर के जीवनी-लेखक ने लिखा है कि :

> अम्बेडकर ने अपनी पार्टी को आधुनिक पद्धति से संगठित करने का प्रयास नहीं किया। वैयक्तिक संगठन में उन्हें कतई रुचि नहीं थी। संगठनों के कोई नियमित वार्षिक सम्मेलन अथवा आम सभाएँ नहीं होती थीं जिससे वह जुड़े हों। जहाँ और जब भी वह बैठे वही सम्मेलन स्थल और निर्णयन् समय हो गया (इयान डंकन, 2001 उद्धृत)।

अम्बेडकर से किसी स्पष्ट मार्गदर्शन के अभाव में सभी अम्बेडकरवादी राजनैतिक पार्टियों के सामने एक ही तरह की समस्याएँ होती थीं, बसपा भी इस संबंध में कोई अपवाद नहीं है।

बसपा के साथ एक अधिक गंभीर समस्या है – उसका सीमित सामाजिक आधार। बहुजन समाज के सभी दावों, कि बसपा भारतीय समाज की जनसंख्या के 85 प्रतिशत का प्रतिनिधित्व करेगी, के बावज़ूद सत्य यह है कि उत्तर भारत में वह अब भी एक चमारों/जाटवों की पार्टी है। चमार बसपा समर्थन की रीढ़ का निर्माण करते हैं। हम पहले देख चुके हैं कि उत्तर प्रदेश में चमार अथवा जाटव ही राज्य में जातियों में राजनीतिक दृष्टि से सर्वाधिक जागरूक थे। यह जाति ही है जो केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों की आरक्षण नीति से लाभान्वित हुई और यही वो श्रेणी है जो बसपा की रीढ़ का निर्माण करती है। यह बाल्मिकियों अथवा पासियों के हित का प्रतिनिधित्व करती है जो कि दलितों में सबसे ग़रीब है। परन्तु वह दलितों के बीच अभिजात वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। उत्तर प्रदेश में उसने उम्मीद की थी कि उसका आकर्षण बढ़ेगा, यहाँ तक कि उसने एक सर्वमोहना (catchall) राजनीतिक दल बनने का भी प्रयास किया परन्तु इस कोशिश में बुरी तरह से विफल रही। पार्टी के लिए उत्तर प्रदेश में प्रमुख प्रतिस्पर्धी हैं – समाजवादी पार्टी, भाजपा और कांग्रेस। इस प्रकार की स्थिति में यह बड़ा ही असंभव लगता है कि बसपा अपना मत अंश और सुधार सकेगी, हालाँकि सीटों के लिहाज से उसे कुछ और सीटें मिल सकती हैं जैसा कि 2002 के चुनावों के दौरान एक विखण्डित दलीय प्रणाली में देखा गया जहाँ मुकाबला बड़ा ही बहु-स्पर्धी होता है। उसका सामाजिक आधार विस्तार और भी असंभव है क्योंकि राज्य में बसपा सरकारों ने अपना जाति पूर्वाग्रह चमारों के पक्ष में ही दर्शाया है जिसने अन्य जातियों व अल्पसंख्यक समुदायों को उससे विमुख कर दिया। इसके अलावा, उत्तर प्रदेश से परे अन्य राज्यों में, खासकर पश्चिम, दक्षिणी राज्यों तथा पूर्व में, बसपा की कोई महत्त्वपूर्ण विद्यमानता नहीं है।

चौथे, चूँकि बसपा की मुख्य कार्यावली में सत्ता हथियाना ही है, इसने पार्टी को उत्तर प्रदेश में सत्ता पाने के लिए चलन से भिन्न रणनीतियाँ अपनाने की ओर प्रवृत्त किया। उसने ऐसी पार्टियों से भी गठजोड़ किया जिनसे उसका रत्तीभर भी वैचारिक और कार्यपरक नाता नहीं था। उदाहरण के लिए, उसके तीन विभिन्न अवसरों पर भाजपा से गठजोड़, जिसमें 2002 के चुनावों के दौरान किया गया गठजोड़ भी शामिल है, ने पार्टी के आशान्वित उद्देश्य एवं प्रयोजन के विषय में काफी संदेह पैदा किए हैं। इसके दो भिन्न प्रकार के प्रभाव हुए। राजनीति के गलियारों में और निर्वाचक वर्ग की आँखों में बसपा की विश्वसनीयता गिर गई है : अक्सर ही उसे अवसरवादी पार्टी कहा गया जो अजनबी ताकतों से गठजोड़ करने को तैयार रहती है। इस प्रकार के अवसरवाद और उद्देश्य-अभाव ने ग़ैर-दलितों के बड़े हिस्से के बीच विश्वसनीयता को क्षति पहुँचाई है; ये ग़ैर-दलित बसपा द्वारा बहुजन की श्रेणी में रखे गए हैं।

इन सीमाबद्धताओं के साथ बसपा को समुदाय के इन वर्गों के बीच अपना सामाजिक आधार बढ़ाना अत्यन्त मुश्किल हो जायेगा। परन्तु इन सीमाबद्धताओं के बावज़ूद हाल के वर्षों में खासकर 'नब्बे के दशक में, बसपा की प्रगति प्रभावशाली रही है।

7.5 सार-संक्षेप

समकालीन भारत में दलितों की लामबंदी और आन्दोलनों का एक संक्षिप्त सर्वेक्षण यह दर्शाता है कि यद्यपि अखिल भारतीय स्तर पर दलितों का संघटन कार्य स्वतंत्रता से पूर्व ही अम्बेडकर के प्रयासों के साथ शुरू हो चुका था, जो कि गाँधी व कांग्रेस से मतभेद रखते थे, परन्तु 1984 में बसपा के गठन पश्चात् उसके संघटन प्रयासों के साथ उसे गति मिली। बसपा कई लिहाज से सफल रही, उसने कुछ राज्यों में एक महत्त्वपूर्ण सीमा तक दलितों को राजनीतिक रूप से संघटित किया। यद्यपि पार्टी अपने ही द्वारा पैदा की गई समस्याओं से ग्रसित रही वह देश के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश में सत्ता में आने में सफल रही जो कि अब तक अम्बेडकर द्वारा अथवा तदोपरांत बनाया गया कोई भी दलित संगठन नहीं कर सका था। यह सब संभवत: यह दर्शाता है कि आने वाले वर्षों में अखिल भारतीय स्तर पर दलितों की ओर से बेहतर भागीदारी, अधिकार-माँग और दृश्यमान होंगे।

7.6 अभ्यास प्रश्न

1) "दलित" का अर्थ स्पष्ट करें और उपनिवेश पूर्व काल में दलितों की लामबंदी पर चर्चा करें।

2) बहुजन समाज पार्टी के विकास, विचारधारा एवं सामाजिक आधार का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें।

3) बसपा की क्या सीमाबद्धताएँ हैं? चर्चा करें।

इकाई 8 पिछड़ा-वर्ग आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

8.1 प्रस्तावना

8.2 पिछड़ा-वर्ग जन कौन हैं?

8.3 पिछड़ी जातियों की सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ: राज्यीय नीतियों का प्रभाव

8.4 स्वातंत्र्योत्तर काल में पिछड़ा-वर्ग आन्दोलन

  8.4.1 उत्तर-दक्षिण तुलना

  8.4.2 चुनावी लामबंदी

  8.4.3 आरक्षण की राजनीति

8.5 सार-संक्षेप

8.6 अभ्यास प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

गत तीन दशकों में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पिछड़ी जातियों का उद्गमन देखा गया। यह चुनावी राजनीति में अधिक शानदार रहा है। यद्यपि पिछड़ी जातियाँ देश के कुछ भागों में एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक शक्ति बन गईं, खासकर दक्षिण भारत में और भी पहले, उन्होंने राष्ट्र का ध्यान 1990 में केन्द्र में वी.पी. सिंह के नेतृत्व वाली सरकार द्वारा मण्डल आयोग रिपोर्ट पेश किए जाने के बाद ही आकृष्ट किया। इस इकाई में हम पढ़ेंगे – भारत में पिछड़े वर्गों की सामूहिक कार्रवाइयों से जुड़े विभिन्न पहलुओं के विषय में।

8.2 पिछड़ा-वर्ग जन कौन हैं?

मार्क गैलेण्टर अपनी पुस्तक *कम्पीटिंग इक्वॉलिटीज़ : लॉ एण्ड द बैकवर्ड क्लासिज़ इन इण्डिया* में लिखते हैं कि पिछड़ी जातियाँ बहुत ही अबद्ध संकल्पना है। समाजशास्त्रीय रूप से, इन वर्गों में एक बड़ी संख्या में वे पिछड़ी जातियाँ आती हैं जो अनुसूचित से ऊपर और उच्च जातियों से नीचे रहती हैं। यानी इन जातियों में मध्यवर्ती जातियाँ आती हैं – खेतीहर जातियाँ, कारीगर जातियाँ और सेवक जातियाँ। परम्परागत सामाजिक एवं आर्थिक प्राधारों में, जबकि खेतीहर जातियाँ और शिल्पकार/ कारीगर जातियाँ समाज को सेवाएँ प्रदान करती थीं। अन्य-पिछड़ा वर्ग (ओ.बी.सी.) के नाम से पिछड़ी जातियाँ उन पिछड़े वर्गों से अलग हैं जिनमें दलित/ अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ शामिल हैं। प्रमुख मध्यवर्ती अन्य-पिछड़े वर्ग हैं : उत्तर प्रदेश, बिहार व राजस्थान जैसे उत्तर भारतीय राज्यों में और उनमें से कुछ हरियाणा व मध्य प्रदेश में भी यादव, कुर्मी, कोएरी, गुज्जर व जाट; आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक व तमिलनाडु जैसे दक्षिण भारतीय राज्यों में काप्पू, काम्मा, रेड्डी, वोकलिग्गा, लिंगायत, मुद्लियर; तथा गुजरात व

महाराष्ट्र जैसे पश्चिम भारतीय राज्यों में पटेल, कोली, क्षत्रिय व मराठा। वे उच्च अथवा प्रबल पिछड़े वर्गों से संबंध रखते हैं। सेवक जातियाँ व कारीगर/ शिल्पकार जिनमें प्रमुख जातियाँ हैं – बढ़ई, लुहार, नाई, भिश्ती, आदि लगभग सभी राज्यों में घटती-बढ़ती संख्या में पाये जाते हैं। इनको कुछ राज्यों में सर्वाधिक पिछड़ी जातियाँ (एम.बी.सी.) भी कहते हैं। इनके संबंधों पर जजमानी प्रथा का नियंत्रण था। इस प्रथा में सेवक एवं कारीगर वर्ग को प्रबल अथवा श्रेष्ठ जातियों का सरपरस्त माना जाता था। परवर्ती में उच्च जातियाँ और मध्यवर्ती खेतीहर दोनों ही जातियाँ शामिल थीं। इस इकाई में पिछड़े वर्ग व अन्य-पिछड़े वर्ग को अदल-बदल कर प्रयोग किया जायेगा।

अन्य-पिछड़े वर्गों में, दरअसल, विषमजातीय जाति-समूह आते हैं जिनकी सामाजिक व आर्थिक दशाओं तथा राजनीतिक भागीदारी में अंतर पाए जाते हैं। यहाँ तक कि ऐसे अन्य-पिछड़े वर्ग जिनमें सामाजिक पदानुक्रम में उनके स्थान के लिहाज से साझा अभिलक्षण पाए जाते हैं, वे भी अपने कृषिक इतिहास पर निर्भर करते हुए एक दूसरे से भिन्न होते हैं। जहाँ तक कि कृषिक प्राधार में उनकी स्थिति का संबंध था सभी मध्यवर्ती जातियाँ जिन्हें अब अन्य-पिछड़े वर्गों के रूप से जाना जाता है, निकृष्ट समूह से ताल्लुक नहीं रखती थीं। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश के अधिकांश भाग, पंजाब जिसमें वर्तमान हरियाणा का क्षेत्र शामिल है, और राजस्थान के भरतपुर क्षेत्र में जाट स्वतंत्रता के पूर्व काल में भी एक प्रबल समुदाय थे। न्यायिक एवं सामाजिक मामलों को देखने के लिए उनकी अपनी परंपरागत जाति-परिषदें अथवा खाप होती थीं जिनका मुखिया वंशागत सरदार अथवा चौधरी होता था। वे ज़मीन की खेती में लगे स्वतंत्र कृषक-स्वामी थे; उनके ऊपर कोई ज़मींदार नहीं होता था और वे सरकार को लगान अपने ही प्रतिनिधियों के माध्यम से पहुँचाया करते थे। चूँकि वे अपने व राज्य के बीच किसी भी ज़मीदार से मुक्त थे, उन्हें अन्य ग्राम समुदायों में प्रभावशाली स्थान प्राप्त था। परन्तु अधिकांश अन्य मध्यवर्ती जातियाँ स्वतंत्र कृषक-स्वामी नहीं थीं। वे उन ज़मींदरों की असामी या पहरेदार हुआ करती थीं, जो अनेक उदाहरणों में दूरवासी थे। परवर्ती द्वारा उनका शोषण अनेक तरीकों से किया जाता था। ये मध्यवर्ती जातियाँ ज़मीदारों के शोषण के अधीन थीं, यथा सेवक और कारीगर जातियाँ। इस प्रकार, विभिन्न जातियों से संबंध रखने के बावजूद ये मध्वर्ती जातियाँ दस्तकार एवं सेवक जातियाँ – कुछ साझा सांस्कृतिक एवं आर्थिक अभिलक्षण रखती थीं। यही कारण है कि अन्य-पिछड़े वर्ग वे जातियाँ हैं जो शैक्षिक और सामाजिक रूप से पिछड़ी हुई हैं, ज़रूरी नहीं कि वे आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से भी पिछड़ी हों।

किसी अन्य-पिछड़ा वर्ग के रूप में वर्गीकृत अथवा स्वीकृत किया जाना एक राजनीतिक मुद्दा है। किसी समुदाय को एक अन्य-पिछड़ा वर्ग के रूप में पहचान प्राप्त करने के लिए पर्याप्त राजनीतिक जोड़-तोड़ और पैबंदबाज़ी करनी पड़ती है। अन्य-पिछड़े वर्गों के रूप में पहचान प्राप्त करने के लिए इन जातियों द्वारा माँग के अनेक उदाहरण मौज़ूद हैं। 1999 में राजस्थान सरकार और 2000 में उत्तर प्रदेश सरकार ने जाटों को भी अन्य-पिछड़े वर्गों की सूची में शामिल कर लिया।

8.3 पिछड़ी जातियों की सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ: राज्यीय नीतियों का प्रभाव

सरकार की नीतियों के परिणामस्वरूप देहात में स्वातंत्र्योत्तर काल में ये पिछड़ी जातियाँ एक सशक्त सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक गुट के रूप में उभरीं। परन्तु उनके बीच अन्तर्जात विभेद कायम ही

रहे। जबकि मध्यवर्ती जातियाँ ग्राम समाज के मामलों पर नियंत्रण करने लगीं, दस्तकार और सेवाई जातियाँ उपान्तिक समूहों की पंक्ति में शामिल हो गयीं, यथा वेतनभोगी मज़दूर, उपांतिक एवं ग़रीब किसान आदि। यद्यपि उच्च पिछड़ी अथवा मध्यवर्ती जातियाँ भी आर्थिक एवं शैक्षिक पात्रताओं के लिहाज से विशिष्टीकरण के अधीन हैं, राजनीतिक लिहाज से ये भेद धुंधले पड़ जाते हैं।

देश में पिछड़े वर्गों के उदय विषयक सरकारी नीतियों के प्रभाव पर चर्चा भी आवश्यक है। उन पर प्रभाव डालने वाली प्रमुख नीतियों में शामिल थीं : भूमि-सुधार जिनमें शामिल थे – ज़मींदारी प्रथा का उन्मूलन, भू-सम्पत्तियों के आकार का सीमानिर्धारण, भू-सम्पत्तियों का समेकन, और देश के चुनिंदा इलाकों में हरित क्रांति; तथा निम्न पिछड़े वर्गों के कुशल-मंगल हेतु कल्याण-योजनाएँ। सरकारी नीतियों के अलावा उन परिवर्तनों ने भी उन्हें प्रभावित किया जो समाज के भीतर होते ही रहते थे, यथा जनसंख्या वृद्धि, जजमानी प्रथा का टूट जाना, आदि।

यद्यपि देश के विभिन्न राज्यों में सरकारी नीतियों का वहाँ के पिछड़े वर्गों पर एक सा और इच्छानुकूल प्रभाव नहीं पड़ा, उन्होंने पिछड़े वर्गों को बढ़ावा ज़रूर दिया। वे अपनी ज़मीन के मालिक बन गए जिस पर कि वे काश्तकारों के रूप में भूमि-सुधारों से पूर्व खेती करते रहे थे, और देश के कई भाग़ों में ग्राम पंचायत जैसी स्थानीय स्तर की राजनीतिक संस्थाओं पर अधिकार जमा लिया। गाँव की ज़मीन पर नियंत्रण के साथ-साथ अपनी संख्यात्मक शक्ति की वजह से उन्होंने ग्राम वोट-बैंकों पर भी नियंत्रण जमा लिया। सभी उच्च पिछड़े वर्ग इस परिवर्तन के ही संबद्ध उदाहरण हैं, यथा – जाट, यादव, कुर्मी, गुज्जर, काप्पू, काम्मा, रेड्डी, लिंगायत, वोकलिग्गा, पटेल, कोली, मराठा, आदि।

यह उल्लेखनीय है कि तमाम सरकारी नीतियों के बीच एक हरित क्रांति ही थी जिसका ग्रामीण आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन पर सबसे आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। इससे प्रभावित होने वाले अधिकतर लोग उच्च पिछड़े वर्गों से ही संबंध रखते थे। इसने न केवल संबंधों के परंपरागत प्रतिमानों को गड़बड़ा दिया। इसकी पहचान थी– मशीनीकरण, कृषि में मानव श्रम का विस्थापन, बाज़ार अर्थव्यवस्था का विकास और कृषि का वाणिज्यीकरण। यहाँ तक कि पूँजीवादी का भी पिछड़े वर्गों पर भेददर्शी प्रभाव पड़ा। जबकि उच्च पिछड़े वर्ग मुख्य रूप से विपणन हेतु उत्पादन करते थे और स्थूलत: स्वयं-कृषक ही बने रहे, निम्न पिछड़े वर्गों से संबंध रखने वाले लोग कृषि अथवा ग़ैर-कृषि क्षेत्रों में वेतनभोगी मज़दूरों की कतार में आ गए या फिर शहरों की ओर पलायन ही कर गए।

यह तथ्य कि अन्य-पिछड़े वर्ग विभिन्न आर्थिक श्रेणियों और मझली जातियों से संबंध रखते हैं और काश्तकार एवं सेवाई जातियों से भी, ने ऐसे मुद्दों को उठाया है जो आर्थिक भी हैं और जाति-आधारित भी। जैसा कि हम आगामी पाठांशों – 8.4.2 व 8.4.3 में पढ़ेंगे, राष्ट्रीय व राज्य दोनों ही स्तरों पर पूरे स्वातंत्र्योत्तर काल में पिछड़े वर्गों की लामबन्दी का ध्यानाकर्षण केन्द्र ये जातियाँ ही रहीं। तथापि, इन मुद्दों की प्रकृति समय के साथ बदली है। उदाहरण के लिए, सामाजिक मुद्दों को ज़मींदारी प्रथा के उन्मूलन और भूमि-सुधारों के प्रथम चरण के क्रियान्वयन से पूर्व भू-सम्पत्ति में उन्हें स्वामित्व अधिकार दिए जाने की माँग संबंधी मुद्दों से जोड़ दिया गया। फिर इसके स्थान पर ऐसे मुद्दे आ गए जो मुख्यत: हरित क्रांति के बाद सामने आये थे, यथा – पिछड़े वर्गों हेतु राजनीतिक संस्थाओं एवं सरकारी नौकरियों में आरक्षण के मुद्दे के साथ-साथ फसलों के लाभजनक मूल्य, आर्थिक सहायताप्राप्त निवेश तथा बेहतर आधारभूत ढाँचा।

एक अन्य कारक जो पिछड़े वर्गों की सामाजार्थिक दशाओं में परिवर्तन से जुड़ा है, वो है अन्य-पिछड़े वर्गों के बीच एक मध्यवर्ग का उदय। शिक्षा-नीतियों की असफलता के बावज़ूद ऐसे शिक्षित व्यक्तियों का एक समूह जो उनके प्रवक्ता बन गए थे, पिछड़े वर्गों के बीच उठ खड़ा हुआ। तथापि, यह समूह इतना बड़ा नहीं था जितना कि उच्च जातियों के बीच ऐसा समूह था। स्वतंत्रता-पश्चात् आरम्भिक दशकों में पिछड़े वर्गों के कुछ प्रवक्ता थे – उत्तर भारत में चौधरी चरण सिंह, एस.डी. सिंह चौरसिया व चौधरी ब्रह्म प्रकाश।

8.4 स्वातंत्र्योत्तर काल में पिछड़ा-वर्ग आन्दोलन

8.4.1 उत्तर-दक्षिण तुलना

उत्तर भारत के मुकाबले दक्षिण भारत में पिछड़े वर्ग काफी पहले ही संघटित हो चुके थे। उन्होंने सरकारी नौकरियों में न केवल आरक्षण प्राप्त कर लिया अपितु वे सामाजिक आन्दोलन में भी संघटित हो गये और उत्तर भारत के पिछड़े वर्गों के राजनीति में आने से काफी पहले ही वे दक्षिण भारत की राजनीति में आ गए। क्रिस्तोफ़ ज़ैफ़रलो अपनी पुस्तक *इण्डियाज़ – साइलण्ट रिवलूशन : द राइज़ ऑफ़ द लो कास्ट्स इन नॉर्थ इण्डियन पॉलिटिक्स* में दक्षिण भारत में पिछड़े वर्गों के जल्दी उदय होने और भारत में उनके देर से उदय होने का श्रेय क्रमशः नृजातीकरण और संस्कृतीकरण को देते हैं। नृजातीकरण के माध्यम से दक्षिण भारत के पिछड़े वर्गों ने ब्राह्मणवादी प्रभुत्व पर सवाल उठाया और पिछड़े वर्गों अथवा द्रविड़ों को लाने का प्रयास किया। यह दक्षिण भारत में संस्कृतीकरण के खिलाफ़ एक विद्रोह था। उन्होंने सरकारी संस्थाओं में आरक्षण पा लिया और राजनीति में ब्राह्मणवादी प्रभुत्व को भी बदल डाला। उत्तर भारतीय राज्यों के मुकाबले, जहाँ अन्य-पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण विभिन्न समयांतरालों पर 'सत्तर के दशक से लागू किए गए, दक्षिण भारतीय राज्यों ने 'साठ के दशक तक ही अन्य-पिछड़े वर्गों हेतु आरक्षण दिए जाने की प्रक्रिया पूरी कर ली थी। दक्षिण भारत में यह प्रक्रिया, दरअसल, 1921 में ही शुरू हो चुकी थी जब मैसूर के महाराजा ने वहाँ ब्राह्मण एकाधिकार समाप्त करने के लिए सरकारी नौकरियों में अन्य-पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण लागू करने का फैसला लिया था। स्वातंत्र्योत्तर काल में पिछड़ा-वर्ग संगठनों एवं राजनीतिक दलों की ओर से पड़ते रहे दबाव के चलते दक्षिण भारत में विभिन्न राज्यों में पिछड़ा-वर्ग आयोग गठित कर दिए थे, जिन्होंने पिछड़े वर्गों के हितों को अपना समर्थन दिया। दूसरी ओर, उत्तर भारत में पिछड़े वर्ग संस्कृतीकरण की प्रक्रिया से गुज़र रहे थे। दक्षिण भारत में अपने प्रतिपक्ष से भिन्न, उन्होंने उच्च जातियों के रीति-रिवाज़, आचार-व्यवहार और प्रथाओं को अपनाने का प्रयास किया। अनेक पिछड़े वर्गों ने अपने ख़ानदान उच्च जातियों – ब्राह्मण अथवा क्षत्रियों में खोजे।

विद्वत्जन उत्तर व दक्षिण के बीच इस भेद को निम्नलिखित तरीके से स्पष्ट करते हैं। ब्राह्मणों ने दक्षिण भारत में निम्न जातियों पर उच्च जातियों के प्रभुत्व को एकाधिकार में ला दिया था और उनकी संख्या उत्तर भारत के ब्राह्मणों के मुकाबले काफ़ी बड़ी थी। दूसरी ओर, उत्तर भारत में उच्च जाति से संबद्ध एकमात्र ब्राह्मण ही नहीं थे। निम्न जातियों पर उनका प्रभुत्व बँट गया, तदनुसार कई उच्च जातियों द्वारा वह तनुकृत हो गया, यथा राजपूत, कायस्थ अथवा वैश्य द्वारा भी। उत्तर भारत में आर्य समाज जैसे संगठनों ने पिछड़े वर्गों के बीच यह संदेश पहुँचाया कि समाज में किसी व्यक्ति का स्थान-निर्धारण जन्म

से नहीं अपितु कर्म से होता है। जबकि इसने पिछड़े वर्गों को प्रोत्साहित किया कि उच्च जातियों से अपना नाता जोड़कर, जनेऊ आदि धारण करके, अपने आपको सुसंस्कृत बनाएँ, उन्होंने शुद्धि आन्दोलन के माध्यम से उन मुसलमानों को हिन्दू धर्म में वापस लाने का भी प्रयास किया जिनके प्रति यह धारणा थी कि उन्होंने हिन्दू धर्म छोड़कर दूसरा धर्म अपनाया था। इसने उच्च जातियों अथवा ब्राह्मणवाद के आधिपत्य को चुनौती देने की बजाय उसे पुनरुज्जीवित किया और उसे मज़बूती प्रदान की। परिणामस्वरूप इसने उत्तर भारत में सशक्त पिछड़ा-वर्ग आन्दोलन के अवसरों पर पानी फेर दिया। दक्षिण भारत में पिछड़े वर्ग वस्तुतः ग़ैर-ब्राह्मण वर्ग ही थे। उत्तर भारत में अपने प्रतिपक्षों से भिन्न, उन्होंने उच्च जातियों, यथा ब्राह्मणों का अनुसरण करने का प्रयास नहीं किया, उन्होंने दरअसल संस्कृति, प्रशासन एवं राजनीति में उनके प्रभुत्व पर सवाल उठाया। दक्षिण में ब्राह्मण प्रभुत्व के खिलाफ द्रविड़ विद्रोह की सर्वाधिक प्रभावशाली अभिव्यक्ति 'बीस व 'चालीस के दशकों में ई.वी. रामास्वामी नायकर उर्फ़ पेरियार के नेतृत्व वाले आत्म-सम्मान आन्दोलन (**Self Respect Movement**) द्वारा दी गई। यह आन्दोलन इस आधारवाक्य पर टिका था कि भारत के मूल निवासी ग़ैर-ब्राह्मण अथवा द्रविड़ जन ही हैं, न कि ब्राह्मण जन। इस आन्दोलन को मुख्य सिद्धांत था – सामधर्म अथवा समानता। अपना आत्मसम्मान पाने के लिए ग़ैर-बाह्मणों को शिक्षा, संस्कृति, राजनीति और प्रशासन में ब्राह्मणों का प्रभुत्व समाप्त कर वहाँ खुद आ जाना चाहिए। आत्म-सम्मान आन्दोलन में शामिल थे : विवाह आदि रीति-रिवाज़ों में ब्राह्मणों का बहिष्कार; वर्णाश्रम धर्म की निन्दा; 'मनुस्मृति' को जलाना, आदि। ग़ैर-बाह्मणों ने अपनी संस्थाओं के नाम में "द्रविड़" और "आदि" प्रत्यय लगा दिया। एम.सी. रांजा (1883-1947) द्रविड़ विचारधारा के एक अन्य पक्षधर हुए हैं। वह 1916 में आदि द्रविड़ महासभा के अध्यक्ष बने और 1928 में अखिल भारतीय दमित वर्ग सम्मेलन की अध्यक्षता की।

न केवल दक्षिण भारत बल्कि पश्चिम भारत तक में पिछड़े वर्गों को उत्तर भारत के मुकाबले काफ़ी पहले ही लामबंदी किया जा चुका था। एक पिछड़ी जाति – माली में जन्मे ज्योतिबा फुले ने 1973 में बम्बई महाप्रान्त में 'सत्य शोधक समाज' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य था– दलितों व ग़ैर-ब्रह्मणों अथवा पिछड़े वर्गों समेत निम्न जातियों को संघटित करना। आप तदन्तर अनेक समाज सुधारकों के लिए प्रेरणास्रोत बन गए, जिनमें उल्लेखनीय हैं – ई.वी. नायकर, डॉ. भीमराव अम्बेडकर और कोल्हापुर के ग़ैर-ब्राह्मण मराठा शासक साहूजी महाराज। सत्य शोधक समाज अछूतों और पिछड़ी जाति के किसानों को संगठित करने में सफल रहा। क्रिस्तोफ ज़ैफ़रलों फुले को इस प्रकार का पहला समाज सुधारक मानते हैं जो "संस्कृतीकरण के चक्कर" में नहीं पड़ा वह ऐसा भी प्रथम सुधारक था जिसने बहुजन समाज, यथा निम्न जातियों, पिछड़े और अछूतों को एक गठबंधन में लाने का प्रयास किया। उन्होंने एक आर्य सिद्धांत दिया जिसके अनुसार उच्च जाति के आर्य भारत के मूल निवासी नहीं थे; वे बाहर से आये थे। मूल निवासी थे – अछूत, दस्तकार, सेवाई जातियाँ और पिछड़े कृषक वर्ग। फिर उच्च जातियों ने निम्न जातियों को अपने अधीन कर लिया और उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उनके आर्य सिद्धांत ने 'बीसवीं शती-आरम्भ व उसके बाद के अनेक निम्न जातियों के नेताओं को प्रेरणा प्रदान की; मंगूराम ने कहा कि पंजाब के दलित आदि-धर्मी हैं; उत्तर प्रदेश में अछूतानन्द ने कहा कि उत्तर प्रदेश के दलित आदि-हिन्दू हैं; और दक्षिण भारतीय किसानों का मानना था कि ब्राह्मणजन उनके क्षेत्रों में बाहर से आये आर्यजन हैं, और द्रविड़ों के रूप में वे ही अपने क्षेत्र में मूल निवासी हैं।

मराठा राजवंश जैसे बड़ौदा के महाराजा और शिवाजी के वंशज, कोल्हापुर के महाराजा, साहू ने फुले के

विचारों से प्रभावित होकर अपने प्रशासन में ब्राह्मणों के प्रभुत्व को चुनौती थी। साहू ने प्रशासन के प्रभुत्व को समाप्त करने के लिए नीतियाँ लागू कीं। उन्होंने निचली जातियों से आने वाले छात्रों के लिए छात्रावास बनाया; 1917 में प्राथमिक शिक्षा नि:शुल्क और अनिवार्य कर दी; और सबसे महत्त्वपूर्ण रूप से उन्होंने राज्य प्रशासन में 'पिछड़े समुदायों के सदस्यों'' के लिए सरकारी नौकरियों में 50 प्रतिशत सीटें आरक्षित कर दीं। उन्होंने मराठाओं को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया कि वे प्रशासन में ब्राह्मणों के स्थान पर आयें और उन्हें ब्राह्मण पुजारियों के स्थान पर रखा गया। पुन: 1919 में ब्रिटिश प्रशासन ने बम्बई महाप्रांत की विधान परिषद् में मराठाओं और सम्बद्ध जातियों के लिए सात सीटें आरक्षित कर दीं। बम्बई महाप्रांत में अखिल भारतीय मराठा माली संघ, यादव गावली संघ जैसे संगठन उठ खड़े हुए। इन संगठनों ने विभिन्न ग़ैर-ब्राह्मण जातियों का एक गठबंधन तैयार करने के लिए कठोर प्रयास किए।

8.4.2 चुनावी लामबंदी

भारत में पिछड़ा-वर्ग राजनीति मुख्य रूप से राजनीतिक दलों और नेताओं द्वारा चुनावी लामबंदी और उनके बीच समर्थनाधार तैयार करने से जुड़ी रही है। अन्य-पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण जैसे अन्य मुद्दे अथवा वर्गाधारित मुद्दों पर उनका संघटन, जैसे किसानों से जुड़े मुद्दे, भी चुनावी राजनीति से जुड़ जाया करते हैं। अन्य-पिछड़े वर्गों की बढ़ती भागीदारी, राज्य विधानसभाओं व संसद में उनका प्रवेश पिछड़े वर्गों के सशक्तीकरण का द्योतक है। स्वातंत्र्योत्तर काल में सहभागितापूर्ण राजनीति में पिछड़े वर्गों को संघटित कर लाने के लिए विशिष्ट नेताओं व राजनीतिक संगठनों की ओर से तमाम प्रयास किए गए हैं। जबकि दक्षिण एशिया में पिछड़े वर्ग स्वतंत्रतापूर्व उदय हुए और इस विरासत से स्वातंत्र्योत्तर काल में लाभांवित हुए, उत्तर भारत में उनका व्यवस्थापरक संघटन स्वातंत्र्योत्तर काल में ही हुआ। वे प्रमुख नेतागण व राजनीतिक दल जिन्होंने उत्तर भारत में पिछड़े वर्गों को संघटित किया, में शामिल हैं : चौधरी चरण सिंह, कर्पूरी ठाकुर, समाजवादी पार्टियाँ और विभिन्न समयांतरालों पर विभिन्न राजनीतिक संघटन, जैसे उत्तर प्रदेश व बिहार में क्रमश: समाजवादी पार्टी और राष्ट्रीय जनता दल।

चौधरी चरण सिंह ने एक सुनियोजित रणनीति के माध्यम से उत्तर प्रदेश और बिहार में मझली-जाति कृषि-वर्ग के बीच अपने लिए एक राजनैतिक आधार तैयार कर लिया। उन्होंने ऐसा कांग्रेस पार्टी का सदस्य रहते हुए कर लिया। यद्यपि जाट, जिस जाति के वह थे, उत्तर प्रदेश में 2000 और राजस्थान में 1999 तक अन्य-पिछड़े वर्गों की औपचारिक श्रेणी में नहीं आ पाये थे, उन्होंने अपनी पहचान उत्तर प्रदेश व बिहार के पिछड़े वर्गों के साथ ही बनाई। ये जातियाँ प्रमुखत: थीं – यादव, कुर्मी, कोएरी, काच्छी, लोध आदि। चरण सिंह की रणनीति दो-तही थी – उन्होंने जाति मुद्दे को वर्ग मुद्दे से जोड़ दिया। 'पचास से लेकर 'साठ के दशक तक उन्होंने यादव, कुर्मी, कोएरी व लोध से संबद्ध पिछड़े वर्गों की अनेक सभाओं को सम्बोधित किया; 1953 में बधोई में पिछड़ा-वर्ग सभा में भाग लिया। उन्होंने ज़मींदारी प्रथा के उन्मूलन में कांग्रेस की भूमिका की सराहना भी की, जिसमें उन्होंने प्रमुख और निर्णायक भूमिका निभाई थी। चरण सिंह के कार्यकलापों ने उनकी छवि एक पिछड़े वर्ग के नेता की बना दी। इससे कांग्रेस के भीतर फूट पड़ गई; उच्च जाति के कुछ कांग्रेसी नेताओं ने उन पर पिछड़े वर्गों के साथ अपनी पहचान बनाने का आरोप लगाया। उनका तर्क था कि उन्होंने उच्च जातियों से कांग्रेस को विमुख कर दिया है, और सुझाव दिया कि कांग्रेस के प्रति इन जातियों का समर्थन वापस हासिल करने के लिए प्रयास किए जाएँ। चरण सिंह ने अपना बचाव यह कहकर किया कि वह पिछड़े वर्गों की हिमायत नहीं कर रहे,

बल्कि कांग्रेस ने उनकी उपेक्षा की है। जब चरण सिंह 1967 में कांग्रेस छोड़ आये और संयुक्त विधायक दल (एस.वी.डी.) की गठबंधन सरकार बना ली, उन्होंने मंत्रालय में पिछड़े वर्गों को 29-63 प्रतिशत प्रतिनिधित्व दिया उनके नेतृत्व में उनके भारतीय क्रांति दल के संयुक्त समाजवादी पार्टी (एस.एस.पी.) के विलय ने, जिसके परिणामस्वरूप 1974 में भारतीय लोक दल का गठन हुआ, उन्हें समाजवादियों का एक घनिष्ट मित्र बना दिया। इससे उन्हें उत्तर प्रदेश व बिहार दोनों ही राज्यों में पिछड़े वर्गों के बीच सहयोगियों से संधि करने में मदद मिली। बिहार में कर्पूरी ठाकुर और हरियाणा में देवी लाल जैसे सहयोगियों के माध्यम से चरण सिंह उत्तर भारत में पिछड़े वर्गों व कृषि-वर्ग के नेता के रूप में उभरे। इसी बीच, भूमि-सुधारों, हरित क्रांति और शैक्षिक व अन्य नीतियों का लाभ उठाकर 'सत्तर के दशक तक उत्तर प्रदेश के राजनीतिक दृश्य-पटल पर मध्यवर्ती जातियों से संबद्ध नेताओं की एक नई पीढ़ी उभर आयी। 1987 में चरण सिंह और 1989 में कर्पूरी ठाकुर की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने उत्तर भारत की राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है, विशेष रूप से उत्तर प्रदेश और बिहार में। मुलायम सिंह यादव, लालू प्रसाद यादव और नीतीश कुमार कुछ ऐसे ही उदाहरण हैं। कुछ समय पूर्व, 'तीस के दशक में, बिहार में तीन प्रमुख पिछड़े वर्गों – यादव, कुर्मी और कोएरी ने 'त्रिवेणी संघ' बनाया ताकि चुनावी राजनीति में उच्च जातियों – ब्राह्मणों, भूमिहारों व राजपूतों के प्रभुत्व को समाप्त कर खुद स्थान लिया जा सके। यह गठबंधन, बहरहाल, 1937 के चुनावोपरांत टिका नहीं रह सका।

सञ्जय कुमार अपने लेख "न्यू फेज़ इन बैकवर्ड कास्ट पॉलिटिक्स इन बिहार, 1990-2000'' (1991) में लिखते हैं कि बिहार में 1995 का विधानसभा चुनाव ही था जिसने उक्त राज्य में अन्य-पिछड़े वर्गों के सशक्तीकरण की ओर एक नया रुझान दर्शाया। इसका संकेत था – पिछड़ा-वर्ग समर्थनाधार का ध्रुवीकरण; यादवों ने जनता दल को समर्थन दिया जबकि कुर्मियों और कोएरियों ने समता पार्टी को। यह सत्य है कि भाजपासमेत विभिन्न पार्टियों की उनके समर्थन में विभाजन के बावज़ूद, अन्य-पिछड़े वर्ग बिहार की विभाजन के बावज़ूद, अन्य-पिछड़े वर्ग बिहार की राजनीति में एक ताकत के रूप में गिने जाने लगे हैं। विभिन्न दलों को पिछड़े वर्गों का समर्थन बँट जाना उनकी सशक्तीकरण की दिशा में पिछड़े वर्गों के बीच प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति का सूचक है। गुजरात के उदाहरण में घनश्याम शाह का तर्क है कि भाजपा को अन्य-पिछड़े वर्गों का संकेतक है। गुजरात के उदाहरण में घनश्याम शाह का तर्क है कि भाजपा को अन्य-पिछड़े वर्गों का समर्थन मिलने का मतलब "ब्राह्मणवादी प्रभुत्व'' वाली विचारधारा को उनका समर्थन नहीं है। यह एक "चुनावी खेल का हिस्सा'' है जिसमें उच्च पिछड़े वर्गों की आवश्यकतापूर्ति होती है।

यह कहा जा सकता है कि उत्तर भारत में 'सत्तर के दशक तक एक सामाजिक गुट के रूप में पिछड़े वर्गों के उभर जाने के बाद उनका संगठन मुख्य तौर पर चुनावी राजनीति के लिहाज से ही होता रहा है, यथा राजनीतिक दल द्वारा अन्य-पिछड़े वर्ग को पार्टी-टिकट दिया जाना, या फिर पिछड़े वर्गों को पार्टी-टिकट दिया जाना, या फिर पिछड़े वर्ग के नेताओं अथवा जिन्हें उनसे ही पहचान प्राप्त है, के नेतृत्व में विधानसभाओं व संसद में प्रवेश और सरकारों का गठन। चरण सिंह के नेतृत्व में विभिन्न नामों वाले राजनीतिक दलों, विभिन्न स्वार्थी गुटों वाले जनता दलों और मुलायम सिंह के नेतृत्व वाली समाजवादी पार्टी को पिछड़े वर्ग पार्टियों के रूप में पहचाना जा सकता है। एक राजनीतिक दल के रूप 'अस्सी के दशक में बसपा के उदय ने बहुजन समाज, पिछड़े वर्गों व दलितों के गठबंधन हेतु अवसर के द्वारा खोल दिए। इससे 1993-94 में उत्तर प्रदेश में सरकार बनाने के लिए बहुजन समाज पार्टी और बसपा – अन्य-पिछड़े वर्गों व दलितों के प्रतिनिधि एक साथ आ खड़े हुए। परन्तु अन्य-पिछड़े वर्ग और

इन पार्टियों के दलित सामाजिक आधार के बीच परस्पर विरोधों तथा नेताओं के बीच व्यक्तिगत मतभेदों के कारण वे अपना गठबंधन कायम नहीं रखे। यहाँ तक कि बड़ी संख्या में भाजपा नेतागण भी अन्य-पिछड़े वर्गों से संबंध रखते हैं।

यह ध्यातव्य है कि विभिन्न पार्टियों द्वारा पिछड़ा-वर्ग संघटन उन उच्च पिछड़े वर्गों अथवा मध्यवर्ती जातियों तक ही सीमित रहा है जो ग्राम समाज के प्रबल हिस्सों का निर्माण करते हैं। दस्तकार और सेवाई जातियाँ जिन्हें आमतौर पर सर्वाधिक पिछड़े वर्ग (एम.बी.सी.) कहा जाता है, अधिकांश रूप में सशक्तीकरण से बहिष्कृत ही रहीं। तथापि, उन्हें सशक्त बनाने के लिए काफी प्रयास भी किए गए हैं। उदाहरण के लिए, 1975 में कांग्रेस सरकार ने उत्तर प्रदेश में सर्वाधिक पिछड़ा वर्ग आयोग का गठन किया जिसे आमतौर पर उसके अध्यक्ष, छेदी लाल साथी के नाम पर 'साथी आयोग' के नाम से जाना गया। 2001 में उत्तर प्रदेश के भाजपा मुख्यमंत्री राजनाथ सिंह ने भी हुकुम सिंह की अध्यक्षता में 'सामाजिक न्याय मंच का गठन किया ताकि प्रदेश के सर्वाधिक पिछड़े वर्गों को सशक्त करने के उपास सुझाये जा सकें।

इसी बीच जब चरण सिंह उत्तर प्रदेश में पिछड़े वर्गों के बीच अपना आधार तैयार करने का प्रयास कर रहे थे, उत्तर भारत में समाजवादी जन भी इस काम में लगे थे। उच्च जातियों के एकाधिकार को समाप्त करने के प्रयास में डॉ. राम मनोहर लोहिया ने कांग्रेस छोड़ते ही पिछड़े वर्गों को संघटित करने का प्रयास किया। उन्होंने सरकारी नौकरियों में पिछड़े वर्गों, दलितों व अल्पसंख्यकों के लिए 60 प्रतिशत आरक्षण की वकालत की। 1957 में 'अखिल भारतीय पिछड़ा वर्ग संघ' के एक विभिन्न समूह 'भारतीय राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग संघ' का विलय समाजवादियों और पिछड़े वर्गों को एक जगह ले आया। 'साठ के दशक भर समाजवादियों और पिछड़े वर्ग के नेताओं ने पिछड़े वर्गों के मुद्दों को उठाना जारी रखा। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण था – काका कालेलकर रिपोर्ट को लागू करने की माँग। मुलायम सिंह यादव और बी.पी. मण्डल जैसे नेता इस काल में सक्रिय रहे। परन्तु 'सत्तर के दशक तक उक्त संस्था अधुना लुप्त हो गई। तथापि, उभर कर आने वाले नेतागण उसके बाद भी अपने मुद्दों को उठाते रहे।

8.4.3 आरक्षण की राजनीति

केन्द्र सरकार की नौकरियों में अन्य-पिछड़े वर्गों हेतु 27 प्रतिशत आरक्षण की सिफ़रिश करने वाली 1990 में बी.पी. सिंह सरकार द्वारा 'मण्डल आयोग रिपोर्ट' लागू किए जाने से आरक्षण भारतीय राजनीति में एक राष्ट्रीय मुद्दा बन गया। इससे न केवल अपने समर्थन अथवा पक्ष में प्रतिक्रियाओं को आकृष्ट किया, उसने भारतीय राजनीति की रूपरेखा को भी बदल डाला। 1990 में जनता पार्टी सरकार द्वारा 'मण्डल आयोग' का गठन पिछड़े वर्ग के नेताओं के दबाव और उनकी पैबन्दबाज़ी का परिणाम था। जैसा कि पहले ज़िक्र किया गया, 'सत्तर के दशक तक पिछड़े वर्ग, विशेष रूप से वे जो मध्यवर्ती जातियों से संबंध रखते थे, भारत व उसके राज्यों की राजनीति में अपनी उपस्थिति का अहसास पहले ही करा चुके थे।

पिछड़े वर्गों हेतु आरक्षण की माँग संविधान सभा में पंजाब राव देशमुख द्वारा उठाई गई, जिस प्रकार डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने इसी प्रकार की माँग अनुसूचित जातियों के लिए उठाई थी। पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण मुद्दे को सामने लाने के लिए उन्होंने 26 जनवारी 1950 को 'अखिल भारतीय पिछड़ा वर्ग संघ'

(AIBCF) की स्थापना की। इस संस्था के भीतर एक ओर जो कांग्रेस के प्रति निष्ठा रखते थे और दूसरी ओर जो समाजवादी लोहियावादियों के प्रति अनुषक्ति रखते थे, के बीच मतभेद पैदा हो गए। इससे इस संघ में दरार पड़ गई – विछिन्न समूह ने अपना नाम राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग संघ (NBCF) रखा लिया। पूर्ववर्ती का नेतृत्व एक कांग्रेसी नेता पंजाबी राव देशमुख और परवर्ती का नेतृत्व आर.एल. चाँदपुरी द्वारा कियां गया। चाँदपुरी की मृत्यु के पश्चात् चौधरी ब्रह्मप्रकाश इसके नेता बने। इसके अलावा, बड़ी संख्या में अनौपचारिक और अपंजीकृत संगठन देश में विभिन्न राज्यों व विभिन्न स्तरों पर दिखाई दिए।

मण्डल आयोग प्रथम पिछड़ा-वर्ग आयोग की रिपोर्ट, यथा काका कालेलकर आयोग की रिपोर्ट को स्वीकृत करवाने हेतु पिछड़े वर्ग के नेताओं द्वारा अविरोधी माँग का परिणाम था। काका कालेलकर आयोग भी स्वतंत्रता के समय पिछड़े वर्ग के नेताओं द्वारा ऐसे ही आयोग हेतु माँग का परिणाम था। परन्तु काका कालेलकर की पिछड़े वर्गों की पहचान हेतु मापदण्ड के रूप में वर्ग संबंधी सिफ़ारिशों और संसद द्वारा आयोग की रिपोर्ट को रद्द किए जाने ने एक और आयोग गठित किए जाने की माँग की ओर प्रवृत्त किया जो कि पिछड़े वर्गों की पहचान हेतु मापदण्ड के रूप में सामाजिक व शैक्षिक पिछड़ेपन को लेता। मण्डल आयोग की रिपोर्ट के कार्यान्वयन ने, बहरहाल, आरक्षण के मुद्दे को निपटाया नहीं है। नए-नए समूहों द्वारा अन्य-पिछड़े वर्गों के रूप में स्वयं को मान्यता दिए जाने हेतु माँग किया जाना अभी भी जारी है। कोई समुदाय अपने आपको अन्य-पिछड़े वर्ग के रूप में पहचान दिला पाता है या नहीं, एक राजनीतिक प्रश्न है; यह राजनीतिक कारकों पर निर्भर करता है।

8.5 सार-संक्षेप

पिछड़े वर्गों को अन्य-पिछड़े वर्गों अथवा ओ.बी.सी. के नाम से भी जाना जाता है। इनमें विजातीय समूह रहते हैं – मध्यवर्ती कृषक जातियाँ, काश्तकार व सेवाई जातियाँ। जबकि अन्य-पिछड़े वर्गों अथवा उच्च पिछड़ों के बीच मध्यवर्ती जातियाँ देश में सबसे हठधर्मी सामाजिक समूहों के रूप में उभरी हैं, अन्य-पिछड़े वर्गों के अन्य भाग जिन्हें सर्वाधिक पिछड़े वर्ग (एन.बी.सी.) भी कहा जाता है, विकास व सशक्तीकरण के परिदृश्य से बाहर ही हैं। पिछड़े-वर्ग आन्दोलन दक्षिण भारत के मुकाबले उत्तर भारत में देर से ही शुरू हुआ। अन्य-पिछड़े वर्गों की लामबंदी इन मुद्दों इन मुद्दों के इर्द-गिर्द रही है – उनकी चुनावी भागीदारी और आरक्षण। उत्तर भारत में वे चरण सिंह, राममनोहर लोहिया समेत समाजवादियों, कर्पूरी ठाकुर एवं विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा संगठित किए गए हैं। उन्होंने अन्य-पिछड़े वर्गों के सामाजिक मुददों को कृषि-वर्ग के आर्थिक मुद्दों से जोड़ा। काका कालेलकर और मण्डल आयोगों का गठन और परवर्ती का लागू होना पिछड़ा-वर्ग आयोगों का गठन, उनसे जुड़ी नीतियाँ, उनका समर्थन और विरोध आदि का भारत में सामाजिक आन्दोलन की राजनीति में प्रासंगिक रहना जारी ही है।

8.6 अभ्यास प्रश्न

1) पिछड़े वर्ग क्या हैं? उनके उद्गमन पर सरकारी नीतियों के प्रभाव पर चर्चा करें।
2) उत्तर भारत में पिछड़े वर्गों की दशाओं की तुलना दक्षिण भारत में उनकी दशाओं से करें।
3) चुनावी राजनीति में पिछड़े वर्गों के संघटन प्रतिमानों पर चर्चा करें।
4) आरक्षण राजनीति पर एक टिप्पणी लिखें।

इकाई 9 नृजातीय आन्दोलनः जनजातियों के विशेष संदर्भ में

इकाई की रूपरेखा

9.1 प्रस्तावना

9.2 नृजातीय आन्दोलन क्या हैं?

9.3 नृजातीय आन्दोलनों के अध्ययनार्थ दृष्टिकोण

9.4 स्वातंत्र्योत्तर काल में नृजातीय आन्दोलन: एक सामान्य अवलोकन

9.5 जनजातियों के विशेष संदर्भ में नृजातीय आन्दोलन

 9.5.1 जनजातियाँ कौन हैं?

 9.5.2 उत्तर-पूर्व भारत की जनजातियाँ अथवा सीमान्त जनजातियाँ

 9.5.3 उत्तर-पूर्व भारत के अलावा अन्य क्षेत्रों की जनजातियाँ अथवा ग़ैर-सीमान्त जनजातियाँ

9.6 सार-संक्षेप

9.7 अभ्यास प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

ब्रिटिश शासन से मुक्ति मिलने के बाद, भारत द्वारा अपना वर्तमान रूप – एक संप्रभु, लोकतांत्रिक एवं धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र – धारण किए जाने से भी पहले से, विभिन्न नृजातीय समूह संस्कृति, अर्थव्यवस्था व राजनीति आदि क्षेत्रों में समाज में अपनी पहचान हेतु दुहाई देते रहे हैं। देश के स्वतंत्र होने के बाद इन दावों के स्वर और तीक्ष्ण हो गए। जैसे-जैसे समय बीतता गया विभिन्न समूहों द्वारा उत्तरोत्तर अधिक दावे किए जाते रहे, जिनमें से अनेक राजनीतिक परिदृश्य पर पहले कभी नहीं दिखाई दिए थे। कई विद्वत्जन इन आन्दोलनों को नृजातीय आन्दोलनों की श्रेणी में रखते हैं। प्रस्तुत इकाई में जनजातियों के विशेष संदर्भ के साथ भारत में नृजातीय आन्दोलनों पर चर्चा करने का प्रयास किया गया है।

9.2 नृजातीय आन्दोलन क्या हैं?

नृजातीय आन्दोलनों संबंधी समुचित बोध के लिए यह समझना आवश्यक है कि नृजातीयता से क्या तात्पर्य है, जिससे कि ये आन्दोलन जुड़े हुए हैं। नृजातीयता कुछ ऐसे मानदण्डों व चिह्नों के आधार पर किसी जन-समूह की पहचान की ओर संकेत करती है, जिनको माना जाता है कि वे एक दूसरे के साथ मिल-बाँटकर अनुभव किए जाते हैं। इन चिह्नों में शामिल हैं – संस्कृति, प्रजाति, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज़, इतिहास, आर्थिक अनुभव, आदि। इस प्रकार के सहजगुणों को आपस में बाँटने हेतु किसी जन-समूह के लिए एक अन्य वांछनीयता यह है कि वे कुछ माँगों को मनवाने के लिए किसी सामूहिक कार्रवाई में संघटित हो जायें। उन चिह्नों व सहजगुणों की संख्या जो एक नृजातीय समूह का आधार बनाते हैं, उस नृजातीय समूह अथवा उसके नेताओं द्वारा इन कारकों के विकल्प पर निर्भर करती है।

परन्तु किसी नृजातीय समूह के घटक सहजगुणों की संख्या के संबंध में विद्वानों के बीच मतभेद हैं। भारत में विद्वत्जन आम तौर पर उस लामबंदी को नृजातीय मानते हैं जो एक से अधिक सहजगुणों पर आधारित होता है, यथा – भाषा, धर्म, संस्कृति, इतिहास, अर्थव्यवस्था, आदि। उदाहरण के लिए, भाषा-आधारित लामबंदी को भाषायी लामबंद के रूप में लिया जाता है और इस प्रकार लामबंदी किए गए समूहों को भाषायी समूह माना जाता है। इसी प्रकार, जाति-आधारित लामबंदी को दलित, पिछड़े अथवा किसी अन्य लामबंदी के रूप में लिया जाता है। भारत में धर्म-आधारित लामबंदी को साम्प्रदायिक लामबंदी कहा जाता है। परन्तु वे विद्वान जो अमेरिकी व यूरोपीय परम्पराओं का अनुसरण करते हैं, एक ही सहजगुण – भाषा, धर्म, जाति आदि पर आधारित लामबंदी तक को नृजातीय लामबंदी की श्रेणी में रखते हैं। साम्प्रदायिक और नृजातीय लामबंदी में भी भेद नहीं करते। उदाहरण के लिए, पॉल.आर. ब्रास नृजातीय और साम्प्रदायिक लामबंद को अदल-बदल कर प्रयोग करते हैं। दूसरी ओर, दीपांकर गुप्ता अपनी पुस्तक *द कॉन्टैक्स्ट ऑफ़ ऍथनिसिटि : द सिख आइडेण्टिटि इन ए कॅम्पैरिटिव पर्सपैक्टिव* में सम्प्रदायवाद और नृजातीय के बीच भेद करते हैं। उनका तर्क है कि नृजातीय लामबंदी राष्ट्र-राज्य – राज्यक्षेत्र व संप्रभुता से जुड़ा होता है और साम्प्रदायिक संगठन में राष्ट्र-राज्य शामिल ही नहीं होता। वह विवाद में सरकार और दो या अधिक सम्प्रदायों तक ही सीमित रहता है, जिनमें से एक यह आरोप लगाता है कि सरकार दूसरे को प्राथमिकता देने में उसके विरुद्ध भेदभाव बरतती है। विवाद विषय रोज़गार, समुदायों के विशिष्ट अधिकार, आदि हो सकते हैं। उनके अनुसार, नृजातीय संघटन में राष्ट्र-राज्य के प्रतीक विचार हेतु एक नृजातीय समूह की निष्ठा पर संदेह किया जाता है। साम्प्रदायिक संघटन के मामले में ऐसा नहीं होता। साथ ही, समूह-पहचानें स्थायी नहीं होतीं। समय व स्थान के बदलते संदर्भ में एक नृजातीय पहचान साम्प्रदायिक रूप ले सकती है और यह बात विपरीततः भी सत्य है। तथापि, विद्वत्जनों के बीच सामान्य प्रवृत्ति समुदायों के बहु-लक्षण संघटन को नृजातीय मानने की पायी जाती है।

नृजातीयता एक तुलनात्मक शब्द भी है। एक नृजातीय समूह स्वयं को ऐसे दूसरे समूह से अलग सिद्ध करता है जो कि कुछ ऐसे सहजगुण भी रखता है जो उससे भिन्न हों। उसे लगता है कि उसे अन्य नृजातीय समूहों, और उनसे जुड़ी संस्थाओं व प्रक्रियाओं के काल्पनिक अथवा वास्तविक खतरों से अपनी पहचान और हितों की रक्षा करनी ही पड़ेगी। नृजातीय आन्दोलन नृजातीय समूहों की सांस्कृतिक पहचानों एवं उनके अन्य हितों की रक्षा एवं संरक्षण से संबद्ध होते हैं : एक अन्य संकल्पना जो कि नृजातीयता से जुड़ी है, वो है – राष्ट्रीय अथवा राष्ट्र। यद्यपि कुछ विद्वत्जन नृजातीयता, राष्ट्रीयताओं अथवा राष्ट्रों तक के बीच भेद करते हैं, प्रात: वे अदल-बदल कर प्रयोग की जाती हैं। यदि विद्वानों का एक वर्ग किसी एकाधिक पहचान चिह्न को नृजातीय संघटन के रूप में आधारित मानता है, अन्य ऐसे भी हैं जो इन्हें राष्ट्रों अथवा राष्ट्रीयताओं के संघटन के रूप में पुकारते हैं। इसी कारण, उपलब्ध साहित्य के आलोक में इस इकाई में 'नृजातीयता' एवं 'राष्ट्रीयता/राष्ट्र' शब्द एक दूसरे के साथ अदल-बदल कर प्रयोग किए गए हैं।

9.3 नृजातीय आन्दोलनों के अध्ययनार्थ दृष्टिकोण

वे सामाजिक आन्दोलन जिनमें नृजातीय आन्दोलन भी शामिल हैं, के अध्ययनार्थ दृष्टिकोणों के विषय में हम इकाई 2 में पहले ही पढ़ चुके हैं। तथापि, कुछ ऐसे दृष्टिकोण भी हैं जो खासतौर पर नृजातीय आन्दोलनों के अध्ययनार्थ प्रयोग किए जाते हैं। नृजातीय आन्दोलनों के अध्ययनार्थ सर्वाधिक सामान्य रूप

से प्रयुक्त दृष्टिकोण हैं : आदिकालीन (primordial) और करणवादी (instrumentalist) दृष्टिकोण। आदिम दृष्टिकोण का दावा है कि नृजातीय समूहों के रचना-आधार "प्रदत्त" होते हैं। किसी भी नृजातीय समूह की कुछ विशेषताएँ होती हैं जो कि उनके द्वारा उत्तराधिकार में प्राप्त की जाती हैं, यथा संस्कृति, भाषा, रीति-रिवाज़, धर्म आदि। इसी प्रकार, अन्य नृजातीय समूह भी कुछ उत्तराधिकार में प्राप्त अभिलक्षण रखते हैं। चूँकि विभिन्न नृजातीय समूहों के पहचानचिह्नों में अंतर एक दूसरे से भिन्न होते हैं, इन "प्रदत्त" विशेषताओं के कारण ही वे नृजातीय आन्दोलनों में शामिल होते हैं। विभिन्न नृजातीय समूहों के बीच संघर्ष होना तय ही होता है। दूसरी ओर, करणवादी दृष्टिकोण के पक्षधर यह मानते हैं कि नृजातीय समूह इन समूहों के नेताओं अथवा इन समूहों से संबंध रखने वाले अभिजात वर्ग की ही उपज होते हैं। जनसाधारण की भाषा, संस्कृति, रीति-रिवाज़ों, आर्थिक दशाओं आदि में भेदों अथवा सामाजिक मतभेदों को नृजातीय समूहों के अभिजात वर्ग द्वारा इच्छानुकूलित किया जाता है ताकि नृजातीय चेतना पैदा कर सकें और नृजातीय आन्दोलनों की शुरुआत कर सकें। नृजातीय आन्दोलनों के गठन और नृजातीय आन्दोलनों के जन्म हेतु वास्तविक एवं कल्पित दोनों ही कारण होते हैं। नृजातीय समुदाय जब कल्पित सहजगुणों के आधार पर बनाए जाते हैं, तदनुसार "निर्मित" समुदाय होते हैं। तीसरे दृष्टिकोण के पक्षधरों का मानना है कि ये दोनों दृष्टिकोण "द्वि-ध्रुवत्व" (bipolar) में अभिव्यक्त होते हैं – नृजातीय का आधार या तो "प्रदत्त" होता है या फिर "कल्पित" या फिर "निर्मित"। परन्तु इन दोनों ही दृष्टिकोणों के साथ कुछ समस्याएँ भी हैं। जबकि "आदिकालीन" दृष्टिकोण यह स्पष्ट नहीं करता कि क्यों और कैसे एक नृजातीय समूह सामूहिक कार्रवाई में संघटित हो जाता है, "करणवादी" यह स्पष्ट नहीं करता कि क्यों कोई नृजातीय समूह अभिजात्यों, नेताओं अथवा राजनीतिज्ञों के आह्वान का प्रत्युत्तर देता है। वे "द्वि-ध्रुवीय" दृष्टिकोण की बजाय आदिकालीन और करणवादी दोनों ही दृष्टिकोणों के सम्मिलन की वकालत करते हैं।

9.4 स्वातंत्र्योत्तर काल में नृजातीय आन्दोलनः एक सामान्य अवलोकन

देश के लगभग सभी बड़े क्षेत्रों में नृजातीय आन्दोलन देखे गए हैं। वे क्षेत्रीय स्वायत्तता हेतु, पृथक् राज्यों के निर्माण हेतु आन्दोलनों का रूप ले लेते हैं, संबंध-विच्छेद अथवा विप्लव हेतु माँग करते हैं। नृजातीय आन्दोलनों की इन अभिव्यक्तियों को "स्वायत्तता के आन्दोलन' भी कहा जाता है। कई मामलों में नृजातीय आन्दोलन सभी अथवा कुछ पहचानचिह्नों – जनजाति, जाति, भाषा, धर्म, आदि पर आधारित नृजातीय विभाजन की तर्ज पर विवादों अथवा उपद्रवों को भी बढ़ावा देते हैं। स्वायत्ता मॉडल आन्दोलन वस्तुतः उस राष्ट्र-राज्य निर्माण मॉडल पर सवाल उठाते हैं जिसे स्वतंत्र भारत द्वारा लागू किया गया था। नेहरूवादी अथवा महालैनोबिस नामक इस प्रतिमान में यह कल्पना की गई कि विकास अथवा आधुनिकीकरण के रास्ते में आरोप्य कारकों – भाषा, जाति, जनजाति, धर्म आदि के आधार पर बनी पहचानों विलुप्त हो जायेंगी और विकास धर्मनिरपेक्ष पद्धति पर आगे बढ़ेगा। परन्तु इससे काफ़ी पहले ही कि इस मॉडल का प्रभाव महसूस किया जा सकता, सभी मुख्य विचारों – भाषा, धर्म एवं राष्ट्रीयता के विषय में इस पर सवाल उठाए गए। यद्यपि ये आन्दोलन भाषा अथवा संस्कृति जैसे एकल पहचानचिह्न पर आधारित माँग को लेकर शुरू हुए, उन्हें उन लोगों का भी समर्थन मिला जो किसी क्षेत्र विशेष में एक से अधिक सहजगुणों के सहभागी थे। उत्तर-पूर्व में नागाओं द्वारा भारतीय संविधान के अस्वीकरण

से प्रारम्भ होकर (देखें इस इकाई का पाठांश 9.5.4) यह द्रविड़ नृजातीय आन्दोलन और भाषायी राज्यों के गठन हेतु माँग के रूप में फैला। दक्षिण में पृथक् आंध्र प्रदेश राज्य के निर्माण हेतु आन्दोलन, जम्मू-कश्मीर व पंजाब में आन्दोलन और मुम्बई में दक्षिण भारतीयों के खिलाफ़ शिव सेना का आन्दोलन कुछ उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

तमिलनाडु में ई.वी. रामास्वामी नायकर की विरासत को अपनाकर स्वातंत्रता-पश्चात् दो दशकों में नृजातीय आन्दोलन ने तीन मुद्दों को आधार बनाया – भाषा, द्रविड़ संस्कृति और धर्म। आन्दोलन के नेताओं का तर्क था कि उत्तर-भारतीय हिन्दी भाषा, ब्राह्मणवादी हिन्दू-धर्म और आर्य-संस्कृति द्रविड़ पहचान के विकास के प्रतिकूल हैं। इसी कारण, तमिल नृजातीय आन्दोलन ने हिन्दी भाषा थोपे जाने और भारत से संबंध-विच्छेद की माँग की थी। बहरहाल, 'साठ के दशकांत तक तमिल राष्ट्रीयता/ नृजातीय समूह द्वारा संबंध-विच्छेद हेतु माँग छोड़ दी गई। इसने फिर राज्य-स्वायत्तता हेतु आन्दोलन का रूप ले लिया; यथा राज्यों को अधिक स्वायत्तता दिए जाने में संघीय संबंधों का पुनर्गठन। यद्यपि भारत में द्रविड़ अधिकार-माँग 'साठ के दशक से हल्की पड़ गई है, हिन्दी भाषा थोपे जाने के विरुद्ध विचार अभी तक वहाँ संघटन के महत्त्वपूर्ण कारक हैं। उनके द्वारा जन्म दिए गए आन्दोलनों एवं हिंसा के ही आलोक में सालिग एस. हैरीसन को प्रेरणा मिली कि वह 'पचास –'साठ के दशकों को "सबसे खतरनाक दशक'' की संज्ञा दें।

भारत सरकार उक्त राज्य के भाषाई पुनर्गठन हेतु माँग पर पुनर्विचार करने हेतु प्रारम्भतः अनिच्छुक ही थी। परन्तु एक गाँधीवादी पी. श्रीनिवासुलु की मृत्यु उपरांत उसे इस माँग पर फिर से विचार करना ही पड़ा, जो कि एक भाषाई आंध्रप्रदेश राज्य की माँग करते हुए भूख-हड़ताल से मरे। 1953 में आंध्र प्रदेश बनाये जाने की माँग सरकार द्वारा मान लिए जाने ने 1956 में भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की ओर प्रवृत्त किया। परन्तु राज्यों के पुनर्गठन से पृथक् राज्यों हेतु माँग रुकी नहीं।

पंजाब में नृजातीय आन्दोलन को दो चरणों में बाँटा जा सकता है : 'पचास व 'साठ के दशक तथा 'अस्सी का दशक। यह तीन प्रकार के मुद्दों पर आधारित था – क्षेत्रीय, धार्मिक व आर्थिक। प्रथम चरण में अकाली दल की अगुवाई में पंजाब के नेताओं ने तर्क दिया कि चूँकि सिख जन पृथक् धर्म का पालन करते हैं और भिन्न भाषा बोलते हैं, उन्हें एक अलग राज्य मिलना चाहिए। कुछ अवसरों पर वह राज्य में हिन्दुओं और सिखों के बीच साम्प्रदायिक विभाजन में व्यक्त हुआ, जो नृजातीय/साम्प्रदायिक विवाद में परिणत हुआ। उन्होंने अपने लिए एक पृथक् पंजाब राज्य की माँग करते हुए 'पचास व 'साठ के दशकों में एक पंजाबी सूबा आन्दोलन छेड़ दिया। बलदेव राज नायर के अनुसार पंजाबी सूबा आन्दोलन में निम्न बातें शामिल थीं – संवैधानिक उपाय, जैसे ज्ञापन देना, रैलियाँ करना, मार्च करना; कांग्रेस संगठन में घुसना ताकि एक पृथक् राज्य के समर्थन में पार्टी पर प्रभाव बना सकें; और आन्दोलनात्मक उपाय जिनमें शामिल थे – तीर्थ-स्थलों को कूच करना, धमकी देना व बल-प्रयोग। पंजाबी सूबा आन्दोलन के परिणामस्वरूप, 1 नवम्बर 1966 को पंजाब एक अलग राज्य बना दिया गया। पॉल आर. ब्रास के अनुसार, 'पचास व 'साठ के दशकों में नृजातीय विवादों अथवा संघटन की ओर केन्द्र सरकार का रुख एक अलिखित कूट से प्रकट होता था – धार्मिक आधारों पर राज्यों के निर्माण हेतु माँगों के प्रति विरुचि; भाषाई, क्षेत्रीय अथवा अन्य सांस्कृतिक रूप से परिभाषित समूहों की माँगों को कोई रियायत नहीं जब तक कि उस विवाद में शामिल दोनों ही समूहों से उठने वाली माँग को समर्थन न हो। उनके मत में, एक

पृथक् पंजाब राज्य बनाये जाने हेतु माँग केवल तभी मानी गई जब उसी राज्य की हिन्दी-भाषी जनता हेतु पृथक् हरियाणा राज्य बनाये जाने हेतु माँग भी विद्यमान थी।

पंजाब में नृजातीय आन्दोलन 'अस्सी के दशक में फिर उठा। इसने एक राष्ट्र-राज्य के रूप में भारत की संप्रभुता को चुनौती दी। उसने एक संप्रभु खालिस्तान राज्य स्थापित करने का प्रयास किया, जो कि सिख धर्म के सिद्धांतों पर आधारित होना था। खालिस्तान आन्दोलन और उससे जुड़े मुद्दों का आमतौर पर लोगों के और शिक्षा संबंधी वार्तालाप में "पंजाब संकट/समस्या" के रूप में उल्लेख किया गया। यह आन्दोलन हिंसक हो गया और आम, शैक्षिक एक राजनैतिक बातचीत में आतंकवाद के साथ पहचाना जाने लगा। खालिस्तान आन्दोलन के पक्षधरों का कहना था कि भारत में सिखों के साथ, जो कि अल्पसंख्यक धर्म के अनुयायी हैं, भेदभाव किया गया है, बावज़ूद इसके कि भारतीय अर्थव्यवस्था और सेना में उनका काफ़ी योगदान रहा है।

'अस्सी के दशक में खालिस्तान आन्दोलन अथवा आतंकवाद देश में उस राजनीतिक घटनाक्रम का एक परिणाम रहा जो इससे पहले घट चुका था। 'सत्तर के दशक में पंजाब में कांग्रेस के आधिपत्य को अकाली दल ने चुनौती दी। इस चुनौती से निबटने के लिए कांग्रेस ने पंजाब में 1980 के विधानसभा चुनावों में सिख धार्मिक नेता संत जरनैल सिंह भिण्डरांवाले की मदद ली। भिण्डरांवाले की सेवाओं के उपयोग का देश व राज्य के लिए अपना ही सांस्कृतिक एवं राजनीतिक निहितार्थ था। इसने भिण्डरांवाले को प्रोत्साहित किया कि वह स्वतंत्र रूप से अपना अधिकार जमाये और खालिस्तान आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में ले ले। न सिर्फ़ बड़ी संख्या में सिख युवक ही इस आन्दोलन के प्रति आकर्षित हुए, बल्कि आन्दोलन को विदेशी ताकतों का भी सहारा मिला। सरकार ने 'ऑपरेशन ब्लू स्टार' से जवाब दिया – आतंकवादियों को पकड़ने के लिए सशस्त्र बलों को भेजा, जो कि संत भिण्डरांवाले समेत अमृतसर में 'स्वर्ण मन्दिर' में छुपे हुए थे। इसने अंततोगत्वा इंदिरा गांधी की हत्या की ओर प्रवृत्त किया। यह खालिस्तान आन्दोलन पंजाब में हिन्दुओं व सिखों के बीच नृज़ातीय विभाजन में भी परिणत हुआ।

विद्वानों ने पंजाब में 'सत्तर व 'अस्सी के दशकों के नृजातीय आन्दोलन को समाजार्थिक एवं राजनीतिक कारकों के रूप में स्पष्ट किया है। वे जो इसे सामाजिक-आर्थिक के रूप में स्पष्ट करते हैं, मार्क्सवादी पहलू अपनाते हैं। उनका तर्क है कि "पंजाब समस्या" हरित क्रांति के बाद में पैदा हुई; युवाओं के बीच बढ़ती बेरोज़गारी तथा उपभोक्तावादी संस्कृति की बढ़वार जिसने सिख पहचान खोने का अहसास बढ़ाया, आदि ने पंजाब में आतंकवाद बढ़ाने में योगदान दिया। वे विद्वान जो राजनीतिक स्पष्टीकरण देते हैं, समाजार्थिक स्पष्टीकरण देते हैं, सामाजिक-आर्थिक स्पष्टीकरण को अपर्याप्त मानते हैं। उनका तर्क है कि पंजाब संकट राजनीतिज्ञों द्वारा धर्म को राजनीति में इस्तेमाल करने का परिणाम था।

जम्मू-कश्मीर में नृजातीय आन्दोलन के आधार हैं – भाषा, धर्म और भौगोलिक स्थिति। राज्य की अवाम का एक वर्ग का कहना है कि चूँकि भाषा, धर्म और भूगोल के लिहाज से राज्य की नृजातीय संरचना देश में प्रबल नृजातीय समूहों से भिन्न है, इस भूभाग को भिन्न तरीके से लिया जाना चाहिए। उनमें से कुछ ने स्वयं को भारतीय संघ का सदस्य भी नहीं माना है। परिणामत: उन्होंने भारत से संबंध-विच्छेद की माँग की है; कुछ ने पाकिस्तान के साथ मिल जाने की वकालत की है, कुछ ने इस क्षेत्र हेतु एक पृथक् संप्रभु राज्य की माँग की है और कुछ ने दो कश्मीरों – एक पाकिस्तान वाला और दूसरा भारत वाला

– को मिलाकर एक ही राज्य बना देने की बात कही है। इस पहलू के समर्थकों ने विप्लव शुरू कर दिया है जिसमें हिंसा तथा जानो-माल की हानि भी शामिल है। उन्हें विदेशी ताकतों का समर्थन प्राप्त है, खासकर पाकिस्तान का। राज्य में जन-नेतृत्व भी राष्ट्र-राज्य के साथ राज्य-विशेष के संबंध को लेकर विभक्त हो चुका है। जम्मू-कश्मीर के शासक हरि सिंह ने शुरू-शुरू में राज्य को भारतीय संघ में स्वीकार किए जाने का विरोध किया था। परन्तु उसे पाकिस्तानी बलों के आक्रमण की सूरत में इस बात के लिए सहमत होना ही पड़ा। शेख अब्दुल्ला ने राज्य को भारतीय संघ में मिला लिए जाने का समर्थन किया था। परन्तु आगे चलकर वह इस मुद्दे पर डांवाडोल हो गए। उन्होंने जनमत मोर्चा जिसके कारण उन्हें बनाया, केन्द्र सरकार द्वारा उनको 1953 से 1964 तक कारावास में रखा गया। बलराज पुरी के अनुसार जम्मू-कश्मीर में विप्लव हेतु कारणों में शामिल हैं : केंद्र सरकार का रुख, राज्य में विपक्ष का अभाव, केन्द्र व राज्य नेतृत्व द्वारा लोकतंत्र का पटरी से उतारा जाना, बेरोज़गारी एवं अन्य जन-समस्याओं का बढ़ना, शीतयुद्ध तथा पाकिस्तान। यहाँ तक कि जम्मू-कश्मीर के भीतर भी लद्दाख व जम्मू में छोटे-छोटे समूहों द्वारा नृजातीय आन्दोलन चल रहे हैं, जो जम्मू-कश्मीर राज्य के भीतर स्वयत्तता की माँग कर रहे हैं। इन क्षेत्रों का आरोप है कि प्रबल धार्मिक समुदायों एवं क्षेत्रों – कश्मीर के मुसलमानों द्वारा उनके खिलाफ़ भेदभाव किया जाता है।

9.5 जनजातियों के विशेष संदर्भ में नृजातीय आन्दोलन

पूर्व पाठांश में आपने अधिकांश तौर पर नृजातीय आन्दोलन के विषय में पढ़ा, विशिष्टत: ग़ैर-जनजातियों के विषय में। इस भाग में आप भारत की जनजातियों के नृजातीय आन्दोलनों के विषय में पढ़ेंगे। वस्तुत: जनजातियाँ ही देश में नृजातीय आन्दोलनों के सबसे उपयुक्त उदाहरण पेश करती हैं। उनके मामले में, लगभग सभी कारक, वास्तविक व काल्पनिक दोनों, जो कि वे अपने बीच साझा रूप से रहते हैं – संस्कृति, रीति-रिवाज़, भाषा, प्रजाति, धर्म (देश का अथवा अन्यथा), आर्थिक मुद्दे, आदि उनके संघटन में योगदान करते हैं। यदि उनका संघटन एकमात्र पहचानचिह्न ही आगे चलकर विभिन्न भूमिकाएँ निभाते हैं। जनजातीय नृजातीय आन्दोलन अपनी अभिव्यक्ति सभी रूपों में देते हैं, जैसा कि इस इकाई के पाठांश 9.4 में चर्चा की गई – विप्लव, बाह्य शोषकों से ''मिट्टी के सपूतों'' ("son of the soil") की संस्कृति एवं अर्थव्यवस्था की रक्षा, भारतीय संघ से संबंध-विच्छेद, स्वायत्तता आन्दोलन/ अलग राज्य की माँग; और, नृजातीय संघर्ष एवं उपद्रव।

सर्वाधिक सामान्य (indigenous culture) मुद्दे जो कि जनजातियों के नृजातीय संघटन हेतु जिम्मेदार हैं, वे हैं – देशी संस्कृति एवं अर्थव्यवस्था पर कल्पित अथवा वास्तविक खतरा जिसमें बाहरी लोगों (ग़ैर-जनजातियाँ, मध्य वर्ग, व्यवसायी जन, साहूकार, अधिकारी-वर्ग) द्वारा खनिजों, वन एवं आधुनिक विपणन अवसरों जैसे प्राकृतिक संसाधन शामिल हैं; राज्य खासकर केन्द्रीय स्तरों पर और उसके प्रतिनिधियों (केन्द्र-सरकार कर्मचारियों, सेना, पुलिस, आदि), द्वारा भेदभाव आदि।

9.5.1 जनजातियाँ कौन हैं?

अनुसूचित जातियों से भिन्न, जनजातियों अथवा अनुसूचित जनजातियों की पहचानार्थ मापदण्डों पर विद्वानों के बीच मतभेद हैं। जबकि अनुसूचित जातियों में तत्कालीन हिन्दू समाज की निम्नतम पायदान

पर रखी गई अछूत जातियाँ आती हैं, जनजातियाँ देश में एकाधिक धर्मों को अपनाती हैं – बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम अथवा अपने देशी धर्म (intigenous religions)। तथापि, जनजातियों के कुछ लक्षणों पर इन विद्वानों में प्राय: मतैक्य भी है। इन अभिलक्षणों में प्रमुख हैं :

1) प्रकृति से उनका गहरा जुड़ाव, खासकर वनों से;

2) खेती के अपेक्षाकृत पारंपरिक साधन एवं अल्प-विकसित बाज़ार;

3) समुदाय के विभाजन का प्राय: अभाव और जन्म के आधार पर भेदभाव, हिन्दुओं के बीच जाति-विभाजनों से भिन्न;

4) परंपरागत मुखियाओं अथवा सरदारों की विद्यमानता और स्त्रियों की ग़ैर-जनजातियों के मुकाबले बेहतर स्थिति; तथा

5) परंपरागत रीति-रिवाज़ों व संस्कृति से लगाव/के प्रति आदर।

संविधान का अनुच्छेद 342 "पार्थक्य, पिछड़ापन एवं सांस्कृतिक वैशिष्ट्य" को अनुसूचित जातियों के अभिलक्षण मानता है।

आधुनिकता के परिणामस्वरूप, वैसे इन अभिलक्षणों में बदलाव आया है, यथा – शिक्षा, कई जनजातियों पर ईसाई धर्म का प्रभाव, फसल बोने-काटने के बदलते प्रतिमान अथवा बाज़ार का प्रवेश, आर्थिक वैशिष्टीकरण व मध्यवर्ग का उद्‌गमन तथा कुछ उदाहरणों में पारंपरिक मुखियाओं के प्राधिकार में कमी। इन बदलावों ने जनजातियों के नृजातीकरण को बढ़ावा दिया है जो कि उनके नृजातीय आन्दोलनों में प्रकट हुआ है। अनुच्छेद 342 में देश में 212 अनुसूचित जनजातियों का उल्लेख है। ये जनजातियाँ देश के सभी हिस्सों में पाई जाती हैं, यथा उत्तर-पूर्व भारत के सभी राज्यों, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान, बिहार, गुजरात, दादरा नागर हवेली तथा लक्षद्वीप द्वीपसमूह में। उत्तर-पूर्व की जनजातियों को सीमान्त जनजातियाँ (frontier tribes) और देश के अन्य भागों में पाई जाने वाली जनजातियों को ग़ैर-सीमान्त जनजातियाँ कहा जाता है। कुल जनजातीय जनसंख्या का 11 प्रतिशत उत्तर-पूर्व में पाया जाता है और 89 प्रतिशत अन्य भागों में। जनजातियाँ एक न एक लक्ष्य को लेकर सामूहिक कार्रवाइयों में लगी ही रही हैं। (घनश्याम शाह, 2004, पृ. 92-96)

9.5.2 उत्तर-पूर्व भारत की जनजातियाँ अथवा सीमान्त जनजातियाँ

उत्तर-पूर्व भारत अकेले ही देश में जनजातीय जनसंख्या का अधिकतम घनत्व रखता है। वे विभिन्न धर्म अपनाते हैं, खासकर ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म तथा देशी धार्मिक (intigenous religious)। उनको फिर से मैदानी व पहाड़ी जनजातियों में बाँटा जा सकता है। उत्तर-पूर्व भारत के लगभग सभी राज्यों में नृजातीय आन्दोलन किसी न किसी रूप में दिखाई दिए हैं। इस पाठांश में हम कुछ नृजातीय आन्दोलनों का अध्ययन करेंगे और हमारे उदाहरण होंगे – उत्तर-पूर्व भारत के ही राज्य, यथा नागालैण्ड, असम और मेघालय।

यह ध्यान देना आवश्यक है कि उत्तर-पूर्व भारत के नृजातीय मुद्दे भौगोलिक कारकों, उसके क्षेत्रीय आयामों से संबंध रखते हैं। यद्यपि अपनी-अपनी सांस्कृतिक रीतियों के अनुसार उत्तर-पूर्व भारत की

विभिन्न जनजातियों के बीच भेद हैं, अपनी भौगोलिक अवस्थिति के कारण सभी के अभाव संबंधी अनुभव समान ही हैं। उत्तर-पूर्व पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है जिसमें इस क्षेत्र की नृजातीय समस्याओं को स्पष्ट करने का प्रयास दिखाई पड़ता है। और, नृजातीय पहचानों के बनने के क्षेत्र में अन्दोलनों के आधार पर बातचीत में दरार भी प्रकट होती है। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की समस्याएँ – विप्लव, स्वायत्तता आन्दोलन, नृजातीय संघर्ष, उपद्रव, आदि मुख्य रूप से दो दृष्टिकोणों द्वारा स्पष्ट की जाती हैं : प्रथम आधुनिकीकरण/विकास/ "राष्ट्र-राज्य निर्माण" दृष्टिकोण; और दूसरा, "संघ-निर्माण दृष्टिकोण। प्रथम दृष्टिकोण के अनुयायियों का मुख्य रूप से तर्क यह है कि उत्तर-पूर्व की समस्याएँ "राष्ट्र-राज्य निर्माण" संबंधी मुद्दों से जुड़ी हैं; मध्य वर्गों के बीच विवाद, खासतौर पर इस क्षेत्र की जनजातियों के बीच, जो कि परंपरागत नेतृत्व के साथ आधुनिकीकरण/विकास/अवस्थान्तर गमन (लोकतंत्र) के परिणामस्वरूप उभर कर आया है; इस समूह की बढ़ती आकांक्षाओं को पूरा करने में व्यवस्था की अक्षमता। इस पहलू के मुख्य पक्षधर हैं – एस.के. चौबे, बी.पी. सिंह, बी.जी. वर्गीज तथा मायरन वीनर। इनमें से अधिकांश लेखकगण इस क्षेत्र के नहीं हैं।

दूसरा दृष्टिकोण वस्तुत: पहले दृष्टिकोण की समीक्षा है और उन विद्वानों की लिखित रचनाओं में उपलब्ध है जो इस क्षेत्र के ही हैं। इस पहलू के प्रमुख अनुयायी हैं – संजीव बरुआ, उड्पन शर्मा, संजय हजारिका, सजल नाग तथा एम.पी. बेज़बरुआ। उनका तर्क है कि उत्तर-पूर्व भारत की समस्यायें इसलिए पैदा हुईं कि राष्ट्रीय नेतृत्व ने "राष्ट-निर्माण" हेतु अपने अन्वेषण में इस क्षेत्र की जनता वाले पहलू को अनदेखा किया। "राष्ट्र-राज्य" बनाने के लिए केन्द्र सरकार ने उत्तर-पूर्व की ओर "सौतेला" रुख अपनाया; "उपान्त" व छोटी राष्ट्रीयताओं की उपेक्षा की; उनकी ओर अक्खड़ रवैया अपनाया; और इस क्षेत्र में मानवाधिकारों के उल्लंघन की ओर उदासीन रही है। उनका तर्क है कि "राष्ट्र-राज्य" निर्माण दृष्टिकोण के स्थान पर एक "संघ-निर्माण" दृष्टिकोण होना चाहिए। जगपाल सिंह (2005), "चैलिन्ज टु फ़ेडरलिज़म : डिस्कर्स ऑन द नॉथ-ईस्ट इण्डिया", अख्तर मजीद (सं.) कृत *फ़ेडरल इण्डिया : ए डिज़ायन फ़ॉर गुड गवर्नेन्स*, मानक पब्लिकेशन्ज़, नई दिल्ली के संयोजन में संघीय अध्ययन केन्द्र एक "संघ-निर्माण दृष्टिकोण हेतु आवश्यकता पर संजीव बरुआ द्वारा अपनी पुस्तकों *इण्डिया अगेन्स्ट इटसेल्फ़ : असाम एण्ड द पॉलिटिक्स ऑफ़ नैशनॅलिटि* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रैस, 1999) तथा *ड्यूरेबल डिस्ऑर्डर : अण्डरस्टैंडिंग द पॉलिटिक्स ऑफ़ नार्थ-ईस्ट इण्डिया* (ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटि प्रेस, 2005) में प्रमुखता से जो़र दिया गया है। चलिए, अब हम उत्तर-पूर्व भारत में जनजातियों के नृजातीय आन्दोलनों के कुछ उदाहरणों पर चर्चा करते हैं।

नागा जनजाति

नागाओं का आन्दोलन जिसका प्राय: नागा विद्रोह के रूप से उल्लेख किया जाता है, नागाओं द्वारा नागा राष्ट्रीय आन्दोलन कहा जाता है। देश में नृजातीयता अथवा राष्ट्रीयता के सवाल से जुड़ा सबसे पुराना आन्दोलन यही है। यह आन्दोलन नागालैण्ड में राष्ट्रीयता/नृजातीयता नृजातीय आन्दोलन से जुड़े सभी आयाम रखता था, यथा – स्वायत्तता हेतु माँग, भारत से संबंध-विच्छेद तथा नृजातीय संघर्ष। नागाओं का मानना है कि एक राष्ट्र/नृजातीय समूह के रूप में वे भारत में अन्य नृजातीय समूहों अथवा राष्ट्रीयताओं/राष्ट्रों से भिन्न हैं। उन्होंने हमेशा अपनी विशिष्ट संस्कृति, रीति-रिवाजों एवं इतिहास के साथ संप्रभुता का सुख भोग है। उनमें से एक तबके का मानना है कि वे भारत का हिस्सा कभी नहीं

रहे हैं और वे अपनी पहचान कायम रखना पसंद करेंगे, भारतीय संघ में शामिल होने से उन्हें अपनी संप्रभुता से समझौता करना पड़ा है। वे नागालैण्ड के भारतीय संघ में विलय होने को मान्यता नहीं देते और इसे बलपूर्वक शासन के तहत मानते हैं। यही कारण है कि अनेक नागाओं ने उत्तर-पूर्व भारत के अभिप्रांय से भारतीय संविधान की छठी अनुसूची को नहीं माना और 1952 में कराये गए प्रथम आम चुनाव में भाग ही नहीं लिया।

नागा अभिजात-वर्ग जिसमें ईसाई शिक्षा-संस्थाओं में शिक्षित लोग आते थे, और कुछ पास के गाँवों के मुखियाओं ने 1918 में मिलकर 'नागा क्लब' बनाया ताकि नागा पहाड़ियों के लोगों की सामाजिक एवं प्रशासनिक समस्याओं को उठाया जा सके। 1929 में सायमन आयोग को दिए गए एक ज्ञापन में नागा क्लब ने गुहार की कि नागाओं को प्रशासनिक सुधारों से बाहर ही रखा जाये, जिससे उम्मीद थी कि नागाओं को ब्रिटिश प्रशासन के सीधे नियंत्रण में रखने की सिफ़ारिश करेगा और अधिकार में भी रखेगा। नागा पहाड़ी ज़िला के उपायुक्त की पहल पर, 1945 में ज़िला जनजाति परिषद्, विशिष्ट नागा परिषदों का एक संगठन बनाया गया। इसी वर्ष ज़िला जनजाति परिषद् का नाम बदलकर नागा राष्ट्रीय परिषद् (NNC) कर दिया गया। यह परिषद् 27-29 जून 1947 को भारत सरकार के प्रतिनिधि, असम के राज्यपाल, सर अकबर हैदरी के साथ नौ-सूत्री कार्यक्रम विषयक एक समझौते पहुँची। इस समझौते के मुख्य प्रावधान थे – अन्य हस्तांतरण से जनजातीय भूमि की रक्षा, प्रशासनिक स्वायत्तता की सर्जना तथा इस समझौते को लागू करने हेतु भारत सरकार को विशेष दायित्व सौंपना। दृढ़तापूर्वक कहते हुए कि नागाजन भारत से एक भिन्न राष्ट्र हैं, उन्होंने हॉन्किन सरकार (Honkin Government) अथवा "नागालैण्ड जन सर्वसत्ताक गणतंत्र (People's Sovereign Republic of Nagaland) बनाने की घोषणा कर दी। इसका परिणाम हुआ – भारतीय सेना और नागाओं के बीच हिंसा का खुला प्रयोग। तदोपरांत जुलाई 1960 में भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और नागाओं के बीच एक 16-सूत्रीय समझौता हुआ। इसने अन्ततोगत्वा उसी वर्ष अगस्त में असम में से काट कर, जिसका कि वह एक हिस्सा था, एक अलग राज्य बनाये जाने की ओर प्रवृत्त किया।

यह ध्यातव्य है कि भारतीय संघ के भीतर एक अलग राज्य के रूप में नागालैण्ड और एक संप्रभु राज्य/राष्ट्र के रूप में नागालैण्ड के मुद्दे पर नागा नेताओं के बीच मतभेद थे। पूर्ववर्ती ने नागालैण्ड नेशनेलिस्ट आर्गेनाइजेशन (NNO) की स्थापना की और परवर्ती ने डैमोक्रेटिक पार्टी ऑफ नागालैण्ड बना ली। नागालैण्ड नेशनेलिस्ट आर्गेनाइजेशन जो राज्य को एक पृथक् राज्य बनवाने में सक्रिय था, हिंसा को छोड़ देने और भारतीय संविधान को स्वीकार कर लेने के पक्ष में था। 1975 में शिलांग समझौते पर हस्ताक्षर होने के बाद इस प्रश्न ने नया आयाम ले लिया। इसके अनुसार नागाओं ने भारतीय संविधान स्वीकार कर लिया, अपनी सेवाएँ भारत सरकार को सौंप दीं, और बदले में सरकार ने नागा राजनैतिक बन्दियों को रिहा कर दिया और उनके पुनर्वास का भी वायदा किया।

शिलांग समझौते पर हस्ताक्षर किया जाने का नागाओं के एक वर्ग द्वारा स्वागत नहीं किया गया। उसने इस समझौते पर अपनी संप्रभुता से समझौता करने और ईसाई धर्म से गद्दारी करने का आरोप लगाया। उन्होंने अब नागा संप्रभुता के मुद्दे को समाजवाद संबंधी माओ विचारधारा से जोड़ने का प्रयास किया और एक तांगकुल नागा टी. मुइवा और ईसाक स्वू के नेतृत्व में नागालैण्ड राष्ट्रीय समाजवादी परिषद् (NSCN) बना ली। उक्त परिषद् के नेताओं ने भारत के बाहर रहकर नागा आन्दोलन को

दिशा-निर्देशित किया है। अटल बिहारी बाजपेयी तथा मनमोहन सिंह के प्रधानमंत्रित्व काल में भारत सरकार के साथ अपनी वार्ताओं में उन्होंने दो मुख्य मुद्दे उठाये हैं – नागालैण्ड की स्वायत्तता का मुद्दा और एक 'नागालिम' का बनाया जाना, जिसका राज्यक्षेत्र उत्तर-पूर्वी राज्यों के उन सभी क्षेत्रों का विलय करके बनेगा जहाँ नागा जन रहते हैं। नागालैण्ड के अलावा ये राज्य हैं – मणिपुर, अरुणाचल प्रदेश और असम। उनका कहना है कि विभिन्न राज्यों की सीमायें निर्धारित करते समय भारत सरकार ने नागाओं द्वारा आवासित क्षेत्रों को विभिन्न राज्यों के साथ मिला दिया। इसने उन्हें अलग-अलग कर दिया। उनकी माँग है कि नागाओं को 'नागालिम' में पुनर्गठित किया जाये। इस माँग ने उक्त राज्यों से होने वाले विरोध को उकसाया है। इसने इन राज्यों के भीतर नृजातीय संबंधों पर अप्रत्यक्ष प्रभाव डाला है। नागालैण्ड ने राज्य की दो प्रमुख जनजातियों – नागा और कुकी के बीच नृजातीय दंगों और संघर्ष को भी देखा है। पूर्ववर्ती का आरोप है वे (कुकी) राज्य के मूल निवासी नहीं हैं, जबकि परवर्ती इस बात को झूठा सिद्ध करते हैं।

असम के बोडो

असम की जनजातियाँ – बोडो, कार्बी तथा आदिवासी 'अस्सी के दशक से ही सामूहिक नृजातीय लामबंदी में लगी रही हैं। बोडो और कार्बी असम राज्य से काटकर अपना-अपना राज्य अलग बना दिए जाने की माँग कर रहे हैं। बोडो और कार्बी अपने-अपने मूल निवास स्थानों में रह रही देशी जनजातियाँ हैं। पूर्ववर्ती कोकराझार जैसे असम के निचले जिलों में पायी जाती हैं, और कार्बी राज्य के कार्बी आँलौंग जिले में निवास करते हैं। ओराओं व संथाल जैसी जनजातियों वाले आदिवासी जो औपनिवेशिक शासनकाल में राज्य में चाय बाग़ान मज़दूरों के रूप में बसाये गए थे, मुख्य रूप से उड़ीसा और बिहार के हैं। बागान मज़दूरों के रूप में काम करने के अलावा वे ग़रीब किसानों के रूप में भूमि भी जोतते हैं। आदिवासियों की माँगें हैं – सरकारी नौकरियों में आरक्षण के लिहाज से उनके अधिकारों की रक्षा की जाये और प्रबल नृजातीय जनजातियों से उन्हें बचाया जाए क्योंकि बोडो व आदिवासियों के बीच हिंसक नृजातीय दंगों की अनेक वारदातें हो चुकी हैं।

असम की जनजातियों ने अखिल असम छात्र संघ (आसू /AASU) के नेतृत्व में 1979 से 1985 यानी छह वर्ष तक चले असम आन्दोलन में भाग लिया। इस आन्दोलन ने जो विदेशियों के विरुद्ध दिशा-निर्देशित था, असम के प्रमुख समुदायों – जनजातियों एवं ग़ैर-जनजातियों को संगठित किया, इस सामान्य धारणा के साथ कि एक पिछड़े और विभेदीकृत राज्य से संबंध रखने के लिहाज से उनका अनुभव एक सा ही है, जो कि विदेशी घुसपैठ, खासकर बंगलादेश से, की चुनौती का सामना कर रहा है। कालान्तर में, हालाँकि, 19वीं शताब्दी से ही राज्य में रह रहे व देश के नागरिक रहे बंगालियों और ला कर बसाये गए बंगलादेशियों के बीच भेद धुंधला पड़ गया है। मुख्य रूप से छात्रों व मध्यवर्गों के नेतृत्व में यह अनेक अवसर पर हिंसक हो गया था। परन्तु जैसे ही 'आसू' ने एक राजनीतिक दल का चोला पहना, यथा असम गण परिषद् (अगप/AGP), और 1985 के विधानसभा चुनावों में जीत हासिल कर सरकार बनायी, बोडो व कार्बी जैसी जनजातियाँ, जिन्होंने 'आसू' आन्दोलन में भाग लिया था, अपने-अपने अलग राज्य बनाए जाने की माँग करने लगीं। उन्होंने महसूस किया कि असम के प्रबल

समुदायों के नेतृत्व में आसू आन्दोलन ने उन जैसी छोटी जनजातियों के समर्थन का इस्तेमाल किया है। एक बार भारत सरकार के साथ असम समझौते पर हस्ताक्षर करने और राज्य में अगप सरकार बना लेने के बाद आसू नेताओं ने उन जैसी छोटी जनजातियों को यथोचित पहचान प्रदान नहीं की और उन पर अपनी सांस्कृतिक संहिता थोपने का प्रयास किया। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि वे असमियाओं से भिन्न हैं। इसके संबंध में संजीव बरुआ अपनी पुस्तक *इण्डिया अगेन्स्ट इटसैल्फ़* (अध्याय 8) में “हम बोडो हैं, असमिया नहीं’’ कहने वाले बोडो स्रोतों का उद्धरण देते हैं। बोडो आन्दोलन को नेताओं की एक पीढ़ी का नेतृत्व प्राप्त है। अखिल बोडो छात्र संघ (अबसू/ABSU) ने सरकार को माँगों का एक 92-सूत्रीय घोषणा-पत्र प्रस्तुत किया, जिसमें उनकी संस्कृति व भाषा को मान्यता दिए जाने तथा अपने शैक्षिक एवं आर्थिक विकास हेतु उन्हें अवसर दिए जाने विषयक माँगें शामिल थीं। इन माँगों को पूरा करवाने के लिए वे एक पृथक् बोडोलैण्ड राज्य की माँग करते हैं। यह अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिए कि उल्फा (ULFA – असम संयुक्त मुक्ति मोर्चा) से भिन्न वे भारतीय शासन की संप्रभुता विषयक प्रश्न नहीं करते हैं। वे भारतीय संविधान के तहत ही भारतीय संघ में रहकर एक पृथक् राज्य चाहते हैं। उन्होंने राज्य अभिकरणों को निशाना बनाकर हिंसा का सहारा लिया है, खासकर केन्द्र सरकार के अभिकरण तथा सशस्त्र बल। उन्होंने नृजातीय हिंसा को उकसाकर आदिवासी अप्रवासियों के विरुद्ध भी अपनी हिंसा का मार्ग प्रशस्त किया है। सरकार ने उन्हें स्थानीय स्वायत्तता प्रदान करने के लिए बोडो स्वायत्त परिषदें स्थापित कर प्रत्युत्तर दिया है। परन्तु उसने पृथक् राज्य बनाये जाने हेतु उनकी माँग के प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं दर्शायी है।

मेघालय की जनजातियाँ

मेघालय में तीन जनजातियाँ पायी जाती हैं – खासी, जैन्तिया तथा गारो, जो राज्य स्थित इन्हीं नामों की पहाड़ियों में वास करती हैं। ये जनजातियाँ विद्यमान मातृसत्तात्मक प्रणाली (matrilineal system) के लिए जानी जाती हैं, जिसके अनुसार भारत के अन्य समुदायों में पायी जाने वाली पितृसत्तात्मक प्रणाली (patrilineal system) के मुकाबले इनमें महिलाओं को बेहतर स्थिति प्राप्त है। उत्तर-पूर्व भारत की कुछ अन्य जनजातियों की ही भाँति शिक्षित ईसाई अभिजात वर्ग राज्य में उनके बीच पहले ही उद्गमित हो चुका था, खासकर स्वतंत्रता-पूर्व काल में खासी। शिलांग जो लगभग एक शदी तक असम की राजधानी रहा, वर्तमान मेघालय राज्य समेत जिसके हिस्से अंगीभूत थे, उनके बीच एक अभिजात वर्ग की बढ़वार हेतु एक उपयुक्त स्थान उपलब्ध कराता है। मेघालय की जनजातियाँ मेघालय में ग़ैर-जनजातियों के साथ मिलजुलकर रहती हैं, खासकर शिलांग में, 19वीं शताब्दी में असम की राजधानी चेरापूँजी से वहाँ लाये जाने के बाद से ही। ग़ैर-जनजातियों में, जो शिलांग तथा मेघालय के अन्य भागों में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आकर बसीं, मुख्य रूप से आते हैं – बंगाली, बिहारी, राजस्थानी, सिख और 1972 में मेघालय एक पृथक् राज्य बन जाने तक, असमिया भी। ये ग़ैर-जनजातियाँ अपने मतभेदों के बावज़ूद इस अर्थ में एक अलग नृजातीय समूह का निर्माण करते हैं कि उनकी संस्कृति, अभिलक्षण, रीति-रिवाज़ आदि उक्त जनजातियों की इन बातों से भिन्न हैं। 'साठ के दशक में असम क्षेत्र के नृजातीय समूहों का आन्दोलन देखा गया, जिसने तदोपरांत एक पृथक् राज्य बनाये जाने हेतु, एक अलग मेघालय राज्य का रूप ले लिया। इस आन्दोलन ने इन भूभाग के सभी नृजातीय समूहों – जनजातियों व ग़ैर-जनजातियों

की शिरकत देखी। यह प्रबल समूहों – असमिया की भाषा-नीति के खिलाफ़ उनकी संयुक्त अप्रसन्नता की अभिव्यक्ति था। उन्होंने असमिया सरकार की उस भाषा-नीति के खिलाफ़ भी विरोध-प्रदर्शन किया जो स्कूलों में एक शिक्षा-माध्यम और एक कार्यालयी भाषा के रूप में असमिया को लागू किए जाति के प्रयास में थी। इसको जनजातियों तथा ग़ैर-जनजातियों समेत ग़ैर-असमिया भाषियों पर असमिया थोपे जाने के रूप में लिया गया। नृजातीय समूहों के दोनों ही वर्गों – जनजातीय एवं गैर-जनजातीय, ने मेघालय को एक पृथक् राज्य बनाये जाने हेतु आन्दोलन में मिलकर भाग लिया।

मेघालय की जनजातियों एवं ग़ैर-जनजातियों के बीच संबंधों में, तथापि, 1972 में राज्य बन जाने के बाद परिवर्तन दिखाई दिए। इनको अब नृजातीय विभाजन द्वारा पहचाना जाता था। राज्य सरकार ने जनजातियों से ग़ैर-जनजातियों को भूमि हस्तांतरण पर प्रतिबंध लगाते हुए भूमि विनियमन शुरू कर दिया, जनजातियों के लिए विधानसभा में सीटें आरक्षित कीं (60 में से 56 सीटें उन्हीं के लिए हैं) और राज्य सरकार की नौकरियों में तो उनके लिए 85 प्रतिशत तक आरक्षण किया। इससे राज्य की ग़ैर-जनजातियाँ भड़क उठीं; जिन्होंने आरोप लगाया कि राज्य की अर्थव्यवस्था में उनके योगदान को मान्यता नहीं दी गई और उनके खिलाफ़ भेदभाव किया गया है। जनजातियों के विचारों का विशेष रूप से महिला व छात्र संगठनों तथा राजनीतिज्ञों द्वारा अभिव्यक्ति दी गई, उनके बीच सर्वाधिक हठधर्मी थे – खासी छात्र संघ (KSU) तथा खासी, गारो व जैन्तिया जन संघ (FKJGP)। खासी छात्र संघ व अन्य जनजातीय प्रतिनिधियों का तर्क है कि बाहरी लोगों – ग़ैर-जनजातियों के आ जाने से ही उनकी सांस्कृतिक पहचान घटी है और आर्थिक अवसर स्वार्थसाधन का विषय बने हैं। सेना व केन्द्रीय अर्ध-सैनिक बलों से पहचाने जाने वाली केन्द्र सरकार को उनके अधिकारों पर अधिक्रमणकारी के रूप में देखा जाता है। इसी कारण, राज्य की जनजातियों की माँगें हैं : ग़ैर-जनजातियों के व्यापार लाइसेंस रद्द हों, उन्हें राज्य से निकाला जाए, राज्य सरकार की नौकरियों में जनजातियों हेतु आरक्षण बढ़ाया जाए, इत्यादि। खासी छात्र संघ व अन्य जनजातीय संगठन प्राय: पर्चों, रैलियों, समाचार-पत्रों, आदि के माध्यम से ये मुद्दे उठाते रहते हैं। नृजातीय समूहों के बीच यह विभाजन कुछ अवसरों पर नृजातीय दंगों में भी परिणत हुआ है। 'नब्बे के दशकांत से राज्य कुछ विप्लवकारी समूहों को भी सर उठाते देखता रहा है।

9.5.3 उत्तर-पूर्व भारत के अलावा अन्य क्षेत्रों की जनजातियाँ अथवा ग़ैर-सीमान्त जनजातियाँ

उत्तर-पूर्व के अलावा अन्य क्षेत्रों की जनजातियाँ अथवा मध्य प्रदेश/छत्तीसगढ़, बिहार/झारखण्ड, गुजरात, राजस्थान व अन्य कई राज्यों में सीमान्त जनजातियों को अनेक अवसरों पर नृजातीय पद्धति पर संघटित किया गया है। आधुनिक इतिहास में उनका विद्रोह प्राधिकारप्राप्त अंग्रेजों के हस्तक्षेप, कबीलाई सरदारों की सत्ता के विरुद्ध तथा अंग्रेजों व उनके सहयोगियों, जैसे बाहर के व्यापारियों व अधिकारियों अथवा दिकुओं द्वारा उनके प्राकृतिक संसाधनों के अनुचित प्रयोग के विरुद्ध सुस्पष्ट रहा। कबीले के मुखियाओं ने अपनी साथी जनजातियों को संघटित किया ताकि वे अपनी सत्ता व अपने संसाधन फिर से प्राप्त कर सकें और फिर अपने सुनहरे अतीत की दुहाई दी ताकि वे अपनी नृजातीय पहचान और स्वायत्तता को कायम रख सकें। ब्रिटिश प्रशासन ने निष्ठुर हिंसा का प्रयोग कर इन आन्दोलनों के विरुद्ध प्रतिशोध

लिया, जिसमें इन आन्दोलनों के नेताओं की हत्या कर दिया जाना भी शामिल था। स्वतंत्रतापूर्व काल में छोटा नागपुर क्षेत्र में बिरसा मुण्डा विद्रोह इस प्रकार के आन्दोलनों में सर्वोपरि है। ऐसे आन्दोलनों को के.एस. सिंह ने "सहस्राब्दिक आन्दोलनों" की संज्ञा दी है।

वे मुद्दे जिन्होंने स्वातंत्र्योत्तर काल में ग़ैर-सीमान्त जनजातियों की सामूहिक लामबंदी का आधार तैयार किया, राज्य-राज्य में भिन्न-भिन्न रहे हैं। इनमें शामिल हैं : वर्तमान राज्यों में से काटकर जनजातीय क्षेत्रों के लिए पृथक् राज्यों का निर्माण किए जाने हेतु आन्दोलन, जैसे बिहार में से झारखण्ड और मध्य प्रदेश में से छत्तीसगढ़, अथवा उसी राज्य के भीतर पृथक् ज़िले बनाए जाने हेतु आन्दोलन, जैसे पूर्व बम्बई राज्य के भीतर एक अलग ज़िला बनाए जाने हेतु दाँग जनजाति द्वारा की गई माँग; उनके विस्थापन में परिणत होने वाले बाँधों के निर्माण हेतु जनजातीय भूमि के अतिक्रमण के खिलाफ़ आन्दोलन, जैसे नर्मदा घाटी। 'नब्बे के दशक में कुछ विद्वानों ने देखा कि कुछ राज्यों, खासकर गुजरात, मध्य प्रदेश व राजस्थान में हिन्दुत्ववादी ताकतों द्वारा जनजातियों को ईसाई व मुस्लिम जनजातियों के खिलाफ़ संघटित किया गया। इसने जनजातियों के साम्प्रदायिक आधार पर विभाजित होने में योगदान दिया (शाह, 2004; पृ. 98)।

पृथक् राज्यों हेतु अथवा वर्तमान राज्यों में से काटकर अलग ज़िले बनाये जाने हेतु माँगों के रूप में व्यक्त स्वायत्तता हेतु अथवा स्वायत्त प्रशासनिक निकायों के निर्माण हेतु आन्दोलन जनजातीय आन्दोलनों द्वारा सर्वाधिक सामान्य रूप से उठाई गई माँगों में आते हैं। ऐसी माँगों के लिए आधार प्रबल राजनीतिक प्राधारों के ख़िलाफ़ उनकी शिकायतें ही हैं, यथा उनकी सांस्कृतिक एवं भाषाई पहचानें धीरे-धीरे लुप्त हो जाने का खतरा है; उनके आर्थिक संसाधनों व अवसरों का अन्य लोगों/ बाहरी लोगों द्वारा अनुसूचित प्रयोग किया जाता है; उनको यथायोग्य मान्यता नहीं दी जाती है, इत्यादि। आधुनिक एवं पारम्परिक दोनों ही जनजातीय नेतागण जनजातीय लोगों को सामूहिक रूप से संघटित करते हैं। उनकी माँगों का स्वीकरण राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। परन्तु एक बार किसी माँग-समूह को स्वीकार कर लिए जाने के बाद ये नेतागण अन्य मुद्दों को तलाशते हैं। उदाहरण के लिए, बिहार में से काटकर पृथक् झारखण्ड राज्य बना दिए जाने के बाद जनजातीय नेताओं ने अधिवास कानूनों को बदलने का प्रयास किया। इसी प्रकार, पृथक् मेघालय राज्य बनने के बाद जनजातीय नेताओं ने उत्तराधिकार एवं भूमि हस्तांतरण से संबंधित नियमों को बदलने के लिए विधेयक प्रस्तुत किया। इस प्रकार, लोकतंत्र में नृजातीय संघटन एक सतत प्रक्रिया है। नृजातीय आन्दोलन परिदृश्य पर सदा ही उभरते-बिगड़ते रहते हैं।

9.6 सार-संक्षेप

संक्षेप में, पहचान-चिह्नों – वास्तविक या काल्पनिक, के आधार पर ऐसे लागों की लामबंदी जो सामूहिक कार्रवाई में भाषा, धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाजों, प्रजाति, आदि में भागीदार हों नृजातीय लामबंदी कहलाती है। ऐसी स्थिति में नृजातीय समुदाय अन्य समुदायों से संबंध जोड़ते हैं और अपनी तुलना करते हैं, साथ ही कुछ शिकायतें भी रखते हैं जिन्हें वे हल करना चाहते हैं। नृजातीय लामबंदी आत्म-निर्णयन आन्दोलनों के रूप में अपनी अभिव्यक्ति पाते हैं, यथा स्वायत्तता आन्दोलन, संबंध-विच्छेद, विप्लव अथवा नृजातीय संघर्ष। भारत की जनजातियाँ स्वतंत्रताप्राप्ति के पहले भी और बाद में भी विभिन्न उद्देश्यों

से नृजातीय लामबंदी में लिप्त रही हैं। उन्होंने हिंसक व अहिंसक दोनों ही साधनों का सहारा लिया है। नृजातीय आन्दोलनों की सफलता अथवा असफलता राजनीतिक कारकों पर निर्भर करती है। एक बार नृजातीय लामबंदी में एक माँग-समूह के स्वीकार हो जाने के बाद आगे चलकर अन्य माँगें अथवा नृजातीय आन्दोलन शुरू हो जाते हैं। इस प्रकार, नृजातीय आन्दोलन एक निरन्तर राजनीतिक प्रक्रिया है।

9.7 अभ्यास प्रश्न

1) नृजातीय लामबंदी का अर्थ स्पष्ट करें और इसके अध्ययनार्थ दृष्टिकोणों पर चर्चा करें।

2) उपनिवेशोपरांत काल में नृजातीय लामबंदी का एक आम विवरण प्रस्तुत करें।

3) उत्तर-पूर्व भारत में जनजातीय नृजातीय आन्दोलनों के सामान्य अभिलक्षणों पर चर्चा करें।

4) ग़ैर-सीमान्त जनजातियों (Non-Frontier Tribes) के नृजातीय आन्दोलनों पर टिप्पणी लिखें।

इकाई 10 नारी आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

10.1 प्रस्तावना

10.2 औपनिवेशिक संदर्भ: एक नए समाज की कल्पना तथा सुधार आन्दोलन

  10.2.1 प्राथमिकता संबंधी मुद्दा: सामाजिक अथवा राजनीतिक

  10.2.2 गाँधीवादी युग में नारी-विषयक मुद्दे

10.3 स्वातंत्र्योत्तर काल: राज्य, सुधार और महिलाएँ

10.4 वामपंथ और नारी आन्दोलन

10.5 समानता अथवा भेद

10.6 नए सामाजिक आन्दोलन

10.7 सारांश

10.8 अभ्यास प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

अन्य सामाजिक समूहों की ही भाँति महिलाएँ भी अपनी कार्यावलियों, नेतृत्व, विचारधाराओं व संगठनों से सुसज्जित सामूहिक कार्यव्यापारों में शामिल रही हैं ताकि जीवन के सभी पहलुओं में अपना उचित और गौरवपूर्ण स्थान बना सकें। प्रस्तुत इकाई में हम महिलाओं के सामाजिक आन्दोलनों के विषय में पढ़ेंगे। महिला वर्ग व्यष्टि रूप में और एक समुदाय रूप में विश्व जनसंख्या का सर्वाधिक विभेदग्रस्त वर्ग है। इसी भेदभाव के स्थितिसूचक के रूप में, विश्व भर के समाजों ने पुत्र संतान हेतु अधिमान दर्शाया है। पुत्र संतान को तरजीह दिया जाना समाजों को पुत्री संतान को गर्भ में ही मार डालने की हद तक ले गया है। सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकताओं अथवा वंश चलाने या फिर वस्तुपरक उत्पादन हेतु, आदि का वास्ता देकर समाजों में भेदभाव संबंधी सभी प्रथाओं को जायज ठहरा दिया गया है। पितृवांशिकता (Patrilineality) जहाँ पैदाइश पिता के वंश से होती है, और पितृ-स्थानीयता (Patrilocality) जहाँ पत्नी और बच्चे पिता के घर अथवा गाँव में रहते हैं, आदि बातों ने पुत्र संतान हेतु अधिमान को बताया है। इन सभी व्यवस्थाओं का परिणाम यह हुआ है कि महिलाओं को उस अवस्था तक पदावनत कर दिया जिसे सायमन डी बुवॉर ने बड़े ही मार्मिक ढंग से शब्दबद्ध किया है – निकृष्ट लिंग अर्थात् सैकण्ड सैक्स।

भौतिक अर्थ में निकृष्ट लिंग (सैकेण्ड सेक्स) होने का मतलब है कि महिलाओं को प्राय: ही राजनीतिक, आर्थिक और यहाँ तक कि सांस्कृतिक अधिकारों से वंचित रखा जाता है। प्राय: ही उसे अपने पुरुष सहोदरों से साथ सम्पत्ति के उत्तराधिकारी रूप में अधिकार प्राप्त नहीं होता। उसे एक पुरुष प्रतिपक्ष के बराबर शिक्षा एवं स्वास्थ्य रक्षा हेतु समान पहुँच का अधिकार भी नहीं होता। घर के भीतर या बाहर उस पर बारहमासों पुरुष हिंसा का निशाना बनने का खतरा मण्डराता रहता है। ऐतिहासिक रूप से,

धर्म, राज्य शासन-प्रणाली व समाज व्यवस्थित ही इस प्रकार रहे कि उसकी स्थिति समाज में भेदमूलक प्रवृत्तियों के प्रति असुरक्षित रहे। समाज में इस प्रकार की भेदभावपूर्ण व्यवस्थाओं पर सवाल उठाने के लिए महिलाओं सहित लोगों द्वारा विरोध और विद्रोह किए गए हैं। ये, बहरहाल, वैयक्तिक स्तर पर ही रहे जबकि पुरुष प्रधान समाज का प्राधार और प्रभाव इतने सशक्त रहे कि उन्हें न तो परास्त किया जा सकता था, न ही वर्तमान व्यवस्थाओं में आसानी से स्वीकार ही। गत दो सौ वर्षों के आसपास ही ऐसा हुआ है कि आधुनिक युग ने लोगों को संगठन-संबंधी स्थान, विचार एवं सिद्धांत प्रदान किए ताकि वे सामाजिक बदलाव हेतु समांतर-आंदोलनों के साथ नारी विरोध-प्रदर्शनों को जोड़कर अथवा नारी आन्दोलनों में आधुनिकता के मूल तत्त्वों का समावेश करके वर्तमान व्यवस्थाओं पर सवाल उठायें और बदलाव लायें। औपनिवेशिक देशों में राष्ट्रवादी आन्दोलन, समाजवादी एवं साम्यवादी आन्दोलन तथा विश्व भर में नारी आन्दोलन और लोकतंत्र का अधिक रुझान आदि कुछ ऐसी सशक्त विचारधाराएँ रही हैं जिन्होंने स्वयं को इस संबंध में परिवर्तन की प्रेरक शक्ति माना। निरन्तर भूमण्डलीकृत होते विश्व में महिलाओं के मुद्दे और मामले उत्तरोत्तर बड़े आन्दोलनों का हिस्सा बनते जा रहे हैं।

महिलाओं तथा सामाजिक आन्दोलनों के बीच संबंध बहुत पेचीदा है। प्रथम, यह नहीं स्पष्ट होता कि विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों की वृहद् परिरेखा में महिलाएँ कहाँ और कैसे भाग लेती हैं। यह पाया गया है कि महिलाएँ कुछ आन्दोलनों के संघटित भाग का एक हिस्सा मात्र थीं, कुल मिलाकर जिनके उद्देश्य नारी हितों और विषयों के प्रति हानिकारक ही थे। उदाहरण के लिए, दुनिया भर में रूढ़िवादी आन्दोलनों की प्रवृत्ति महिलाओं की भूमिका महज एक माँ अथवा उस समुदाय को बच्चे जन कर देने वाली के रूप में ही परिसीमित कर देने की रही है जो कि उक्त समूह द्वारा परिभाषित है। नाज़ी विचारधारा के अनुसार, एक कल्पित जर्मन महिला का महिमागान अन्य कई समूहों में अपना प्रतिरूप रखता है। वस्तुतः, सम्पत्ति, विचार आदि के स्वामित्व संबंधी अधिकार दिए जाने हेतु कोई भी कदम स्वयंकृत अधिकारक्षेत्र में ही रहता है और उस अधिकारक्षेत्र में कोई भी परिवर्तन रूढ़िवादी समूहों के हिस्से के शेष को निमंत्रण देता है। महिलाओं के मुद्दों व अधिकारों को समुदाय से निकालकर व्यापक जनाधिकार क्षेत्र में ले जाने हेतु किसी भी माँग का रूढ़िवादी समूहों द्वारा विरोध किया जाता रहा है।

दूसरे, यह सामाजिक आन्दोलन की प्रकृति से संबंधित है : यह महिलाओं से जुड़े मुद्दों और मामलों की अभिव्यक्ति के लिए गुंजाइश चाहे रखता हो। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एक ऐसा ही आन्दोलन था जिसके लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष लक्षण ने अनेक लोकतांत्रिक आन्दोलनों को उठ खड़े होने और अपनी बात कहने के लिए गुंजाइश रखी है। भारत में नारी आन्दोलन एक ऐसा उदाहरण है जिसमें आान्दोलन की परिरेखाएँ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के व्यापक दौर में सम्मिलित हो जाती हैं। समानता की संकल्पना, न्याय व लोकतंत्र की अवधारणा, जो राष्ट्र की मुक्ति हेतु आन्दोलन के सारभाग केन्द्र थे, नारी आन्दोलन के भी आधारवाक्य थे।

ऐतिहासिक रूप से, महिलाओं की बदलती दशाएँ और उनकी प्रस्थिति उस समाज सुधार आन्दोलन के सारभाग का निर्माण करती थीं जिसने उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में आकार लेना शुरू किया। बीसवीं शती के आरंभिक दशकों में आकर यह सारभाग अपनी परिधि में दो मुद्दों को लाकर वृहदाकार हो गया, यथा आधुनिक राजनीतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक क्षेत्र में महिलाओं की समानता, तथा विकास-प्रक्रिया में महिलाओं की भूमिका। यद्यपि समाज, अर्थशास्त्र व संस्कृति में द्रुत परिवर्तनों ने अनेक

मुद्दों पर फिर से विचार किए जाने की ओर प्रवृत्त किया है, देश में सामाजिक आन्दोलनों ने कमोबेश इसी सारभाग के साथ रहकर ही महिलाओं के विषय में उनके मामलों को दिशा प्रदान की है।

10.2 औपनिवेशिक संदर्भ: एक नए समाज की कल्पना तथा सुधार आन्दोलन

भारत में, अन्य कई औपनिवेशिक देशों की ही भाँति, 18वीं और 19वीं शताब्दियों में उपनिवेशवाद ही था जो नई आर्थिक एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं को क्रियान्वित कर सका। अंग्रेजों, ईसाई मिशनरियों के आगमन और भारतीय समाज संबंधी उनकी आलोचना ने स्थानीय बुद्धिजीवी वर्ग और सामाजिक नेताओं के सामने एक बड़ी चुनौती रख दी। पूर्ववर्ती ने देशज समाज और महिलाओं व निम्न जातियों के प्रति व्यवहार की तीखी आलोचना की। उसने संगठन का एक नया सिद्धांत प्रस्तुत किया – समानता, या कुछ मामलों में ईसाइयत। उसने समाज के लिए नव संगठनकारी सिद्धांत की रूपरेखा भी प्रस्तुत की। जबकि एक व्यवस्था के रूप में उपनिवेशवाद ने उपनिवेशों का शोषण किया और उनके स्वाभाविक एवं संभावित विकास को रोका, उसने इसके साथ ही लोकतंत्र, समानता एवं न्याय जैसे नए विचार भी प्रस्तुत किए।

उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दू, पारसी एवं मुस्लिम सुधारकों ने इस चुनौती को स्वीकार किया और सर्वप्रथम इस प्रकार की व्यापक आलोचना की सूरत में अपने स्वयं के समाजों को सुधारने का प्रयास किया। राजा राममोहन, राय ने, उदाहरण के लिए, जबकि समाज की विकृत तस्वीर प्रस्तुत करने के लिए मिशनरियों की तीखी आलोचना की, वह सती प्रथा और जाति असमानताओं की कुरीतियों के खिलाफ भी आन्दोलन तैयार कर रहे थे। इस शताब्दी के उत्तरार्ध में सुधारकों ने महिलाओं की स्थिति पर बड़ी प्रमुखकता से सवाल उठाया और सभी प्रमुख सुधार प्रयासों में उनकी दशाओं को सुधारने को ही लक्ष्य बनाया गया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा पुनर्विवाह समिति स्थापित कराने में भारी प्रयास किए। इसी प्रकार, नारी शिक्षा को भी इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कदमों में एक माना गया। वीरेशलिंगम पोन्तुलु, ज्योतिबा फुले, बदरुद्दीन तयैबजी, दादाभाई नौरोजी आदि सभी ने इस दिशा में भारी योगदान दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, जब कुछ अर्थ में प्रजातीय एवं साम्राज्यवादी विचारों को फिर से व्यक्त किया गया तो भारतवासियों के बीच एक आन्दोलन शुरू हो गया, जिसने अपनी ऐतिहासिक श्रेष्ठता को परखने और दर्शाने का प्रयत्न किया। इस विचार को लेकर उन्होंने अतीत में झाँका और बताया कि अब के मुकाबले उन दिनों महिलाओं को कुछ अर्थ में बेहतर स्थान प्राप्त था। इस अर्थ में नारी प्रश्न को सामाजिक आन्दोलन में एकीकृत करने की समस्या अधिक जटिल बन गई – 'यदि स्थिति बुरी हो जाए तो कोई क्या करे' ही वह प्रश्न था जिसने आन्दोलनों के दबाव संबंधी प्रमुख सूचक की ओर प्रवृत्त किया। इस बात का श्रेय उस बुद्धिजीवी वर्ग को जाता है जो समाज-सुधार के इस मुद्दे पर लड़ा कि महिलाओं का मुद्दा सबसे आगे रहना चाहिए। सबसे प्रचण्ड रूप से लड़े गए मुद्दों में एक समाज-सुधारकों व उन लोगों के बीच था जो सामाजिक मुद्दों को राजनीतिक लड़ाई से अलग रखते थे।

10.2.1 प्राथमिकता संबंधी मुद्दा: सामाजिक अथवा राजनीतिक

नारी-विषयक मुद्दों की सही प्रकृति क्या थी और उन पर किस प्रकार काम शुरू किया जाना चाहिए?

क्या उन्हें महज सामाजिक असमानता अथवा प्रवृत्ति विषयक प्रश्न के रूप में लिया जाना चाहिए या फिर समानता, स्वतंत्रता व न्याय संबंधी वृहत्तर राजनीतिक प्रश्नों के महत्त्वपूर्ण भाग के रूप में? ये उन्नीसवीं शताब्दी से ही सुधारकों और राजनेताओं के समक्ष गंभीर प्रश्नों के रूप में खड़े हैं। यह बात, बहरहाल, उल्लेखनीय है कि फुले को छोड़कर अधिकांश समाज सुधारक जन उच्च जातियों के बीच ही समाज सुधारों से जुड़े थे। विधवा पुनर्विवाह और सती जैसी समस्याएँ समाज के निम्न स्तरों के बीच व्याप्त नहीं थीं। और आमतौर पर निम्न जातियाँ लिंगभेद पर ध्यान देते हुए, शिक्षा से वंचित थीं। आरम्भिक सुधारकों के सामने इस भाग ने स्वयं को बहुत तीव्रतापूर्वक प्रस्तुत नहीं किया क्योंकि राजा राममोहन राय जैसे लोगों ने नारी-सिद्धांत को अपने उस समग्र दृष्टिकोण के अंतिम भाग के रूप में व्यक्त किया जिसके लिए अब हम एक आधुनिक भारत का संदर्भ देते हैं। ऐसे लोग जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में अर्थव्यवस्था और मुद्दों से संबंधित रायशुमारी शुरू कर दी थी, वे भी समाज में सुधारों एवं मनुष्यों की समानता तथा एक संभावित आधुनिक भारत में महिलाओं के लिए एक अधिक न्यायसंगत समाज से सम्बद्ध थे। उनके अनुसार अर्थव्यवस्था और राजनीति के मुद्दे विलग नहीं हैं। एम. जी. रानाडे, वीरेशलिंगम पोन्तुलु, गोपालकृष्ण गोखले, फिरोजशाह मेहता, दादाभाई नौरोजी, बदरुद्दीन तैयबजी, ज्योतिबा फुले व अन्य कई लोगों ने महिलाओं के लिए शिक्षा एवं अधिक सार्वजनिक स्थान हेतु सक्रिय रूप से अभियान चलाया। इस बोध ऐक्य का प्रतीक यह तथ्य यह था कि भारतीय सामाजिक समागम का वार्षिक सम्मेलन वार्षिक कांग्रेस अधिवेशन के पंडाल में ही हुआ करता था। यह प्रश्न कि सामाजिक मुद्दा अधिक महत्त्वपूर्ण है अथवा राजनीतिक मुद्दा, इस समय तक उठ चुका था। कांग्रेस ने महसूस किया कि विभिन्न समुदायों के बीच सामाजिक मुद्दों के बोध अनैक्यों की राजनीति मुद्दों से अधिक प्राथमिकता दी जाती थी, यह जनसाधारण की एकता को भंग तो करता था लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन हेतु अत्यावश्यक था।

सामाजिक व राजनीतिक समस्या के बीच अनुवर्ती बहस में प्राथमिकता की धारणा और समानता के सिद्धांत की अवस्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण थे। वे लोग जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कहीं भी नज़दीक काम करते हुए सामाजिक समागम का विरोध करते थे, वस्तुतः समानता के सिद्धांत का विरोध नहीं करते थे। परन्तु सामाजिक समस्या को राजनीतिक समस्या से अलग करना नारी समस्याओं के प्रति किसी न किसी प्रकार अहितकर ही सिद्ध हुआ। विवाह-योग्य आयु विधेयक के मुद्दे पर बहस जिसने 1890 के दशक में हंगामा मचा दिया था, में देखा गया कि सुधार समर्थक विचारों का उन वर्गों द्वारा बड़ा ही सशक्त विरोध किया गया जो किसी ऐसे कानून के पक्ष में नहीं थे जो मुख्य रूप से महिलाओं के लिए विवाह-योग्य आयु को बढ़ाने वाला कानून हो। इन दोनों को पृथक् करने के प्रयास ने सामाजिक समानता हेतु आन्दोलन में नारी मुद्दे को सम्मिलित करने के तरीकों व साधनों विषयक किसी भी गंभीर सैद्धांतिक बहस में अड़चन पैदा की।

10.2.2 गाँधीवादी युग में नारी-विषयक मुद्दे

'बीस के दशक में गाँधीवादी आन्दोलन नारी-समस्या विषयक एकता के भाव को वापस ले आये। अस्पृश्यता की समस्या और हिन्दू-मुस्लिम समस्या के साथ महिलाओं की दशा भी तत्काल हल किया जाने वाला एक प्रमुख मुद्दा बन गई। इसके आमतौर पर नारी आन्दोलन तथा वृहत्तर राजनीतिक प्रसंग हेतु महिलाओं के मुद्दों की सुलभता हेतु गंभीर निहितार्थ रहे हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन ने इस समय महिलाओं

के लिए यथासंभव वृहद् स्थान बना दिया ताकि वे बाहर आयें और एक ऐसे मुद्दे पर सहभागी बनें जो प्रत्यक्षत: राजनीतिक था, यथा राजनीतिक स्वतंत्रता। परन्तु साथ ही जनसाधारण, जिनमें बड़ी संख्या महिलाओं की थी, आन्दोलन की प्रक्रिया में अपने निजी समूहों के मुद्दों को उठाने के लिए उत्तेजित रहे। 1927 में कुछ मुद्दों को समर्थन देते राष्ट्रीय निकाय के रूप अखिल भारतीय महिला संघ की स्थापना की गई। यही वो वक्त था जब महिलाओं को मताधिकार के साथ-साथ किसी भी सरकारी संगठन में प्रतिनिधित्व देने के लिए महिलाओं के साथ-साथ अन्य वर्गों की ओर से भी आवाज़ उठी। दिलचस्प बात है कि यह वो वक्त था जब यूरोप में मताधिकार आन्दोलन ने गति पकड़ी। अनेक महिलाएँ जो गाँधीवादी आन्दोलन की अग्रगामी थीं, बाद में देश भर में संस्थाओं में शामिल हो गईं। ये संस्थाएँ गंभीर सामाजिक मुद्दों को उठाने में एक महती भूमिका निभाती थीं, और बाद के वर्षों में आन्दोलनों को संघटन एवं नेतृत्व प्रदान करने में भी। वस्तुत:, औपनिवेशिक राज्य के विरुद्ध अपने संघर्ष के साथ-साथ अस्पृश्यता के खिलाफ़ अपने आन्दोलन में और साम्प्रदायिक विवाद के प्रश्न पर वे तरीके जो गाँधी जी ने प्रयोग किए, इन महिलाओं व संस्थाओं द्वारा प्राय: ही प्रेरित महिलाओं द्वारा कुछ आन्दोलनों के प्रमाण-चिह्न बन गए। 'सत्तर के दशक में महिलाओं ने जब उत्तरांचल में मद्य विक्रेताओं के विरुद्ध या फिर पेड़ काटे जाने के विरुद्ध लड़ाई लड़ी तो उनके आन्दोलनों का लक्षण-वर्णन विरोध के गाँधीवादी तरीकों से किया गया, यथा अहिंसात्मक तरीकों से, और अपने विरोधी में नैतिक चेतना जगाकर।

1917 में रूसी क्रांति की सफलता ने भारत में साम्यवादी आन्दोलन में शामिल होने के लिए बड़ी संख्या में महिलाओं को प्रोत्साहित किया, जो कि एक साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में भी शामिल थीं और नारी-आन्दोलन में भी। वस्तुत:, साम्यवादी आन्दोलन ने बाद के प्रगतिशील आन्दोलन ने मुख्य राजनीतिक व सामाजिक समस्या के रूप में महिलाओं के साथ-साथ महिलाओं की स्थिति से जुड़े मुद्दे भी उठाए। इन साम्यवादी महिलाओं ने स्वातंत्र्योत्तर काल में नारी-आन्दोलन संबंधी अपनी विरासत को आगे पहुँचाया।

10.3 स्वातंत्र्योत्तर काल: राज्य, सुधार और महिलाएँ

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राज्य ने उन सुधारों की व्यूह-रचना आरम्भ की जिसकी स्वतंत्रतापूर्व से ही माँग की जाती रही थी। उदाहरण के लिए, इस आशय की माँगें थीं कि सभी प्रथागत एवं धार्मिक व परंपरागत कानूनों को, जो वृहत्तर हिन्दू समाज को नियंत्रित करते थे और जो काफ़ी हद तक इसी कारण धार्मिक अर्थ में हिन्दू महिलाओं की कानूनी प्रस्थिति को निर्धारित करते थे, कूटबद्ध किया जाना चाहिए और सार्वजनिक अधिकार-क्षेत्र में लाया जाना चाहिए। 1948 में इस बात के प्रयास किए गए कि हिन्दू संहिता नामक विधेयक को संविधान सभा के समक्ष लाया जाए। तथापि, कड़े विरोध ने इस विचार को छोड़े देने की ओर प्रवृत्त किया। कुछ अन्य प्रयासों के बाद, अन्तत: 1955-56 में ही यह हो पाया कि संहिता विधेयक खण्डों में पास किया गया जिन्हें हिन्दू विवाह अधिनियम, हिन्दू विवाह-विच्छेद अधिनियम, आदि के नाम से जाना गया। जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी की ओर से सशक्त समर्थन के बावज़ूद प्रतिपक्ष अत्यंत सशक्त था। सरकार अन्य समुदायों के निजी कानूनों के मुद्दे को समझ नहीं सकी, यथा मुस्लिम, ईसाई अथवा पारसी धर्म के निजी कानून। अपने धार्मिक समुदायों के निजी कानूनों द्वारा जीवन के निर्णायक पहलुओं को निर्धारित किया जाना जारी रहा जिसमें मनुष्य ही अधिकांश मामलों

में सर्वोच्च मध्यस्थ था। यह एक असंगत स्थिति थी जैसा कि महिलाओं ने अपने संताप भाव में पाया कि सामुदायिक प्राधार कहीं अधिक सत्तावादी थे और भारतीय राज्य उस अर्थ में इस प्रकार के प्राधारों से मुक्ति की एक एजेन्सी अधिक थी।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राज्य ने स्वयं को इस सर्वसम्मति से जोड़ा कि आधुनिक विकसित राज्य और राजनीतिक लोकतंत्र की रक्षा आर्थिक लोकतंत्र द्वारा की जाएगी। महिलाओं को मताधिकार, यथा लोकतांत्रिक अधिकार, मिला और विकास का काम है यह देखना कि उसे आर्थिक अधिकार मिलें ताकि वह उस लोकतंत्र का प्रयोग कर सके। इस प्रकार, समानता, अधिकारों व न्याय संबंधी एक पूर्ण विकसित सिद्धांत सामने था।

बहु जलाने और बलात्कार के रूप में महिलाओं के विरुद्ध यह हिंसा ही थी जिसने विशेष रूप से 'सत्तर के दशक से नारीवादी समूहों के नेतृत्व में नारी आन्दोलन को उत्तेजित किया। दहेज और बलात्कार के विरुद्ध अभियानों को ही समकालीन भारतीय नारीवादी आन्दोलन के सर्वप्रथम अभियान कहा जाता है। बुनियादी स्तर पर महिलाओं के विरुद्ध हिंसा, जमींदारों द्वारा बलात्कार, जाति उत्पीड़न आदि ने धीरे-धीरे आन्दोलन से यह काम करवाया कि महिलाओं से सम्बद्ध मामलों में उन्हें परखे और शामिल करे। पार्टियों और आन्दोलन के सैद्धांतिक एवं संगठनात्मक प्राधारों ने हालाँकि कुछ मुद्दों पर प्रकाश डाला, परन्तु उनके विषय में कोई नया संदर्श विकसित नहीं किया। इसने राज्य-तंत्र के साथ तत्काल मोह-भंग पैदा कर दिया था। विकास की प्रकृति के खिलाफ़ आवाज़ें बुलन्द होने लगीं और देश के अनेक भागों में अधिक नारी-केन्द्रिक विकास हेतु माँग सुनाई दी। दरअसल, अनेक मामले, उदाहरणार्थ हिमालय क्षेत्र में 'चिपको आन्दोलन' एक आँख खोलने वाली घटना बन गए जहाँ वृक्षों को बचाने के साथ-साथ ऐसे विकास नियोजन हेतु भी माँगें थीं जो स्थानीय आवश्यकताओं एवं संसाधनों के प्रति सुग्राही था।

इन आलोचनाओं को उस विकास-प्रक्रिया की आलोचना द्वारा सैद्धांतिक तरीके में जोड़ दिया गया है जिससे भारत गुज़र रहा है। राज्य-प्रायोजित विकास-प्रक्रिया की अंतरराष्ट्रीय नारीवादी आलोचना जिसने अपनी निर्णयकारी शुरुआत 'सत्तर के दशक में दर्शायी, ने भी 'संयुक्त राष्ट्र महिला दशक' की अवधि के दौरान इन कार्यों को प्रभावित किया। इन बुद्धिजीवी आलोचकों के एक वर्ग ने जो यद्यपि नारीवादियों में से सीधे निकलकर नहीं आया, उस आधुनिकता के सहचलन स्वरूप समुदाय, परंपरा और स्थानीय बंधनों को कायम रखना शुरू कर दिया जिसको वे नारी-विरुद्ध बताते थे। भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के कुछ खंड भी उन आलोचनाओं में शामिल हो गए। 'नब्बे के दशक में ये आलोचनाएँ उस नारीवादी आन्दोलन के वर्गों के साथ विलय हो गयीं जो कि समान रूप से भूमण्डलीय प्रक्रियाओं के विरुद्ध एक लड़ाई छेड़े हुए था।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राज्य न्याय के साथ समानता की धारणा पर आधारित है और यही वो सर्वसम्मति रही है जो स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान विकसित हुई। विकास से उम्मीद की गई थी कि साम्यता को करीब लायेगा और व्यवस्था की लोकतांत्रिक कार्यवाही का हिस्सा यह देखना भी होगा कि विकास का लाभ जनसमाज को विभिन्न खण्डों में समान रूप से पहुँचे। नारी मुद्दे के संबंध में, नारी विकास पर सर्वसम्मति थी। साम्यता के मोर्चे पर कानून-व्यवस्था को असमान पाया गया और 1948 में ही संविधान सभा द्वारा जाँचा हुआ प्रथम प्रमुख पुनर्निर्माण था – एक मानकीकृत हिन्दू संहिता का परखना और लागू

करना जो कि विभिन्न हिन्दू समुदायों में महिलाओं हेतु व्यवहार्य बहुसंख्य भेदभावपूर्ण व्यक्तिगत एवं प्रथागत नियमों को दूर करने का प्रयास करें। परम मनोगत लक्ष्य, जैसा कि महिलाओं के प्रतिनिधिजन तर्क देते हैं, एक सर्वमान्य समान नागरिक संहिता का अग्रदूत होना था। इसको बहुत महत्त्वपूर्ण समझा गया क्योंकि राज्य महिलाओं के साथ व्यवहार व्यक्तिगत अथवा सामुदायिक कानूनों के माध्यम से क़रता रहा जहाँ पुरुष प्रभावशाली एवं सत्तावादी व्यक्ति होता था। यह तर्क दिया गया कि जब तक नियम, परम्पराएँ एवं कानून व्यक्तिगत अथवा सामुदायिक से निकालकर सार्वजनिक अधिकारक्षेत्र में नहीं लाए जाते, महिलाएँ संविधान द्वारा वचन दी गई समानता का उपभोग करने में सक्षम नहीं होंगी।

शाह बानो प्रकरण महिलाओं से संबंधित मुद्दों की एक संपूर्ण शृंखला को सामने लाया। यह प्रकरण उसके धार्मिक समुदाय के संदर्भ में महिलाओं के मुद्दे की ओर भारतीय राज्य की प्रवृत्ति को लाया। इसने किसी आम नागरिक संहिता के लिए लड़ने हेतु अपनी शक्ति संघटित करने हेतु नारी आन्दोलन की कमज़ोरी को भी दर्शाया। तीसरे, समाज में प्रगतिशील वर्गों को आगे आने और सभी समुदायों हेतु समान नागरिक संहिता की माँग करने संबंधी कमज़ोरी को उभारा ताकि नारी अधिकार धर्म के अधिकार-क्षेत्र से निकलकर धर्मनिरपेक्ष कानूनी अधिकार-क्षेत्र में आयें। भारत सरकार की कार्यवाही ने कुछ अर्थ में मुस्लिम समुदाय में उदारवादियों और उन शिक्षित महिलाओं की आवाज़ को कमज़ोर कर दिया जिन्होंने इस समय-बिन्दु पर राज्य की तुलना में स्वधर्म-निष्ठा की शक्ति को महसूस किया।

सरकार की कार्यवाही ने उन दूसरे समुदायों में रूढ़िवादी समूहों की भी हिम्मत बढ़ायी जो अब यह दिखा सकते थे कि भारतीय राज्य बस अल्पसंख्यक समुदाय की भावनाओं को तुष्ट करने ही लगा रहता है और वास्तव में विकास से उसका कोई लेना-देना नहीं है। इसके बाद से ही हिन्दुओं के बीच रूढ़िवादी और साम्प्रदायिक समूह ही थे जिन्होंने अल्पसंख्यकों को उकसाने के लिए एक समान नागरिक संहिता की माँग शुरू कर दी। इस प्रकार, कुल मिलाकर, नारी समानता के जुड़े सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दे भारतीय लोकतंत्र की वास्तविक राजनीति का हिस्सा बन गए। तदनुसार, 'अस्सी के दशक तक उन साम्प्रदायिक दलों द्वारा जिनके पास एक बड़ा मध्य- व निम्न-वर्ग समर्थन था, राजनीतिक आन्दोलनों ने धीरे-धीरे नारी और उसकी कानूनी व राजनीतिक पात्रताओं विषयक रचनात्मक बातचीत को काफी प्रभावित किया।

10.4 वामपंथ और नारी आन्दोलन

'पचास के दशक से ही साम्यवादी दलों ने महिलाओं को न सिर्फ़ नेतृत्व प्रदान किया वरन् महिलाओं की समस्या को राजनीतिक चर्चा के केन्द्र में भी रखा। तथापि, 1964 में साम्यवाद आन्दोलनों में फूट और वाम आन्दोलन के भीतर कई ऐसी नई आवाज़ों के उठने के साथ ही जो मार्क्सवादी दलों की पुरानी मान्यताओं पर संदेह करती थीं, समुदायों व समूहों की माँगों को व्यक्त करने संबंधी नए विचारों और संगठनात्मक सिद्धांतों का उदय शुरू हुआ। महाराष्ट्र के धूलिया ज़िले में शाहदा आन्दोलन एक इसी प्रकार का आन्दोलन था। ग़ैर-जनजातीय स्थानीय भूस्वामियों द्वारा स्थानीय भील जनजातीय भूमिहीनों का शोषण इसमें मुख्य मुद्दा था। जनजातियों के कष्टों को और बढ़ा दिया महाराष्ट्र में उत्तरोत्तर सूखा और अकाल ने। ज़मींदारों और साहूकारों की विभिन्न शोषणकारी प्रथाओं ने जनजातियों को विरोध के उग्र तरीकों की ओर धकेला। यद्यपि इस आन्दोलन का जन्म परंपरागत लोकाचार, भजन-गायन आदि के

माध्यम से 'साठ के दशकोत्तर में हुआ, 'सत्तर के दशक में समूचा कायापलट देखा गया जब नए-नए प्रेरित वामपंथी नेतागण आन्दोलन में शामिल हो गए और भील महिलाएँ धीरे-धीरे और बड़ी संख्या में संघटित कर ली गईं। तथापि, इस आन्दोलन के दौरान यह महसूस किया गया कि वे मुद्दे जो इन क्षेत्रों में महिलाओं के लिए मुख्य थे, बिल्कुल वैसे नहीं थे जैसा कि संगठन ने शुरू-शुरू में सोचा था। उदाहरण के लिए, शाहदा आन्दोलन में हलचल शुरू होने के बाद यह महसूस किया गया कि अधिकतर महिलाएँ भूमिहीन वेतनभोगी थीं और ऊँचे वेतन हेतु माँग महिलाओं के मुद्दे को और प्रत्यक्ष रूप से उठाती थी। यह आन्दोलन धीरे-धीरे कुछ और मुद्दों को अपने में समेटने लगा, जैसे उच्च वेतन और मद्य-विरोध, क्योंकि यह पाया गया था कि आदमियों की दारू पीने की आदत घरेलू अर्थव्यवस्था को चौपट कर डालती थी और उनकी औरतों को घर चलाने के लिए मेहनत-मशक्कत करनी पड़ती थी। शराबखोरी ने औरतों को आये दिन पीटे जाने की ओर भी प्रवृत्त किया। इस प्रकार के मुद्दे जो पहले इस आन्दोलन के विषय नहीं थे, महिलाओं के जीवन की गहरी सच्चाई के रूप में महसूस किया गया और उन्हें उठाया गया। इसने महिलाओं को भी प्रोत्साहन किया कि नारी-गठित समूहों में शामिल होने बड़ी संख्या में आयें और फिर वे मद्यपात्रों को नष्ट करती हुए गाँव-गाँव गईं।

1970 में पुनः महाराष्ट्र आन्दोलन जल्द ही गुजरात में फैल गया जहाँ बम्बई, पूना और अहमदाबाद जैसे प्रमुख शहरों में महिलाएँ इस प्रकार की स्थिति के लिए जो बांग्लादेश युद्ध पश्चात् लोगों की आर्थिक रूप से बिगड़ती दशाओं की पृष्ठभूमि में पैदा हुए, सरकार के खिलाफ विरोध करते हुए गलियों में निकल आयीं। बम्बई में, उदाहरण के लिए, समाजवादी मृणाल गोरे और साम्यवादी अहिल्या राँगनेकर ने आन्दोलन का नेतृत्व किया। महाराष्ट्र और गुजरात की हलचल ने वृहत्तर विरोधात्मक राजनीति में इज़ाफा किया जो कि उस वक्त उबाल पर थी। वस्तुतः गुजरात और महाराष्ट्र में निम्न जातियों का अभाव स्पष्ट था। अतः निम्न वर्गों अथवा जनजातियों से महिलाओं के मुद्दे और मामले आन्दोलन का हिस्सा नहीं बन पाए थे। ऐसा विभिन्न प्रकार के आन्दोलनों के माध्यम से ही हुआ कि यह वर्ग अपनी चिन्ताएँ व्यक्त करने लगा। महाराष्ट्र में, उदाहरण के लिए, शाहदा आन्दोलन में जनजातीय महिलाएँ एक ओर भूमिहीन वेतनभोगी महिलाओं के मुद्दों व शराबखोरी के खतरों को लाईं तो दूसरी ओर बोध गया में भूमि का मुद्दा शामिल था। लगता था कि एक दशक या अधिक अंतराल के बाद राजनीतिक व सामाजिक समस्याएँ तेज़ी से गहरे जुड़े जा रही थीं।

नए वर्गों का प्रकाश में आने का मतलब था कि राजनीतिक परिदृश्य का और अधिक जटिल हो जाना और हल करने के लिए और प्रचण्ड समस्याएँ। नारीत्व और नारी की भूमिका संबंधी गाँधीवादी विचारों पर अब सवाल उठाए गए और ऐसा ही उनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों के साथ हुआ। इस प्रकार की स्थिति में महिलाओं में संघटन भी होना शुरू हो गया। यही वो वक्त भी था कि जब पाश्चात्य नारीवादी जन ये सवाल उठाने लगे थे कि क्या ये मुद्दे जिनके लिए वे संघर्षरत हैं, वास्तव में तीसरी दुनिया की महिलाओं के लिए व्यवहार्य हैं, क्योंकि वहाँ दूना दमनात्मक पितृतंत्र और दरिद्रता है। यही स्थिति भारत में भी आई जब वे मुद्दे जो कि नारी-आन्दोलन द्वारा या तो समानता या फिर अधिकार की व्याख्या के अधीन उठाये जा रहे थे, वास्तव में विभिन्न सामाजिक स्तरों की महिलाओं के लिए लागू किए गए। शाहदा आन्दोलन के अनुभव में स्पष्टतः दिखाई दिया जब आन्दोलन के दौरान इसके आयोजकों के सामने पार्थक्यसूचक मुद्दे और बदलाव आये – माँग और संघटन प्रतिमान, भूमि-अधिकार मुद्दे जिनको हाल के नारीवादी लेखकों तक ने सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दे बताया है – जहाँ अधिकांश जनता भूमिहीन है। यह मुद्दा कि उन्हें

ज़मीन कौन दे, हमें वापस राज्य के मुद्दे पर ही ले आता है, और लोकतंत्र के मुद्दे पर भी जो भारत में सुलभ है।

वर्ष 1975 को संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा विश्व महिला वर्ग घोषित किया गया था। महिला दशक, 1975-85 में नारीवादी समूहों के साथ-साथ राजनीतिक दलों द्वारा भी महिलाओं से जुड़ा सक्रियतावाद देखा गया। ये मुख्यत: नागर-आधारित सक्रियतावादी समूह थे। बहरहाल, यह राज्य ही था जो महिलाओं की दशा सुधारने हेतु अनेक प्रगतिशील कदमों को प्रोत्साहन देता था और बहुत सी गतिविधियों को देखता था। महाराष्ट्र वामपंथ-प्रेरित महिलाओं के सक्रियतावाद का अड्डा था। माओवाद-प्रेरित महिलाओं ने बम्बई में पुरोगामी स्त्री संगठन, (प्रगतिशील महिला संघ), और 'स्त्री मुक्ति संगठन' का गठन किया। पूना में 'लाल निशान पार्टी' और 'श्रमिक संगठन', दोनों माओवादी संगठन द्वारा आयोजित महिला सम्मेलन किया गया जिसमें विभिन्न दलों और राज्य भर से बड़ी संख्या में महिलाएँ उपस्थित हुईं।

इस दौर में दलित आन्दोलन और आन्दोलन जुड़ गए। महाराष्ट्र में कुछ दलित समूहों द्वारा एक 'महिला समता सैनिक दल' भी बनाया गया। माओवादी समूहों और दलित संगठन ने धीरे-धीरे इस तर्क में एक नई सान रखी कि धर्म और जाति व्यवस्था महिलाओं के दमन को अतिरिक्त वैधता प्रदान करते हैं और इस कारण किसी भी संभावित नारी मुक्ति के अनुसार अति निंद्य हैं।

यह दौर भी एक नई चेतना के साथ आया। महिलाओं का किस प्रकार संगठन और प्रतिनिधित्व किया जाए?, जबकि शाहदा जैसे आन्दोलनों ने दर्शाया कि महिलाओं को इस आन्दोलन की प्रक्रिया में संगठित किया जा सकता था जिसमें मुद्दे जो नारी जीवन के निकट हों, उठेंगे। इस समय तक एक आत्म-सचेत नारीवादी विचारधारा भी अपना हक कायम करने आ गई। जबकि अधिकांश नारीवादी जन शहरी मध्यवर्गों से सम्मिलित होने के लिए लुभाए गए थे और समाज की समस्त महिलाओं का प्रतिनिधित्व करने में अक्षम पाए गए थे, गंभीर रूप से सोचा गया कि इन आन्दोलनों के बाहर संगठन की आवश्यकता है। ये समूह जिन्हें स्वायत्त समूह कहा गया, महिलाओं के मुद्दों और इस आन्दोलन के विषय में संगठनात्मक अधिक्रम का शिकार हुए बग़ैर और उन मान्यताओं का अन्धभक्त हुए बग़ैर, सोच सकते थे जो देश के वामपंथी दलों से आक्रांत थीं। अनेक महिला समूह जो 'सत्तर के दशक में या उसके बाद जन्मे, स्वयं को केवल महिलाएँ समूह रखने का फैसला किया, जो कि बिना किसी दलीय संबंध अथवा परंपरागत संगठनात्मक प्राधार के था और प्राय: ही भारतीय समाज में महिलाओं की रोजाना की ज़िन्दगी और संघर्ष से जुड़े एक अथवा एकाधिक गंभीर मुद्दों के इर्द-गिर्द गठित होता था। सन् 2000 तक देश के विभिन्न भागों में कार्यरत ऐसे हज़ारों समूह देखे जा सकते थे और वस्तुत: 2000 तक भारतीय नारी आन्दोलन का लक्षण-वर्णन देश भर में इन समूहों द्वारा ही अधिक किया लाता है बनिस्वत् इस प्रकार के संगठनात्मक रूप से संरचित आन्दोलन द्वारा।

10.5 समानता अथवा भेद

जबकि भारत में सामाजिक आन्दोलन की पूरी इमारत जो महिलाओं की प्रस्थिति को बदलना चाहती थी, समानता के सिद्धांत पर खड़ी है, 'अस्सी के दशक तक यह महसूस किया जाने लगा कि महिलाओं को हिंसा का शिकार होने से बचाने के लिए समानता ही पर्याप्त नहीं है, जो कि इस पर महज इसलिए की

जाती है कि वो एक औरत है। यह इस तथ्य के बावज़ूद था कि अनेक मामलों में वह प्रतिष्ठा, शिक्षा अथवा अन्य लक्षणों में पुरुष दुष्कर्त्ता के बराबर अथवा उससे श्रेष्ठ थी। महिलाएँ बलात्कार का निशाना महज इसलिए थीं कि वे औरतें थीं – पुरुष से जैविक रूप से भिन्न। यह शीघ्र ही बहस का एक मुख्य सैद्धान्तिक और संगठनात्मक मुद्दा हो गया कि ये आन्दोलन अपना ध्यान कहाँ केन्द्रित करें, यथा समानता पर अथवा भेद पर। 1987 में पुलिस द्वारा एक जनजातीय लड़की मथुरा के बलात्कार का मामला तथा एक अभियान और अनेक प्रमुख विधि-वेत्ताओं द्वारा लड़े जाने के बावज़ूद न्यायपालिका टस से मस नहीं हुई और मथुरा को बहु पुरुषगामी स्त्री घोषित कर दिया। इसने हंगामा पैदा कर दिया और महिला-समूहों को उस भावशून्यता का अहसास करा दिया जो कि राज्यतंत्र महिलाओं के मुद्दों के प्रति रखता है। इसी प्रकार, दहेज की वजह से होने वाली मौतें मुख्य रूप से खाते-पीते मध्यवर्गी घरों के बीच, भी कुछ पूर्व मान्यताओं को हिलाकर रख देने वाला प्रहार सिद्ध हुईं, यथा महिलाओं की प्रस्थिति में सुधार लाकर विकास-प्रक्रिया उसे पूरी तरह से लोकतांत्रिक अधिकारों के प्रयोग में मदद करेगी। इसी विकास को अब उसके लिए जीवन को असुरक्षित बनाने में सक्षम के रूप में देखा गया। 2001 की जनगणना के आँकड़े सामने आने तक, भारत के सबसे विकसित राज्यों में लिंग अनुपात में बढ़ती गिरावट ने इसी दृश्यघटना का संकेत दिया।

यह भी महसूस किया गया कि जबकि राज्य महिलाओं की बेहतरी के लिए प्रकट रूप से विकासात्मक कार्यसूची का पालन करता रहा है, वह पितृतंत्र की ताकतों के प्रति उत्तरदायी रहा है। इसके और भी निहितार्थ थे। इस प्रकार, नारीवादी जन और नारी सक्रियतावादी जन यह स्वीकार करने लगे हैं कि लोकतंत्रीकरण हेतु आन्दोलन को मज़बूत करना होगा ताकि महिलाओं के बेहतर और सुरक्षित दैनिक जीवन हेतु माँग के पीछे शक्ति प्रबलित हो। एक सशक्त नारी आन्दोलन की आवश्यकता पर भूमण्डलीकरण के युग में और ज़ोर दिया गया जहाँ हिंसा की नई ताकतें महिलाओं पर आजमाई गईं।

किसी लोकतांत्रिक व्यवस्था में न सिर्फ़ महिलाओं के अधिकार वरन् ऐसी स्थिति में जब राज्य वापस कदम खींच रहा हो, समग्र समानता की समस्या संबंधी मुद्दे भी महज कोई निर्णायक राजनीतिक मुद्दे नहीं जो कि महिला आन्दोलन को हल करने हैं।

10.6 नए सामाजिक आन्दोलन

'अस्सी के दशकोत्तर में भारत में और विश्वभर में समस्त परिदृश्य के चलते ऐसी स्थिति पैदा हुई कि जहाँ नारी आन्दोलन उन मुद्दों के अधिकार-क्षेत्र के बाहर नहीं रह सका जिन्होंने एक नई वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था की सूरत में पारिस्थितिकी, पर्यावरण व सातत्य के मुद्दों के संबंध में विश्वव्यापी आन्दोलन की ओर प्रवृत्त किया है। बहुत जल्द ही, अब देश के विभिन्न भागों में ऐसे आन्दोलन देखे जा सकते हैं जिन्होंने अर्थव्यवस्था और राजनीति की नई ताकतों की सूरत में रोज़मर्रा की ज़िंदगी और उत्तरजीविता के मामलों को उठाया है। जबकि राष्ट्रीय राजनीति जाति-सम्प्रदाय तथा महँगी व भ्रष्ट चुनाव प्रथाओं में कदम खींचती लगती है, देश के विभिन्न भागों में बड़ी संख्या में आन्दोलनों में लोगों को स्थानीय समुदायों व ग्रामों से आते देखा गया। इन आन्दोलनों का एक मुख्य अभिलक्षण प्रमुख भूमिका रहा है, जिसमें महिलाओं द्वारा निभायी गयी नेतृत्व की भूमि भी शामिल है। उत्तरजीविता और मान-मर्यादा दो जुड़वाँ मुद्दे बन गए लगते हैं, जिनको इन आन्दोलनों ने समानता और न्याय संबंधी पहले से ही विद्यमान

मुद्दों को अनुप्राणित कर दिया है। छत्तीसगढ़ में छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा द्वारा श्रमिकों और जनजातियों के अधिकारों हेतु आन्दोलन में, नर्मदा बचाओ आन्दोलन में और भाँवरी देवी मामले में अधिकारियों के विरुद्ध आंदोलन में जहाँ अधिकारी वर्ग दमनकारियों को बचाने की कोशिश कर रहा था, और हाल ही में सूचना का अधिकार हेतु आन्दोलन में बड़ी संख्या में महिलाओं की भागीदारी ने दर्शाया है कि सामाजिक आन्दोलन एक बड़े परदे पर राजनीति और समाज के मुद्दों को जोड़ने और उन्हें एक अधिक लोकतांत्रिक एवं न्यायसंगत समाज हेतु संघर्ष में बदलने का प्रयास है। काफ़ी दिलचस्प बात है कि इन आन्दोलनों से उठने वाली आवाज़ों का ध्यानपूर्वक मुताला यह दर्शाएगा कि इन आन्दोलनों में महिलाओं ने प्रायः हमारे लोकतंत्र की प्रतिनिधि पद्धति की वैधता पर संदेह किया है जबकि उन्होंने देश भर में और विश्व में भी, इसी प्रकार के आन्दोलनों के साथ गठजोड़ करने का प्रयास किया है, इसी के साथ ही उन्होंने राज्य से माँग की है कि वह अपनी चुनाव प्रणाली बदले ताकि महिलाओं का अधिक प्रतिनिधित्व हो। ये सब ऐसे समय के करीब हो रहे हैं जब बड़ी संख्या में नई शक्तियाँ इसके लिए जन समाज को पर्याप्त रूप से तैयार किए बग़ैर धरातल पर उन्मुक्त होती जा रही हैं। महिलाएँ जिनके पास पर्याप्त प्रारम्भिक शिक्षा और प्राथमिक स्वास्थ्य रक्षा सुविधाएँ तक नहीं हैं, को इन ताकतों का सामना करना पड़ रहा है। इस बात के भी संकेत हैं कि राज्य जो अब तक यह घोषित करता था कि वह असुरक्षित वर्गों का ध्यान रखेगा, अस्थिरमना हो कदम खींच रहा है।

ये परिस्थितियाँ ही हैं जिनमें महिलाएँ कई नए आन्दोलनों के सबसे प्रमुख स्थान पर देखी गईं। इन नए संगठनों का परिणाम यह हुआ है कि नारी ने स्वयं को राज्यतंत्र के भीतर संस्थापित पितृसत्तात्मक प्राधारों के अत्यधिक सशक्त संयोजन के साथ रू-ब-रू पाया है। मेघालय और कश्मीर में, उदाहरण के लिए, राज्यविधान मण्डल ही थे जिन्होंने महिलाओं को, यदि वह महिला धार्मिक रूप से अथवा अन्यथा परिभाषित सामुदायिक सीमाओं के बाहर विवाह करती है तो किसी भी उत्तराधिकार से मना कर दिया था। यह महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर उसे अपने पर निर्णय लेने संबंधी नारी अधिकार पर सप्रयास नियंत्रण था, यथा अपना जीवन-साथी चुनने पर। दुनिया में जाति, समुदाय व राज्य की सीमाएँ महिलाओं की गतिशीलता को दबाने के लिए ही निर्धारित की गईं।

इसी बीच महिला आन्दोलन ने समुदाय व परम्परा के प्राधारों के खिलाफ़ लड़ने का भी प्रयास किया क्योंकि उनको प्रायः ही समानता व स्वतंत्रता के रास्ते में रोड़ा पाया गया है। यह बात 'अस्सी के दशक में दो सशक्त आन्दोलनों के मामले में प्रत्यक्ष थी – एक दहेज के मुद्दे के खिलाफ़ और दूसरा रूप कँवर के प्रसिद्ध मामले में, जिसमें उसे सती के रूप में जला दिया गया था। दहेज की वजह से होने वाली मौतों में परम्परा आड़े आयी जबकि दूसरे मामले में एक जवान राजपूत महिला को अपने पति की चिता के साथ जल मरने पर मज़बूर किया गया। नारी तथा सती व उसकी तदोपरांत महिमागान करने वाले अन्य समूहों द्वारा विरोध को जातीय व सामुदायिक राजनीति के सशक्त गठजोड़ का सामना करता पड़ा जो न सिर्फ़ सती प्रथा का पक्ष लेते थे; बल्कि उनके भी पक्षधर थे जिन्होंने रूपकँवर को चिता पर बलात् भेजा। तथापि, इस प्रक्रिया में नई शक्तियों की जागरूकता दिखाई दी – वे जो महिलाओं के समानता आन्दोलन का समर्थन करते थे और जो उसका विरोध करते थे, दोनों आमने-सामने आये और नारी आन्दोलन के लिए शिक्षाप्रद सिद्ध हुए।

10.7 सारांश

संक्षिप्ततः, कई अन्य सामाजिक समूहों की ही भाँति भारतीय महिलाएँ भी स्वतंत्रतापूर्व और स्वतंत्रताप्राप्ति पश्चात् सामाजिक आन्दोलनों में शामिल रही हैं। समाज के सभी पहलुओं में भेदभावपूर्ण स्थिति में रखी गई, बहुत सी पीड़ाएँ झेल रही महिलाएँ, व उनकी समस्याएँ स्वतंत्रतापूर्व काल में सामाजिक सुधारकों की चिन्ता का विषय बन गईं। स्वातंत्र्योत्तर काल में बड़ी संख्या में साधारण जल संगठन और नागरिक-समाज संगठन, विभिन्न विचारधाराओं को मानने वाले संगठन आदि ने महिलाओं के मुद्दों को उठाया। यद्यपि महिलाओं के मुद्दे नीति-निर्माताओं की कार्यसूची में महत्त्वपूर्ण स्थान ले चुके हैं, कुल मिलाकर अब तक उनकी उपेक्षा ही होती है।

10.8 अभ्यास प्रश्न

1) स्वतंत्रतापूर्व काल में महिलाओं के मुद्दों पर एक टिप्पणी लिखें।

2) कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वामपंथी शक्तियों द्वारा महिलाओं के संघटन को स्पष्ट करें।

3) महिलाओं के मुद्दों से संबंधित राज्य की भूमिका को स्पष्ट करें।

इकाई 11 क्षेत्रीय आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

11.1 प्रस्तावना

11.2 क्षेत्रीय आन्दोलन: अर्थ और महत्त्व

11.3 क्षेत्रीय आन्दोलनों पर क्रमबद्ध अन्तर्दृष्टि (Methodological Insights)

11.4 क्षेत्रीय आन्दोलन, क्षेत्रवाद और राज्य गठन: कुछ प्रेरणार्थक (Causative) व्याख्याएँ

11.5 राज्यीयता हेतु आन्दोलन के विशिष्ट प्रतिमान

11.6 क्षेत्रवाद के प्रकार

11.7 क्षेत्रीय आन्दोलनों के प्रति राज्य की प्रतिक्रिया

11.8 सार-संक्षेप

11.9 अभ्यास प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

स्वतंत्रताप्राप्ति के समय से ही भारत जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक संघटनों की विविधताओं वाला तथा आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों/ढाँचों वाला देश है, क्षेत्रीय आन्दोलनों का सामना करता रहा है। 1956 में भारतीय राज्यों के पुनर्गठन ने क्षेत्रीय विषमताओं संबंधी समस्याएँ हल नहीं कीं। किसी एक राज्य-विशेष का गठन हो जाने के बावज़ूद, किसी राज्य में एक अथवा अनेक क्षेत्र स्वायत्तता, स्वतंत्रता अथवा भारतीय संघ से अलगाव के लिए क्षेत्रीय आन्दोलन शुरू कर देते हैं। प्रस्तुत इकाई छात्रों को भारत में क्षेत्रीय आन्दोलनों व उनसे जुड़े मुद्दों से अवगत कराने का प्रयास करती है।

11.2 क्षेत्रीय आन्दोलन: अर्थ और महत्त्व

क्षेत्रीय आन्दोलन एक एकात्म्य आन्दोलन है जो राज्य से विशेष प्राधिकार, संरक्षण, और रियायतें पाने का प्रयास करता है। यह एक क्षेत्रीय स्व-शासन हेतु आन्दोलन है। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ है – राज्य गठन हेतु एक आन्दोलन, यथा एक आन्दोलन जो वर्तमान राज्य-व्यवस्था और राजनीतिक प्रक्रिया के बाहुल्यीकरण और संघीकरण के लिए प्रयासरत है। क्षेत्रीय आन्दोलन के उद्‌भव हेतु दो संभावित एवं महत्त्वपूर्ण कारण हैं – एक है अन्तर्क्षेत्रीय अथवा अन्तर्सामुदायिक विवाद, और दूसरा है क्षेत्र व राज्य के बीच विवाद।

अन्तक्षेत्रीय विवाद प्राय: अंतरंगी-बहिरंगी मनोग्रंथि (insider-outsider complex) के इर्द-गिर्द ही जन्म लेता है, यथा एक ऐसी भावग्रंथि जो देशीयतावाद और माटी-का-सपूत (son-of-the-soil) विचारधारा को बढ़ावा देती है। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ है – राज्य द्वारा बेहतर और तरजीही सलूक

के लिए अंतरंगी (insider) का एक स्वाभाविक दावा, विशेष रूप से संसाधन वितरण एवं स्थानीय निवासियों के लिए नौकरियों में आरक्षण के लिहाज से। असम में प्रवासी-विरोधी (Anti-migrant) आन्दोलन, और झारखण्ड में अधिवास मुद्दे पर जनजातीय-ग़ैरजनजातीय विवाद माटी-का-सपूत विचारधारा के कुछ खास उदाहरण हैं। अन्तर्क्षेत्रीय विवाद संस्कृति, भाषा और परंपराओं में जड़ें जमाए 'क्षेत्रीय अभिमान' को लेकर भी होता है। क्षेत्रीय अभिमान बढ़कर सीमा-विवाद और नदी-जल बँटवारे तक पहुँच जाता है। ऐसी स्थिति में 'क्षेत्र' और क्षेत्रीय आन्दोलन का अर्थ और आयति बढ़कर राज्यीय क्षेत्रवाद का रूप ले लेता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है – कर्नाटक और तमिलनाडु के बीच ताज़ा विवाद जो कि कावेरी जल के बँटवारे को लेकर है, या फिर महाराष्ट्र और कर्नाटक के बीच सीमा-विवाद, या फिर केन्द्रीय सेवाओं हेतु प्रतियोगी परीक्षाओं को लेकर बिहारियों और असमियाओं के बीच सबसे ताज़ा उदाहरण, या फिर शिव सेवा का 'मुम्बईकर' आह्वान जो ग़ैर-मराठियों को महाराष्ट्र की व्यापार व्यवस्था, अर्थव्यवस्था और राज्य-व्यवस्था में न आने देने और रोकने पर अभिलक्षित है। संभवत: यही कारण है कि कुछ विद्वान क्षेत्रीय आन्दोलन को समाज और राज्य के बीच विकासात्मक तनाव का परिणाम मानते हैं।

दूसरी ओर, क्षेत्र-राज्य विवाद प्राय: राज्य व्यवस्था के सांस्थानिक प्राधार में जन्म लेता है, जिसमें एक क्षेत्र राज्य की वितरणकारी नीति को भेदभावपूर्ण, शोषणकारी और सम्बद्ध क्षेत्रीय समुदाय के समग्र कल्याण के प्रति वैरपूर्ण बताकर उस पर संदेह करता है। वंचना, उपेक्षा और 'आंतरिक उपनिवेशवाद' संबंधी लिए गए इसी अर्थ की वजह से ही किसी क्षेत्र-विशेष के लोग स्वयं को एक आन्दोलन में संगठित कर लेते हैं, जो अधिकांश मामलों में वर्तमान राज्य से अलग होने, या फिर चुनिंदा उदाहरणों में उसी राज्य के भीतर उन्हें कुछ स्वायत्तता प्रबंध कानूनन प्रदान किये जाने का प्रयास करते हैं। यहाँ, संदर्भ रूप में यह उल्लेख किया जा सकता है कि राष्ट्र और राज्य-निर्माण की संघीय-एकाधिक प्रक्रिया में, यह उच्च कोटि का लोकतंत्रीकरण और प्रतिस्पर्धात्मक राजनीतिक संघटन ही है जो प्राय: एक क्षेत्रीय रूप से समाहृत सामाजिक-सांस्कृतिक समूह को राज्य तंत्रों व नीतियों में, विशेषत: वे जो उसके एकात्म्य प्राधार और विकासात्मक आवश्यकताओं को प्रभावित करतीं हैं, प्रबल समूह (दूसरा क्षेत्रीय समुदाय) के आधिपत्य पर आपत्ति करते हुए उसे एक आत्म-सचेत राजनीतिक समुदाय में बदल देती हैं। इस दृष्टिकोण से देखे जाने पर, क्षेत्रीय आन्दोलन ग़ैर-केन्द्रवादी एवं स्वयं निर्भयकारी और राज्य सत्ता व प्रबल क्षेत्रीय समूह के आधिपत्य के विरुद्ध विरोध-प्रदर्शन की विचारधारा को परिभाषित करता प्रतीत होता है।

अब हम संभवत: क्षेत्रीय आन्दोलन को एक ऐसे आन्दोलन के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो पहचान की स्वायत्तता और विकास की स्वायत्तता हेतु होता है। इसके उद्देश्य समंजनकारी, संरक्षणवादी, कल्याणकारी, स्वायत्ततावादी, अलगाववादी, और पृथक्तावादी हो सकते हैं। पृथक्तावाद, तथापि, सरकार पर दबाव डालने के लिए महज एक सामाजिक रणनीति लगती है। एक बार उनकी असली शिकायतें दूर हो जाने के बाद वे भारतीय राष्ट्रवाद के संवैधानिक रूप से प्रतिपादित लोकतांत्रिक प्राधार को ही स्वीकार करने लगे। इस तर्क के समर्थन में अनेक उदाहरण हैं जो तमिल अलगाववाद से लेकर अकाली आन्दोलन (या कहें सिखों का धार्मिक राष्ट्रवाद), गोरखालैण्ड आन्दोलन, बोडोलैण्ड आन्दोलन, आँदि तक दिखाई पड़ते हैं। उनकी माँगों का एक गहन सूक्ष्म परीक्षण यह सुझाता है कि वे राज्य-समाज संबंध को इस ढंग से पुनर्परिभाषित करने का प्रयास करते हैं कि वह उनकी पहचान माँगों को समायोजित करता है और उनकी सामाजिक-आर्थिक आवश्यकता का यथोचित ध्यान रखता है। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए

वे प्रायः एक संवैधानिक रूप से प्रमाणित अपने स्वयं के संस्थागत स्थान के आकांक्षा रखते हैं जहाँ उनके विकल्प स्वयं-निर्धारित होते हैं। इस प्रकार, यह 'संरक्षणवादी आत्म' (protectionist self) ही है जिसके इर्द-गिर्द क्षेत्रीय आन्दोलन की राजनीति घूमती है।

11.3 क्षेत्रीय आन्दोलनों पर 'क्रमबद्ध अन्तर्दृष्टि' (Methodological Insights)

क्षेत्रीय आन्दोलनों का विशेष रूप से भारत जैसे एक विविधतापूर्ण समाज में, एक प्रासंगिक स्वरूप होता है। इसी कारण, क्षेत्र, जनसामान्य और राज्य की जटिल अन्योन्य क्रिया का एक प्रासंगिक विश्लेषण किए जाने की आवश्यकता है। जब हम क्षेत्रीय आन्दोलन की बात करते हैं, वह सीधे राजनीतिक मंशा वाले एक क्षेत्रीय समुदाय के अस्तित्व की ओर संकेत करता है। वस्तुतः, क्षेत्र में अनेक सामाजिक समुदाय हो सकते हैं, जो राष्ट्र-निर्माण की उच्च रूप से जटिल प्रक्रिया के माध्यम से स्वयं को एक विशिष्ट क्षेत्रीय समुदाय में अंगीभूत करते हैं। क्षेत्रीय समुदाय प्रायः बंधुता और हितों की पहचान के आधार पर बनते हैं। "यह समुदाय 'क्षैतिज साहचर्य' (horizontal comradeship) के लिहाज से अधिक होता है, बनिस्वत एकरूपता अथवा सजातीयता को लम्बवत आँके जाने से" (ए.के. सिंह, 2002)। हित और एकात्म्य की सम्मानसूचकता ही है जो लोगों को एक पृथक् क्षेत्रीय समुदाय के रूप में अंगीभूत होने और अनुमान करने में मदद करती है। परन्तु, कोई क्षेत्रीय समुदाय बनता कैसे है? वे आत्मगत व वस्तुगत कारक कौन से हैं जो किसी समूह को विशिष्ट क्षेत्रीय राजनीतिक समुदाय में संघटित करते हैं? प्रासंगिक विश्लेषण क्षेत्रीय आन्दोलन की सफलता, असफलता एवं इसके जारी रहने के विश्लेषण में भी हमारी मदद करता है। इसके अलावा वह संघीय राष्ट्र-निर्माण प्रक्रिया पर क्षेत्रीय आन्दोलन को प्रकृति एवं संभावित प्रभाव की जाँच करने में भी हमारी मदद करता है। आमतौर पर यह कहा जाता है कि एकात्म्यता (subjectivity) का आधार जितना अधिक आत्मपरक होगा, उतना ही प्रचण्ड क्षेत्रीय आन्दोलन होगा। यही वो प्रसंग है जिसमें राष्ट्रवाद अथवा राष्ट्र व राष्ट्रीयता संघटन संबंधी सिद्धांत क्षेत्रीय एकात्म्य संघटन और उसके आन्दोलन में बदल जाने की दृश्यघटना को समझने में निर्णायक महत्त्व धारण कर लेता है। यहाँ, राष्ट्रवाद और क्षेत्रवाद के बीच समानता और भिन्नता पर विचार करना भी सार्थक होगा। क्षेत्रवाद और राष्ट्रवाद प्रतीकात्मक रूप से जुड़े हैं। दोनों निर्माण और संघटन की एक ही जैसी प्रक्रिया से गुज़रते हैं। वे एक विचारधारा के रूप में अपने-अपने सामाजिक क्षेत्र में सेवा करने की ओर अग्रसर रहते हैं। वे इस विषय में साझा विश्लेषणात्मक संसृष्टि रखते हैं कि पहचान कैसे बनती है, और कब कोई पहचान राजनीतिक रूप से मौन हो जाती है। उनके बीच एकमात्र अंतर यही है कि राष्ट्रवाद आमतौर पर केन्द्रीकरणाभिमुख होता है जबकि क्षेत्रवाद, इसके विपरीत, जन्मजात विकेन्द्रीकरणभिमुख होता है। संभवतः यही कारण है कि क्षेत्रीय आन्दोलन राष्ट्रवाद की ओर एक प्रतिक्रिया के रूप में भी उद्भूत होता है।

राष्ट्रवाद विषयक साहित्य में हम राष्ट्र-संघटन संबंधी मुख्य रूप से दो महत्त्वपूर्ण, किन्तु द्वैदाश्यपूर्ण (dichotomous) पेरेन्नियालिस्ट-प्राइमार्डिमलिस्ट विवरण पाते हैं: शाश्वतवादी-आदिमवादी (perennialist-primordialist) (और आधुनिकतावादी (modernist)। आदिमवादी एकात्म्य अर्थात् पहचान को भिन्न प्रजाति, नृजाति, भाषा, संस्कृति, धर्म, आदि के पूर्व-प्रदत्त अस्तित्व के अनुसार मानते

हैं। पहचान के वैयक्तिक सहजगुण एकात्म्य (subjective) के वस्तुगत (objective) चिह्न कहे जाते हैं। उनमें से कोई एक अथवा कुछ व्यक्ति मिलकर एक भिन्न राष्ट्रीय अथवा उप-राष्ट्रीय समुदाय का निर्माण करते हैं, जो कि जब राजनीतिकृत हो जाता है तो एक भिन्न राष्ट्र बन जाता है। तदनुसार उनके लिए, राष्ट्र एक राजनीतिकृत नृजातीय-सांस्कृतिक समुदाय है जो इतिहास में विस्तृत है और सामाजिक-सांस्कृतिक परंपराओं में गहरे जड़ें जमाए। चूँकि इस प्रकार का समुदाय ऐतिहासिक रूप से अन्त:स्थापित होता है, वह क्षेत्रीय रूप से भी स्थायी होता है। दूसरे शब्दों में, किसी समुदाय को प्रभावशाली बनाने के लिए एक सांस्कृतिक गृह-भूमि भी रखनी चाहिए। इस प्रकार, इस संदर्भ में क्षेत्र (region) सामाजिक रूप से संरचित एक ऐसे भूभागीय स्थान की ओर संकेत करता है जिसकी पारिस्थितिकी और अर्थव्यवस्था उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों की एक भिन्न और सुस्पष्ट आम पहचान बनाये जाने पर गहरा प्रभाव डालती हैं। दो क्षेत्र सांस्कृतिक रूप एक जैसे नहीं हो सकते। उनकी भौमिक विशिष्टताएँ एक दूसरे से अवश्य भिन्न होंगी, बेशक वे अनेक क्षेत्रीय अभिलक्षण साझा रूप से रखते हों। यह पहचान और क्षेत्र का संलयन ही है जो स्वायत्तता हेतु उनके दावों को युक्तिपरक बनाता है। मज़े की बात है कि भारत में एक क्षेत्रीय समुदाय सजातीयता और संस्कृति का पूर्व-प्रदत्त बंधन रख भी सकता है और नहीं भी रख सकता। जैसा कि उत्तराखण्डी और झारखण्डी पहचानों के निर्माण विषयक अध्ययन दर्शाते हैं, यह क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था और पारिस्थितिकी की भिन्नता ही है जिसने पहले एक 'हित समुदाय' बनाया, जो वर्षों के सहवास के बाद एक साझा सांस्कृतिक बंधन तैयार करने में सफल हुआ। भारत की सामाजिक बनावट आगे यह तजवीज करती है कि हर एक प्रकार की पहचान और उसके वस्तुगत चिह्नों ने स्वयं अपने लिए भिन्न भूभाग बनाया है। इनका हमने पहचान-क्षेत्र के रूप में संदर्भ लिया है। भारत में संस्कृति, भाषा, धर्म, नृजातीयता, सामाजिक परम्पराएँ आदि क्षेत्रीय अभिलक्षण लिए हुए हैं। संभवत: यही कारण है कि हम क्षेत्र-क्षेत्र में धार्मिक प्रथाओं और जातीय बोलियों को अपनाने में निष्पाद्य भिन्नता पाते हैं। भारत में क्षेत्रों के विषय में एक अन्य दिलचस्प तथ्य यह है कि उनमें से अधिकांश के पास अतीत में किसी न किसी प्रकार की प्रशासनिक पहचान रही है जब लोग और क्षेत्र संरचनात्मक-संस्थागत रूप से एक दूसरे से जुड़े थे ताकि क्षेत्र को एक विशिष्ट सांस्कृतिक विशेषक प्रदान कर सकें और आसानी से पहचाना जाने वाला लोगों का अनुकृत व्यवहार भी। ऐतिहासिक-सांस्कृतिक क्षेत्र ने अभिव्यक्तिशील चिह्न और प्रतीक विकसित किए जिन्होंने कुछ उदाहरणों में एक स्वतंत्र भाषा अथवा बोली के विकास की ओर प्रवृत्त क्रिया। क्षेत्र-संघटन के इस लेखे-जोखे से जो तथ्य उभरकर आता है वो यह है कि क्षेत्रीय समुदाय को पूर्व-प्रदत्त पहचान के आधार पर संघटित किया जा सकता है, अथवा इसका बाद में निर्माण किया जा सकता है जो आधुनिकीकरण और विकास की प्रक्रिया में साझा भौतिक हितों और नियति वाले समुदाय के रूप में और अधिक समेकित हो जाता है।

परन्तु कोई क्षेत्रीय समुदाय स्वयं को एक उप-राष्ट्रीय आन्दोलन में किस प्रकार रूपान्तरित करता है? एक स्पष्ट उत्तर पाने के लिए हमें राष्ट्र-संघटन संबंधी आधुनिकीकरण अथवा संघटन सिद्धांत की सुव्यवस्थित प्रस्तुति को ध्यान में रखना होता है। इस सिद्धांत की दो निर्यायक प्रस्तुतियाँ हैं : (i) समुदाय का किसी आन्दोलन में बदल जाना अभिजात वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग व नेताओं द्वारा लामबंदी ही एक प्रक्रिया है; और (ii) सामुदायिक चेतना को और अधिक गतिकता एवं संसक्ति प्रदान करने के लिए, प्रासंगिक वर्तमान में पहचान की पुनर्प्राप्ति और उसका पुनर्वास किया जाता है। इसमें किसी क्षेत्रीय समुदाय के पहचान-विषयों की प्रासंगिक पुनर्रचना एवं पुनर्व्याख्या की आवश्यकता पड़ सकती है। पर इसको करता

कौन है? यह अभिजात वर्ग ही है जो प्रतीक चुनता है (प्रायः भिन्न नृजातीय एवं सांस्कृतिक अतीत से), और उन्हें व्यापक समूह-सम्बद्धता हेतु मानकीकृत करता है। उदारवादी संविधानवाद के प्रतिस्पर्धात्मक परिवेश में यह अभिजात वर्ग प्रदत्त पहचान को राजनीतिक रूप से सुलभ करता है। दूसरे शब्दों में, यह राज्य ही है जो ऐसा प्रतिवेश देता है जिसमें पहचान स्पष्ट हो जाती है और आन्दोलन उद्‌भूत होता है। उद्‌भूत होने के लिए राज्य स्वयं पहचान संघर्षों का एक क्रांतिक स्थल और उप-राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय आन्दोलन हेतु एक पालन भूमि बन जाता है। भारत के विषय में एक गाढ़ी समझ के साथ लिखते हुए मायरन वीनर कहते हैं : "पहचान बनाने की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें अनेक मुख्य घटक हैं। पहला घटक है – सांस्थानिक प्राधार, जो उस तानेबाने को आकार प्रदान करता है जिसमें समूह-पहचानों को कायम रखा जाता है और प्रगाढ़ किया जाता है। संघीय प्रणाली, राजनीतिक दलों का प्राधार, शिक्षा-व्यवस्था, और संचार-माध्यम कुछ पहचानों को मज़बूती प्रदान करने का काम करते हैं तो कुछ को गुप्त रूप से क्षति पहुँचाने का। दूसरे घटक का वर्णन प्रतिक्रियात्मक प्रक्रियाओं के रूप में किया जा सकता है। समूह-पहचानें प्रायः तब बनती या मज़बूत होती हैं जब दूसरों द्वारा उन्हें चुनौती दी जाती है। यह चुनौती समीकारक दबावों, प्रव्रजन, आर्थिक प्रतिस्पर्धा, अथवा राजनीतिक खतरों के परिणामस्वरूप सामने आ सकती है। तीसरे घटक को नीति-प्रतिक्रियाओं के रूप में लिया जा सकता है। पात्रताओं एवं आरक्षणों के रूप से सरकारी नीतियाँ राजनीतिक कार्रवाई हेतु संगठित होने के लिए प्रेरित करती हैं, जो कि बदले में समूह-पहचानों को प्रबलित करती हैं। चौथा घटक है – समूह-पहचानों के प्रति राज्य-संबंध की निहित सांस्कृतिक परिकल्पना। यहाँ मुद्दा है – समाज को राज्य के अधीनस्थ रूप में लिया जाता है... या फिर समाज को स्वायत्त के रूप में देखा जाता है .....''।

क्षेत्रीय पहचान भी बनायी जाती है, जो कि मार्क्सवादी विद्वान हॉब्सबॉम "राजनीति, प्रौद्योगिकी और सामाजिक कायापलट के चौराहे पर'' राष्ट्र के विषय में लिखते हैं। आधुनिक संचार-साधन और प्रौद्योगिक विकास, इरादतन या ग़ैरइरादतन, लोगों के एक सामूहिक अहं को जन्म देते हैं, जो स्वयं को एक आन्दोलन में संगठित कर लेते हैं ताकि राष्ट्रीय सत्ता और संसाधनों के समान वितरण में यदि अधिमान्य नहीं तो उचित व्यवहार ज़रूर हो। प्रौद्योगिकी, बैनेडिक्ट एण्डर्सन प्राक्कल्पना (Hypothesis) के अनुसार, एक 'परिकल्पित समुदाय' को जन्म देती है, यथा ऐसा समुदाय जो सीमा-संबंध रखता है जिसके परे अन्य परिकल्पित समुदाय विद्यमान होते हैं। यदि मुद्रण पूँजीवाद न आया होता तो राष्ट्र का परिकल्पित समुदाय जन्म न लेता। दूसरे शब्दों में, पहचान को आधुनिकीकरण और विकास से मदद मिलती है। पहचान निर्माण के उपर्युक्त विवादास्पद वृत्तांत के बीच, डैविड मिलर संभवतः समुदाय (क्षेत्रीय समुदाय पढ़ें) की यथासंभव कारगर परिभाषा देते हैं, यथा " (1) साझा विश्वास और परस्पर प्रतिबद्धता द्वारा गठित, (2) इतिहास में विस्तारित, (3) अभिलक्षण में सक्रिय, (4) किसी क्षेत्र-विशेष से जुड़ा, और (5) अपनी भिन्न लोक संस्कृति द्वारा अन्य समुदायों से पृथक्त ....''।

इस प्रकार, क्षेत्रीय आन्दोलन विषयक किसी भी शैक्षिक व्यवहार में, यह 'स्वयं' और 'अन्य' की गतिकी ही है जिसका परीक्षण और विश्लेषण किए जाने की आवश्यकता है। स्वयं-अन्य द्वैदाश्य को आधुनिकीकरण और विकास की राजनीति में और अधिक स्थापित किए जाने की आवश्यकता है। यदि आधुनिकीकरण पूर्व-प्रदत्त पहचान को संरचनात्मक रूप से अलग दर्शाता है और उसकी अनुपूर्ति धर्मनिरपेक्ष पहचान के नए प्राधार से करने का प्रयास करता है, वह, दूसरी ओर, पहचान को आवश्यक प्रौद्योगिकीय उपकरण भी प्रदान करता है ताकि वह स्वयं को फिर से खोज सके। यदि उत्तर-आधुनिकता सिद्धांत को मानें तो

पहचान कभी भी अवनत नहीं होती है, वह आधुनिकीकरण प्रक्रिया में सिर्फ़ नया माध्यम और नई भाषा ढूँढ लेती है। पहचान स्वयं को जनसंचार के माध्यम से सार्वभौमिक बनाती है। लोग उसके नृजातीय अतीत को फिर से खोजते हैं, फिर से उसका मार्ग प्रशस्त करते हैं और उसे समसामयिक रूप से स्थापित करते हैं।

उपर्युक्त चर्चा से अब हम कुछ निर्णायक तथ्य चुन सकते हैं, जो हमें भारत में क्षेत्रीय पहचान और क्षेत्रीय आन्दोलनों के विश्लेषण में सहायता कर सकते हैं। उनमें एक है संघवाद। भारत में इसकी कार्य-प्रणाली ने कुछ अन्तर्निहित प्रतिवाद दर्शाये हैं। जैसा कि हम जानते हैं, संघवाद अनिवार्यतः विकेन्द्रीकरणोन्मुखी है। यह समाज और राज्य की स्वायत्तता के सांस्थानीकरण का एक राजनीतिक कार्यक्रम है। इससे आशा की जाती है कि क्षेत्रवाद को एक संघीय राष्ट्रवाद के तानेबाने में ही समांजित करे। परन्तु उल्टे, उसकी कार्यवाही ने एक केन्द्रीकरण की ओर मोड़ ले लिया जिसमें न केवल क्षेत्रवाद को गलत स्थान दिया गया बल्कि एक समय उसे भारतीय राष्ट्रवाद, उसकी एकता और अखण्डता के प्रति विरोधात्मक भी करार दे दिया गया। इस प्रकार संघवाद ने क्षेत्रवाद को गढ़ने की बजाय मुख्य रूप से संघ की ही अपेक्षापूर्ति की। परिणामस्वरूप, अधिकांश क्षेत्रीय आन्दोलनों ने क्षेत्र और केन्द्र के बीच संघीय शक्तियों के वितरण संबंधी संवैधानिक योजना पर आलोचनात्मक रूप से सवाल किया है। तमिलनाडु में द्रविड़ आन्दोलन, पंजाब में अकाली आन्दोलन, 'तेलुगु गौरव' संबंधी एन.टी. रामाराव के राजनीतिक प्रचार एवं इसी प्रकार के अन्य आन्दोलनों ने केन्द्रीय शक्तियों की वैधता और उनके उप-राष्ट्रवाद अथवा क्षेत्रवाद को लघुकृत किए जाने पर सवाल उठाया। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया, क्षेत्रीय आन्दोलन कुछ उन सरकारी नीतियों के प्रतिरोध स्वरूप आयोजित किया जाता है जिसको कि एक क्षेत्रीय समुदाय अपने हितों के प्रति नुकसानदेह पाता है। तदनुसार हमें राज्य के नीति-प्राधार को भी ध्यान में रखना होता है – केन्द्रीय व क्षेत्रीय दोनों। सरकारी नीतियों संबंधी सामाजिक एवं क्षेत्रीय समीकरणों का एक क्षेत्रीय आन्दोलन के गठन और पहल पर उत्प्रेरणात्मक प्रभाव पड़ता है। शुरू-शुरू में, अन्य भाषाओं की कीमत पर हिन्दी राष्ट्रवाद को बढ़ावा दिए जाने से भाषाई उप-राष्ट्रवाद को सर उठाने के लिए एक परिपूर्ण आधार मिल गया।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारक है – दलीय प्रणाली और दलीय प्राधार सूक्ष्म दृष्टि डाले जाने योग्य मुख्य प्रश्न है – दलीय प्रणाली की सहमिलनशील और समंजनकारी क्षमता। वह प्राक्कल्पना जो यहाँ सामने रखी जा सकती है, वो यह है कि राष्ट्रीय दल और दलीय प्रणाली जितने कम सहमिलनशीन होंगे, यह संभावना उतनी ही प्रबल होगी कि क्षेत्रीय दल गठित हों और आन्दोलन चल पड़े। इस संदर्भ में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है – नेतृत्व प्रतिमान और सादृश्यमूलक प्राधार, विशेषतः राष्ट्रीय व राज्यीय स्तर के दलों का। बहुधा, यथेष्ट सार्वजनिक समझ रखने वाले नेतागण क्षेत्रीय आधार वाले परिक्षेत्र और सारभाग सामाजिक निर्वाचन-क्षेत्र को लेकर अपनी खुद की पार्टी बना लेते हैं। इस प्रकार की पार्टी प्रायः क्षेत्रवाद अथवा उप-राष्ट्रवाद की विचारधारा पर ही टिकी रहती है। यह बात झारखण्ड, उत्तर-पूर्वी राज्यों के अधिकांश छोटे दलों के विषय में सत्य है। मज़े की बात है कि भारत में क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय एवं राज्यीय स्तर के दलों में विभाजन और फूट की प्रक्रिया के माध्यम से ही अस्तित्व में आये हैं। तथापि, असम गण परिषद जैसी पार्टियाँ भी हैं जो स्वयं क्षेत्रीय आन्दोलन के माध्यम से वज़ूद में आयीं। क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था में क्षेत्रीकरण प्रक्रिया को खुला छोड़ देते हैं, वो इस दृष्टिकोण से कि इस प्रकार के निर्णयों पर उनका सहभागितापूर्ण नियंत्रण रहे जो कि उनकी पहचान और विकास को प्रभावित करते

हों। किसी भी मामले में, क्षेत्रीय दलों की दो प्रमुख भूमिकाएँ होती हैं : (i) पहचान बनाए रखना, उसकी रक्षा करना और उसे अभिव्यक्त करना, तथा (ii) राष्ट्र व क्षेत्र, और एकाधिक क्षेत्रों के बीच विवाद की दशा में आन्दोलनार्थ लोगों को संघटित करना। तथापि, यहाँ एक चेतावनी दी जा सकती है – पार्टी और पार्टी व्यवस्था एक महत्त्वपूर्ण घटक तो हैं परन्तु क्षेत्रीय आन्दोलन छेड़े जाने के लिए ज़रूरी कोई पूर्वशर्त नहीं। क्षेत्रीय आन्दोलन स्वायत्त और दलों व दलीय प्रणाली से स्वतंत्र हो सकता है। बुद्धिजीवियों और अभिजात्यों का अस्थायी छोटा समूह आन्दोलन की योजना बना सकता है। हमें यह तथ्य नहीं भूलना चाहिए कि सामाजिक व क्षेत्रीय आन्दोलन स्वाभाविकता और अव्यापकता के नियम ज़रूर अपनाते हैं। क्षेत्रीय आन्दोलन आमतौर पर स्वयं-संसाधित और 'स्वयं' व 'अन्य' की प्राधारिक परिवर्तन शक्तियों में रूपायित होता है। तदनुसार, क्षेत्रीय आन्दोलनों विषयक ज्ञान के किसी भी यथेष्ट प्राधार के लिए हमें अनिवार्यतः 'स्वयं' और 'अन्य' संबंधी जटिल परिवर्तनशक्तियों को समझना पड़ता है, जो कि अन्तर्क्षेत्रीय संबंधों (अथवा विवाद), सरकारी नीतियों, राजनीतिक संघटन की युक्तियों व संस्थाओं, पहचान प्राधार पर प्रौद्योगिकी के प्रभाव व जन-संचार माध्यमों की भूमिका संबंधी एक परिमित विश्लेषण और उन राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय विवादों के प्राधारिक विश्लेषण के माध्यम से होता है जो समूह-विवाद को जन्म देते हैं।

11.4 क्षेत्रीय आन्दोलन, क्षेत्रवाद और राज्य गठनः कुछ प्रेरणार्थक (Causative) व्याख्याएँ

भारत को क्षेत्रीय रूप से 28 राज्यों और 7 केन्द्र-शासित प्रदेशों में पुनर्गठित किया गया है। इसके अलावा, आज हमारे सामने राज्य का दर्ज़ा और उप-स्वायत्त व्यवस्था विषयक कम से कम 31 माँगें हैं। ये हैं : राजस्थान में मरुप्रदेश; उत्तर प्रदेश में बुन्देलखण्ड, पूर्वाञ्चल, भोजपुर और हरित प्रदेश या जाटलैण्ड; मध्यप्रदेश में विन्ध्य प्रदेश, बघेलखण्ड, रेवाञ्चल, मध्यभारत, महाकौशल और मालवा; बिहार में मिथिला; गुजरात में सौराष्ट्र; महाराष्ट्र में कोंकण, विदर्भ और मराठवाड़ा ; आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना; कर्नाटक में कूर्ग, कोडगु और सागरी प्रांत; उड़ीसा में कौशल राज्य; पश्चिम बंगाल में गोरखालैण्ड और कामतापुरी; जम्मू-कश्मीर में जम्मू व लद्दाख क्षेत्रों की स्वायत्तता माँगें; असम में बोडोलैण्ड; कार्बी-आँगलाँग और पूर्बाञ्चल; नागालैण्ड में कुकीलैण्ड; मेघालय में गारोलैण्ड; तथा मिज़ोरम में ह्मार राज्य। इन राज्यों के लिए आन्दोलन लामबंदी के विभिन्न चरणों में हैं। उनमें से कुछ सशक्त और अटल हैं, जबकि अन्य प्रसुप्त परन्तु यदा-कदा पुनरावृत्तीय हैं। यहाँ सूक्ष्म दृष्टि डाले जाने योग्य बात यह है कि पृथक् राज्यों के लिए इतनी अधिक माँगें क्यों हैं? क्या वर्तमान राज्यों में जनसमुदाय की अभीष्ट सजातीयता और प्रशासन का अभाव है?

राज्य निर्माण संबंधी औपचारिक प्रथा के गहन विश्लेषण से यह लगता है कि ये माँगें सांस्कृतिक सीमा और प्रशासनिक सीमा के बीच असंगति की वजह से हैं। अनेक उदाहरणों में वर्तमान राज्य आविष्कृत राज्य लगते हैं, जिन्होंने राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के बीच सर्वमान्य भाषाई, प्रशासनिक एवं राजनीतिक पहचान बनाने का असफल प्रयास किया है। यदि कहीं यह आविष्कृत राज्य नयी सर्व-राज्यीय पहचान बनाने में सफल भी हुआ है जो लोगों ने इस नयी पहचान के साथ रहने के लिए अपने पूर्व-प्रदत्त नृजातीय-क्षेत्रीय बंधनों को तोड़कर पिछवाड़े नहीं फेंका है। वस्तुतः भारत के लोग विभिन्न पहचानों के साथ रहते हैं, परन्तु इसका मतलब एक पहचान का प्रतिस्थापन दूसरी पहचान से,

अथवा अनेक पहचानों का एक ही पहचान में परिपाचन कदापि नहीं है। अनेक पहचानों के साथ सह-जीवन उनके बीच केवल अन्तर्सम्बद्धता के माध्यम से ही सम्भव है। परन्तु जब यह अन्तर्सम्बद्धता या तो खो जाती है, या फिर पूर्व-प्रदत्त नृजातीय-क्षेत्रीय पहचान की अनुपूर्ति आविष्कृत औपचारिक (राज्यीय) पहचान से करने का प्रयास किया जाता है तो वैधता की समस्या जन्म लेती है। यह भारत में क्षेत्रीय आन्दोलनों के अनेक आयामों में एक है। मज़े की बात है कि अरुणाचल प्रदेश, सिक्किम, त्रिपुरा, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, गोवा, तमिलनाडु व केरल – नौ राज्यों में, सांस्कृतिक परिसीमन और प्रशासनिक परिसीमन के बीच कोई सन्धिच्युति या गड़बड़ नहीं दिखाई देती। इसी कारण, वहाँ राज्यपद हेतु किसी भी महत्त्वपूर्ण आन्दोलन का अस्तित्व नहीं है।

बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश – जैसे छः राज्यों में, आंदोलनों द्वारा नये राज्यों के निर्माण की माँग के आंदोलन चल रहे हैं। इसके अलावा, बिहार, उत्तर प्रदेश व मध्यप्रदेश – इन तीन औपचारिकता: निर्दिष्ट हिन्दी-राज्यों में अगले राज्य का दर्ज़ा पाने हेतु कम से कम ग्यारह माँगें अथवा आन्दोलन हैं। इन माँगों का यथार्थ अस्तित्व ही स्वयं हिन्दी-राज्य होने संबंधी इन राज्यों की वैधता और कृत्रिम निर्मितता पर सवाल उठाता है। दूसरे शब्दों में, क्षेत्र और राज्य में संगति का अभाव है। और अधिक स्पष्ट रूप से, पंजाब, तमिलनाडु आदि नृजातीय रूप से सजातीय राज्यों में यह सांस्कृतिक रूप से निर्मित 'हम' है, जो राज्य के विभिन्न भौगोलिक विभाजनों को परिव्याप्त करता है। इस प्रकार के राज्यों में 'नृजाति' 'क्षेत्र' के समसीमान्त है; इसी कारण यहाँ पृथक् राज्य हेतु अकिंचन् ही (अथवा सभी व्यवहार्य प्रयोजनों से 'कतई नहीं') आन्दोलन देखने में आते हैं। जबकि नृजातीय राज्य पूर्व-प्रदत्त पहचान के आधार पर पनपते हैं, हिमाचल प्रदेश, उत्तराञ्चल, झारखण्ड जैसे पारिस्थितिकीय रूप से भिन्न राज्य व अन्य पर्वतीय राज्य पारिस्थितिकीय रूप से साकार, निर्मित और स्थानीय रूप गहरी पहचान रखते हैं। 'हितों' 'भवितव्यता' और 'लोक-संबंधों' का अन्योन्याश्रयी सामंजस्य ही है जो भारतीय संघ के भीतर एक पारिस्थितिकीय रूप से भिन्न राज्य/क्षेत्र को एक संसक्त राजनीतिक एवं प्रशासनिक सत्ता बना देता है।

दूसरी ओर, पश्चिम बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और कर्नाटक जैसे संयुक्त-एकाधिक राज्यों में राज्य व विभिन्न क्षेत्रों के लोगों के बीच उक्त प्रकार के संबंधों और हितों के सामंजस्य का अभाव है। अनेक पृथक् एवं परस्पर भिन्न उप-क्षेत्रीय पहचानों को एक साथ एक ही भाषा – जैसे हिन्दी, बंगाली, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, तेलुगु और कन्नड़ में सम्मिलित कर देने से ही इन राज्यों का गठन हुआ है। ऐसा माना जाता था कि ये भाषाएँ आने वाले समय में इन राज्यों की जनता और उप-क्षेत्रों के बीच एक व्यापक क्षेत्रीय-राज्यीय पहचान को जन्म देने में सफल होंगी। परन्तु, ये भाषाएँ किसी राज्य के दो भिन्न उप-क्षेत्रों के भीतर रहने वाले दो लोगों के बीच 'परिकल्पित समुदायों' के भाव को पैदा करने में सक्षम् नहीं रही हैं। उदाहरण के लिए, बिहार में जन-समाज, संस्कृति, भाषा, भूगोल, राजनीति व अर्थशास्त्र संबंधी अभीष्ट सजातीयता का अभाव है। यह बात मिथिला क्षेत्र के लोगों की पहचानकारी एवं विकासकारी अपेक्षाएँ पूरा करने के लिए राज्य की प्रासंगिकता को अवैध करार देती है। यह बात उपर्युक्त सूची में से अधिकांश संयुक्त-एकाधिक राज्यों के लिए सही बैठती है।

ऊपर जिस बात पर ज़ोर दिया गया है वो यह तथ्य है कि यद्यपि प्रधान भाषा का सिद्धांत एक 'काल्पनिक

राज्य' को जन्म देने में मदद करता है, वह 'काल्पनिक समुदाय' को पैदा करने में असफल रहता है। इसी कारण, हमारे सामने मिथिला, भोजपुर, ब्रज, बुन्देलखण्ड, आदि पृथक् राज्यों हेतु माँगें और आन्दोलन हैं। पहचान, प्रशासन एवं विकास की अन्यन्यता संबंधी उनकी इतिहास-प्रसिद्धि के चलते, ये उप-क्षेत्र पृथक् राज्यों के संभावित दावेदार हैं। इसी प्रकार, बंगाली भद्रलोक पहचान दार्जिलिंग की पहाड़ियों ने नृजातीय नेपालियों को, और उत्तर बंगाल में राजवंशियों को जोड़े रखने में सफल नहीं हुई, जो कि कूच बिहार, जलपाईगुड़ी, दार्जिलिंग के कुछ भाग और उत्तर व दक्षिण देनाजपुर – पाँच ज़िलों में एक पृथक् राज्य की माँग कर रहे हैं। किसी काल्पनिक समुदाय को जन्म न देने वाली भाषा का एक और उत्कृष्ट उदाहरण है – आंध्र प्रदेश में एक पृथक् तेलंगाना राज्य हेतु माँग। तेलंगाना की जनता तेलुगु भाषा की बजाय, अपनी पहचान के रूप में सांस्कृतिक संयोजन वाले अपने इतिहास और परम्परा को दिल में रखते हैं।

जब 'आन्तरिक उपनिवेशवाद' जन्म ले लेता है और अन्तर्क्षेत्रीय विषमताओं और भेदभाव को बढ़ावा देने लगता है तो उप-क्षेत्रीय पहचान अपनी अलग राजनीतिक पहचान बना लेती है। इस दृश्यघटना के दो आयाम हैं : एक, बहुत से उप-क्षेत्र प्राकृतिक संसाधनों से सम्पन्न होने के बावज़ूद, आर्थिक रूप से अल्पविकसित रहे हैं, या तो उस राज्य जिसमें वे वर्तमान में हैं, द्वारा उनके विकास की निरी उपेक्षा, या फिर विकास के दुर्बोध शीर्ष-तल दृष्टिकोण के कारण; दूसरे, संसाधनों एवं आमदनियों के हस्तांतरण के माध्यम में एक क्षेत्र का दूसरे क्षेत्र की कीमत पर उत्तर जीवन। यही वो बात है जो विदर्भ, मराठवाड़ा और कोंकण (महाराष्ट्र में), तेलंगाना (आंध्र प्रदेश में), सौराष्ट्र (गुजरात में) तथा कोडगु (कर्नाटक में) आदि पृथक् राज्यों हेतु माँगों को युक्तिपरक बनाती है। इसका एक और आयाम है : यदि पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हरित प्रदेश हेतु माँग को कोई संकेत मान लें, तो बड़ी सफ़ाई से यह तर्क दिया जा सकता है कि एक आर्थिक रूप से सम्पन्न क्षेत्र पृथक् राज्य हेतु प्रयास कर सकता है ताकि वह विकसित अथवा विकासशील अर्थव्यवस्था के रूप में अपनी प्रस्थिति कायम रख सके।

11.5 राज्यीयता हेतु आन्दोलन के विशिष्ट प्रतिमान

उपर्युक्त चर्चा से, पृथक् राज्य हेतु प्रयासरत क्षेत्रीय आन्दोलनों के निम्नलिखित विशिष्ट प्रतिमान समझे जा सकते हैं :

i) भारत में, क्षेत्र और समुदाय प्रतीकात्मक रूप से जुड़े हैं। क्षेत्र उस समुदाय से जाना जाता है जो उसमें रहता है, और समुदाय का अभिकल्पन और लक्षण-वर्णन प्रदत्त क्षेत्र की भौगोलिक विशेषताओं से किया जाता है। पृथक् राज्य हेतु माँग इन दो के बीच संश्लेषण से उभरी है – समुदाय और भूगोल। क्षेत्रीय समुदाय कोई पृथक् राज्य का प्रयास इसलिए करता है कि वह अपने सांस्कृतिक प्रतिवेश, राजनीतिक कार्यप्रणाली और जनता व उस क्षेत्र के आर्थिक कल्याण का अनन्य विवाचक बने जिसे व अपनी 'गृहभूमि' होने का दावा करता है। उनके अनुसार राज्य निर्माण का मतलब है एक ऐसा संस्थागत-राजनीतिक स्थान बनाना जिसके माध्यम से समाज का 'स्वायत्त अहं' न सिर्फ़ सुव्यक्त हो बल्कि सुरक्षित, संरक्षित और प्रोत्साहित भी हो।

ii) विद्यमान राज्य-प्रणालियों के भीतर कुछ सटे हुए ज़िलों में संकेन्द्रित भिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान रखने वाले लोग एक पृथक् राज्य हेतु प्रयास करते हैं ताकि अपनी पहचान जो सुरक्षित,

संरक्षित और प्रोत्साहित कर सकें। यह तर्क दिया जाता है कि पृथक् राज्य उन्हें एक राजनीतिक पहचान प्रदान करेगा और भारत राष्ट्र के भीतर हित अभिव्यक्ति और संरक्षण हेतु एक संवैधानिक रूप से प्रमाणित संस्थागत स्थल भी। इस बात पर विवाद छिड़ा है कि यह केन्द्रीय सत्ता (संघ सरकार) के साथ ही राजनीतिक सत्ता व आर्थिक संसाधनों के समग्र वितरण में अन्य राज्यों के साथ भी, करार करने हेतु उनकी क्षमता को बढ़ायेगा। इसका, दूसरे शब्दों में, अर्थ है क्षमता बन्दोबस्त, जो कि अन्यथा उस विद्यमान राज्य में संभव नहीं है जिसमें वे वर्तमान में हैं। उत्तराखण्ड और झारखण्ड आन्दोलन इस संबंध में महत्त्वपूर्ण संकेतक हैं। कुछ अन्य क्षेत्रीय अथवा सांस्कृतिक समूहों का 'आंतरिक उपनिवेशवाद', विस्तारवाद और आधिपत्य होने के कारण उनकी पहचान पर एक अनुभूत खतरा है (था)। यह बात भारत के उत्तर-पूर्वी भागों में अधिकांश उप-क्षेत्रीय आन्दोलनों के साथ भी विशेष रूप से सही बैठती है। वे आगे यह तर्क देते हैं कि एक पृथक् राज्य स्थानीय संसाधनों, प्रतिभाओं व कौशलों के बेहतर प्रयोजन एवं संदोहन के माध्यम से आर्थिक विकास का एक आश्वासनकारी तरीका सुनिश्चित करेगा।

iii) उपर्युक्त क्षेत्रीय आन्दोलनों में से कुछ राज्य द्वारा अपने-अपने सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता संबंधी संवैधानिक मान्यता, संरक्षण एवं वैधीकरण का प्रयास करते हैं। यही वह स्तर है जहाँ शिक्षा और प्रशासन के स्तर पर मातृभाषा के प्रकार्यात्मक उन्नयन हेतु माँग की जाती है। इसमें भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में दी गई कुछ भाषाओं को शामिल किया जाना भी शामिल है। भाषायी बहुवाद सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्रवाद का एक अन्य पहलू है। इसका, दूसरे शब्दों में, अर्थ है सांस्कृतिक पहचान की रक्षा। पहचान-कारक किसी विशेष क्षेत्रीय समुदाय के सांस्कृतिक स्थल पर राज्य के अतिक्रमण को सीमांकित करने तक फैला होता है। एक अपरिवर्ती राष्ट्रीय सांस्कृतिक पहचान रखने के बहाने राज्य द्वारा सांस्कृतिक समांगीकरण का विरोध किया जाता है। इसी कारण, अधिकतर क्षेत्रीय आन्दोलन स्वायत्तता पर ज़ोर देते हैं, विशेषतः सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में। और पहचान की स्वायत्तता को प्रयोग करने के लिए, एक पृथक् राज्य की वैधपूर्ण तरीके से माँग की जाती है। एक पृथक् राज्य, इस संदर्भ में, जन्मजात राजनीतिक स्थल माना जाता है जिसके माध्यम से पहचान के 'स्वयं' को प्रतिरक्षण, संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान किया जाता है। इसका आगे मतलब है कि समाज के अनन्य 'स्वयं' में राज्य (केन्द्रीय व क्षेत्रीय राज्य) द्वारा प्रभाव व हस्तक्षेप के क्षेत्रों को सीमांकित करना। इसमें राज्य-समाज संबंधों को आवधिक रूप से फिर से बनाए जाने की आवश्यकता पड़ती है, विशेष रूप से लोगों के सांस्कृतिक अधिकारों और एक अधिक व्यापक क्षेत्रीय राज्य के प्रति उनके परिणामित दायित्वों के लिहाज से। तार्किक रूप से, राज्य की भूमिका प्रोत्साहनकारी के संबंध में समझी जाती है, न कि हस्तक्षेप के संबंध में। और इस प्रकार के राज्य-समाज संबंध को एक वैधानिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया जाता है ताकि शासन के किसी भी अन्य प्राधार द्वारा अधिक्रमण किए जाने से बचा जा सके।

iv) पहचान और विकास संबंधी क्षेत्रों में पाया जाने वाला, उप-क्षेत्रीय समूहों हेतु क्षेत्रवाद एक विचारधारा के रूप में काम करता है जिसके माध्यम से वे अपनी निजी प्रशासनिक एवं राजनीतिक पहचान को परिभाषित करने का प्रयास करते हैं; और अधिक विस्तृत प्रादेशिक राज्य, क्षेत्रीय राज्य के साथ अपने संबंधों, और अन्तर्सामुदायिक संबंधों को भी। क्षेत्रवाद उन्हें राष्ट्रवाद व

संघवाद की समग्र प्रक्रिया में एक सौदाकारी स्थान प्रदान करता है। यह क्षेत्रीकरण के ही बराबर बल के रूप में काम करता है, और राज्य व समाज को संघबद्ध होना स्वीकार करता है। यह राष्ट्रीय एकता, राष्ट्र- व राज्य-निर्माण, एवं शासन संबंधी एक विकेन्द्रवादी प्राधार पर ज़ोर देता है। एक स्वायत्तवादी विचारधारा के रूप में इसके दो-तही उद्देश्य हैं – (i) (उप-क्षेत्रीय) पहचान कायम रखना; और, (ii) आर्थिक विकास का स्वयं-नियोजित एवं कायम तरीका। ये दो उद्देश्य सबसे अच्छी तरह तब पूरे होते हैं, जैसा कि क्षेत्रवादियों का दावा है, जब उन्हें अलग राज्य का दर्ज़ा दे दिया जाता है या फिर स्वयं-शासन की कोई अन्य प्राधारिक-सांस्थानिक कार्यविधि। भारत में, अख्तर मजीद लिखते हैं, "संभावित पार्थक्य के आवसरिक एवं अल्प संकेतों के बावज़ूद, क्षेत्रीय आन्दोलन आमतौर पर व्यापक राष्ट्रीय प्रसंग में संसाधन बँटवारे का दावा करने से परे नहीं जाते हैं। क्षेत्रवाद को, इस अर्थ में, राजनीतिक रूप से "राष्ट्रीय रणक्षेत्र में प्रतिस्पर्धा लाभ हेतु केन्द्र व परिधि के बीच एक मध्यवर्ती नियंत्रण प्रणाली हेतु खोज'' के रूप में समझा जा सकता है।

11.6 क्षेत्रवाद के प्रकार

इक़बाल नारायण ने भारत में क्षेत्रवाद (अथवा क्षेत्रीय आन्दोलनों) के तीन प्रकारों की पहचान की है : (i) अधि-राज्यीय (super-state) क्षेत्रवाद; (ii) अन्तर-राज्यीय क्षेत्रवाद, और (iii) आन्तर-राज्यीय क्षेत्रवाद। अधिराज्यीय क्षेत्रवाद आम हित के उन मुद्दों के इर्द-गिर्द ही बना होता है जिनमें राज्य-समूह एक राजनीतिक गठबंधन बनाते हैं जो अन्य राज्यों के उसी प्रकार के गठबंधन अथवा संघ के विरुद्ध निर्दिष्ट होते हैं। अधिराज्यीय क्षेत्रवाद मुद्दा-विशिष्ट होता है और यह, नारायण लिखते हैं, "उस निश्चित मसले तक ही सीमित रहता है जिस पर वह समूह एक सर्वमान्य और संयुक्त आधार लेना पसंद करता है। यह बात समूह-पहचान में राज्य-पहचानों के किसी समूचे और स्थायी घालमेल का मामला कतई नहीं है; दरअसल, प्रतिद्वंद्व, तनाव और यहाँ तक कि संघर्ष भी समय-समय पर तथापि एक साथ भी, भारत में दक्षिण बनाम उत्तर समूह-चेष्टाओं के साथ ऐसे मुद्दों पर होते ही रहते हैं, जैसा कि भाषा संबंधी अथवा इस्पात संयंत्रों की अवस्थिति संबंधी मुद्दे इस बात को दर्शाते हैं''। इसकी तुलना में, अन्तर-राज्यीय (Inter-state) क्षेत्रवाद, जैसा कि वह आगे लिखते हैं, "राज्यीय सीमाओं के साथ संस्पर्शी है और इसमें ऐसे विशिष्ट मुद्दों पर किसी दूसरे के विरुद्ध एक या अधिक राज्य-पहचानों की संस्थिति शामिल होती है, जो उनके हित पर खतरा होते हैं। सामान्य तौर पर नदी-जल और .... विशेष तौर पर व्यापक विवाद को उदाहरण के रूप लिया जा सकता है।'' दूसरी ओर, उसे राज्य के विरुद्ध एक क्षेत्रीय समुदाय जिसमें वे स्थित हैं, आन्तर-राज्यीय (Intra-state) क्षेत्रवाद अगुवाई करता है। आन्तर-राज्यीय क्षेत्रवाद का लक्ष्य होता है – अपने आपको आत्म-पहचान और आत्म-विकास का आश्वासन देना। यह 'आत्म' या अहं धीरे-धीरे कमज़ोर पड़ जाता है जब हम क्षेत्रवाद के अन्य दो रूपों की ओर कदम बढ़ाते हैं। आन्तर-राज्यीय क्षेत्रवाद के मामले में, यह पहचान ही होती है, जिसके इर्द-गिर्द समूह के राजनीतिक व आर्थिक हित स्पष्ट किए जाते होते हैं। परन्तु अन्य दो उदाहरणों में, यह दो राज्यों के बीच अथवा केन्द्र व राज्य के बीच हितों का संघर्ष होता है जो अस्थायी रूप से लोगों को मैत्री-भाव, और एक आम राजनीतिक दृष्टिकोण प्रदान करता है। परन्तु, क्षेत्रवाद का सार-तत्त्व क्षेत्रवाद की सभी श्रेणियों में एक ही रहता है। एक राजनीतिक वाग् व्यवहार के रूप में क्षेत्रवाद राष्ट्रीय पहचान और संसाधनों के संघीकरण-बाहुल्यीकरण का प्रयास करता है। दूसरे शब्दों में, यह एक संघीय राष्ट्र-निर्माण

प्रक्रिया को प्रादेशीकृत करने वाली विचारधारा है। संम्भवत: यही कारण है कि क्षेत्रवाद का वर्णन राष्ट्रवाद व संघवाद की 'सन्निहित' प्रवृत्ति के रूप में किया जाता है। यह एक "भौगोलिक, ऐतिहासिक-सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक-प्रशासनिक तथा अतिभौतिक कारकों का जटिल संलय'' है। किसी क्षेत्रीय आन्दोलन की तैयारी में कौन से कारक हावी होंगे, कहना मुश्किल होता है। तथापि, किसी भी मामले में क्षेत्रीय आन्दोलन एक अधिक स्वायत्त आधार पर क्षेत्रीय और राष्ट्रीय के बीच संबंध को हमेशा पुनर्परिभाषित करने का प्रयास करेगा।

11.7 क्षेत्रीय आन्दोलनों के प्रति राज्य की प्रतिक्रिया

क्षेत्रीय आन्दोलनों के प्रति राज्य की प्रतिक्रिया तरह-तरह की रही है। इस संबंध में हमें कोई सुसंगत नीति नहीं मिलती। तथापि, कुछ प्रतिमानों व सिद्धांतों को इस लिहाज से समझा जा सकता है। ये हैं: (i) पृथक्तावादी माँग को स्वीकार नहीं किया जा सकता है, बल्कि पृथक्तावाद को तो हर तरीके से कुचल दिया जाना चाहिए; (ii) केन्द्र सरकार अनन्य रूप से धार्मिक भेदभावों पर आधारित क्षेत्रीय माँगों को स्वीकार नहीं करेगी; और (iii) पृथक् भाषाई राज्य बनाने हेतु माँगों को तब तक स्वीकार नहीं किया जाएगा जब तक कि इस तरह की माँग सामाजिक रूप से व्यापक और आर्थिक रूप से व्यवहार्य न हो। सोदाहरण व्याख्यार्थ, भारतीय संघ की इकाइयों का कोई निराला घटक अथवा प्राधार नहीं हो सकता। इकाइयों को संयुक्त होना चाहिए। इस प्रकार की संयुक्त इकाई केवल चार सिद्धांतों के परस्पर संतुलन द्वारा ही बनाई जा सकती है, जिन्हें राज्य पुनर्गठन आयोग (SRC) इस प्रकार सामने रखता है : "(i) भारत की एकता और सुरक्षा का संरक्षण एवं सुदृढ़ीकरण; (ii) भाषाई और सांस्कृतिक सजातीयता; (iii) वित्तीय, आर्थिक एवं प्रशासनिक महत्त्व; और (iv) राष्ट्रीय योजना का सफल क्रियान्वयन।'' 'जनेच्छाएँ', 'क्षेत्र की ऐतिहासिकता', और 'भौगोलिक सामीप्य' जैसे अन्य कारक भारतीय संघ की इकाइयों की सीमाएँ (फिर से) खींचते समय केवल सीमित, परन्तु विशेषक प्रासंगिकता ही रख सकते थे। इस प्रकार, लोगों की इच्छाएँ क्षेत्रीय पुनर्समायोजन एक मानदण्ड के रूप में तभी स्वीकार्य हो सकती हैं जब वह मानदण्ड वस्तुपरक रूप से निश्चेय हो, और अन्य महत्त्वपूर्ण कारकों संबंधी सभी विचारों के अधीन हो, याथा "राज्य पद का दावा करने वाले क्षेत्रों के मानव एवं भौतिक संसाधन, सम्पन्न अल्प-संख्या वर्ग की इच्छाएँ, भारतीय संविधान की अनिवार्य शर्तें और वृहत्तर राष्ट्रीय हित''। इसी प्रकार, क्षेत्र की ऐतिहासिकता का आह्वान केवल दावा किए गए क्षेत्र की जनता के जुड़वा को निर्धारित करने की सीमा तक ही किया जा सकता है, परन्तु उसको इस सीमा तक नहीं खींचा जा सकता कि उन्हें किसी पृथक् राष्ट्र में ही बदल दिया जाए। यद्यपि किसी राज्य की सीमा निर्धारित करने और बनाने में भौगोलिक अनुरूपता काफ़ी महत्त्व रखती है, "इसमें त्तथापि, ज़रूरी नहीं कि एक भौगोलिक सीमा हेतु आवश्यकता निहित अथवा शामिल ही हो .....'' इस प्रकार, दो इकाइयों के बीच रेखाएँ खींचते समय, राज्य पुनर्गठन आयोग ने जैसा कि ज़ोर दिया, इन इकाइयों की सुसम्बद्धता सुनिश्चित होनी चाहिए।

पुनर्गठन हेतु उपर्युक्त योगकारी दृष्टिकोण के भीतर, आयोग ने वृहत्तर राज्यों के निर्माण हेतु कड़ी सिफ़ारिश की। "इसका, तथापि, जैसा कि आयोग ने लिखा है,'' यह मतलब नहीं है कि इकाइयों को इतना दुर्वह होना चाहिए कि अपने निजी यथार्थ जीवन से वंचित ही हो जाएँ अथवा उस बात का नितांत प्रयोजन ही विफल हो जाए जिसके लिए वृहत्तर इकाइयाँ सुझाई गई हों, यथा आर्थिक विकास और

कल्याणकारी कार्यकलाप की प्रशासनिक दक्षता और समन्वय।'' इस प्रकार, आयोग के विचार से; आकार सिद्धांत को व्यवहार्यता सिद्धांत के साथ तौला जाना चाहिए। इसका, दूसरे शब्दों में, मतलब है कि पृथक् राज्य हेतु प्रयासरत क्षेत्र के पास ''पर्याप्त वित्तीय संसाधन होने चाहिए ताकि स्वयं को कायम रख सके और अपनी अर्थव्यवस्था को विकसित कर सके।'' यद्यपि, आयोग ने मात्र प्रशासन की निर्विघ्न कार्यवाही के दृष्टिकोण से ही आन्तरिक सजातीयता का सिद्धांत कायम रखा, उसने तिस पर भी राज्य के एक-भाषाई और एक-सांस्कृतिक गठन को निरस्त कर दिया। सटीक रूप से यही कारण है कि भारतीय संघ की इकाइयों के पुनर्गठन हेतु उसने 'गृहभूमि अवधारणा' और 'एक भाषा एक राज्य' फार्मूले को ठुकरा दिया। तथापि, राज्य पुनर्गठन के इस प्रकार के सांस्कृतिक आधार को दो संस्कृतियों के अन्तर्सम्मिलन और संयुक्त राष्ट्रीय संस्कृति के समग्र विकास में रोड़ा नहीं बनना चाहिए। उपर्युक्त से जो प्रतीत होता है वो यह कि राज्यों के पुनर्गठन संबंधी हर एक मान्य एवं प्रबल आधार को राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता, और राष्ट्रीय सुरक्षा को कायम रखने के परीक्षण से अवश्य गुज़ारा जाना चाहिए।

राज्य पुनर्गठन आयोग के आधार पर भारत सरकार ने नवम्बर 1956 में राज्य पुनर्गठन अधिनियम पारित किया। अधिनियम में उक्त आयोग की बहुतायत में सिफ़ारिशें मान ली गईं; अपवाद रहे – आंध्र प्रदेश में हैदराबाद राज्य का विलय, और विदर्भ को बम्बई राज्य का हिस्सा बना दिया गया। इस प्रकार राज्यों की संख्या इस अधिनियम में 16 से घटकर 14 रह गयी। तथापि, केन्द्र-शासित प्रदेशों की संख्या 3 से बढ़कर 6 हो गई। मुख्य शामिल होने वाले राज्य थे – हिमाचल प्रदेश और त्रिपुरा। तब से राज्यों की संख्या बढ़कर 28 और केन्द्र-शासित प्रदेशों की संख्या 7 हो गई। 1956 के बाद शामिल होने वाले राज्य हैं: गुजरात (1960), नागालैण्ड (1963), हरियाणा (1966), पंजाब (1966), हिमाचल प्रदेश (1971), मणिपुर (1972), मेघालय (1972), त्रिपुरा (1972), सिक्किम (1975), अरुणाचल प्रदेश (1987), मिज़ोरम (1987), और गोवा (1987)। तदोपरांत सन् 2000 में झारखण्ड, उत्तरांचल और छत्तीसगढ।

उत्तराञ्चल, झारखण्ड और छत्तीसगढ़ – तीन नए राज्यों के गठन के साथ ही पुनर्गठन कार्य बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के हिन्दी हृदय-प्रदेश में पहली बार प्रभावी हुआ। जैसा कि ऊपर कहा गया, पुनर्गठन कार्य सर्वप्रथम 1956 में दक्षिण में किया गया था। 1966 में यह उत्तर-पश्चिम की ओर चला और 1971 व 1987 में उत्तर-पूर्व की ओर। इन सभी पुनर्गठन कार्यों में पुनर्गठन के आधार में भी अन्तर है। प्रथम पुनर्गठन प्रधानत: भाषा के आधार पर किया गया। 1966 में उत्तर-पश्चिम में भाषाई सिद्धांत को धार्मिक पहचान के साथ जोड़ दिया गया। प्रारम्भत:, यह अलगाववाद की ओर ले जाने की उत्कृट प्रवृत्ति वाला एक संकटापन्न सम्मिलन प्रतीत हुआ। तथापि, लोकतंत्र का अलगाववाद रोकने और अखण्डता को प्रोत्साहित करने का अपना ही तरीका है। अधिकांश उत्तर-पूर्वी क्षेत्र को प्रभावित करने वाले तीसरे पुनर्गठन में जनजातीय सम्बद्धीकरण और विशिष्ट नृजातीय अभिलक्षण पुनर्गठन के प्रमुख आधार बन गए। तीन नए राज्यों का गठन, सभी संभावनाओं में, हिन्दी हृदय-प्रदेश व अन्य संयुक्त-एकाधिक वृहदाकार राज्यों पर 'डॉमिनो प्रभाव' डाल सकता है, यथा इससे एक राज्य की राजनीतिक घटना आदि अन्य पड़ोसी राज्यों में भी संभवत: वैसी ही घटनाओं को जन्म देगी। इन राज्यों में हो सकता है पुनर्गठन मात्र नृजातीय अथवा सांस्कृतिक न हो, परन्तु यह 'आर्थिक विशेषता' और 'पारिस्थितिकीय-सांस्कृतिक विशिष्टता' के आधार पर हो सकता है। सांस्कृतिक विशेषता कुछ मामलों में, जैसा कि मिथिलाञ्चल राज्य के विषय में है, भाषा अथवा बोली के कारण होती है, परन्तु किसी भी मामले में इसका कारण अनन्य रूप से धर्म अथवा नृजाति नहीं हो सकता। वस्तुत:, संयुक्त-एकाधिक राज्यों के उप-क्षेत्रों ने एक संयुक्त-सांस्कृतिक पहचान विकसित और व्यक्त की है।

शुरुआती अनिच्छा के साथ, भारत सरकार अब भारतीय संविधान की पाँचवीं तथा छठी अनुसूचियों के प्रावधान लागू कर रही है जिसका साभिप्राय उद्देश्य है – विभिन्न क्षेत्रों, विशेषत: उत्तर-पूर्व में नृजातीय अलगाववाद और जनजातीय शत्रुता को काबू करना। संस्थागत रूप से, सरकार नृजातीय बस्तियों की जनता हेतु स्वायत्त क्षेत्रीय परिषद् अथवा ज़िला परिषदों के गठन हेतु राज़ी दिखाई देती है, जो कि अन्यथा पृथक् राज्य हेतु योग्य नहीं हो सकते। क्षेत्रीय परिषद् समुदाय शासन में एक प्रयोग ही है, जहाँ सम्बद्ध क्षेत्रीय समुदाय के पास अधिकार हैं कि वह अपनी पहचान और विकास को नियमित कर सके। इसी प्रकार, राज्य-भाषा नीति को अब भली भाँति अनुकूल बनाया जा रहा है ताकि उसमें विभिन्न बोली-अथवा भाषा-समूहों के दावे समायोजित किए जा सकें। सरकार ने दो-तही नीतियाँ चलाई हैं : एक, आठवीं अनुसूची में प्रमुख भाषाएँ शामिल करना, और दो, शिक्षा एवं कार्यालयी लेन-देन की भाषा के रूप में राज्य की सांस्कृतिक रूप से महत्त्वपूर्ण भाषाओं को औपचारिक मान्यता दिलाना। इन सभी नीतियों का भारतीय राष्ट्रवाद के साँचे और उपायों में विविध क्षेत्रीय समुदायों को एकीकृत किए जाने पर प्रभाव पड़ा है। क्षेत्रवाद और क्षेत्रीय आन्दोलन की दिशा में शासकीय प्रवृत्ति में एक सकारात्मक परिवर्तन दिखाई पड़ता है। सरकार भारतीय संविधान के अनुमत्य स्वायत्तता प्राधार के भीतर स्व-शासन संबंधी नृजातीय दावों को स्वीकार कर सकती है। अब क्षेत्रवाद राष्ट्रवाद व संघवाद की प्रक्रिया के प्रति बहुत अधिक सत्यनिष्ठ है। वस्तुत: भारतीय संविधान स्वयं ही एक स्वायत्त क्षेत्र की धारणा को मान्यता प्रदान करता है। सांस्कृतिक स्वायत्तता के विस्तार, और विकास के अधिकारिक रूप से उद्दिष्ट आर्थिक पैकेज वाली लोकतांत्रिक प्रक्रिया के आरंभ होते ही भारतीय नृजातीय अलगाववाद पर नियंत्रण करने, और क्षेत्रवाद को अंततोगत्वा राष्ट्रीय जीवन का ही हिस्सा अदि अंश बनाने में सक्षम हो गया है।

11.8 सार-संक्षेप

संक्षिप्तत:, क्षेत्रीय आन्दोलन किसी खास क्षेत्र अथवा राज्य में लोगों के पहचान-आन्दोलनों के सूचक हैं जो कि राज्य से विशेष प्राधिकार, संरक्षण एवं रियायतें पाने का प्रयास करते हैं। इन आन्दोलनों के उत्थान एवं विकास के लिए काल्पनिक एवं वास्तविक, दोनों ही कारण उत्तरदायी हैं। जब से भारत आज़ाद हुआ है क्षेत्रीय आन्दोलन देश के विभिन्न भागों में किसी न किसी आधार पर उठ खड़े हुए हैं – प्रादेशिक, नृजातीयता अथवा आन्दोलनकारी क्षेत्रों का आर्थिक पिछड़ापन। क्षेत्रीय आन्दोलनों के प्रति राज्य की अनुक्रिया एकसार नहीं रही है। स्थिति पर निर्भर करते हुए राज्य ऐसे आन्दोलनों के प्रति उदासीन, उदार अथवा दमनकारी रहा है। क्षेत्रीय आन्दोलन चूँकि सामाजिक-सांस्कृतिक एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं से जुड़े हैं, भारत जैसे एक लोकतांत्रिक देश में ये एक वर्तमान दृश्यघटना हैं।

11.9 अभ्यास प्रश्न

1) क्षेत्रीय आन्दोलनों का अर्थ और महत्त्व स्पष्ट करें।
2) क्षेत्रीय आन्दोलनों के अध्ययनार्थ कार्यप्रणाली (Methodology) पर चर्चा करें।
3) भारत में क्षेत्रीय आन्दोलनों के उदय और विकास के कारणों की व्याख्या करें।
4) क्षेत्रीय आन्दोलनों के प्रति राज्य की प्रतिक्रिया पर एक टिप्पणी लिखें।

इकाई 12 धार्मिक और साम्प्रदायिक आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

12.1 प्रस्तावना
12.2 साम्प्रदायिक क्या है?
12.3 साम्प्रदायिक एवं धार्मिक आन्दोलन: एक सिंहावलोकन
12.4 धार्मिक जनसांख्यिकी
12.5 हिन्दू साम्प्रदायिक एवं धार्मिक आन्दोलन
    12.5.1 हिन्दूकरण और शिक्षा-शास्त्रीय अन्तर्निविशन
    12.5.2 विहिप का उदय और धर्मांतरण का मुद्दा
    12.5.3 बाबरी मस्जिद - रामजन्मभूमि मुद्दा
12.6 मुस्लिम धार्मिक एवं साम्प्रदायिक आन्दोलन
    12.6.1 धार्मिक-भाषाई मुद्दे
    12.6.2 साम्प्रदायिक एवं आतंकवादी गतिविधियाँ और इस्लाम का इस्तेमाल
12.7 ईसाई धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलन
12.8 सिख धर्म और साम्प्रदायिक आन्दोलन
12.9 सार-संक्षेप
12.10 अभ्यास प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

धार्मिक और साम्प्रदायिक आन्दोलन आम तौर पर भारतीय उप-महाद्वीप का और विशेष तौर पर भारत का सुस्पष्ट अभिलक्षण रहे हैं। चाहे सामाजिक सुधारों का मुद्दा हो, राष्ट्रीय जागरूकता का मुद्दा हो, या किसी राज्य के गठन अथवा सत्ता में आने का, धर्म ने सदा ही इस देश और उसकी जनता की नियति को तय करने में एक निर्णायक भूमिका निभाई है। विभिन्न प्रकृति के सामाजिक आन्दोलनों ने मुख्य रूप से धर्म से सम्बन्ध रखते हुए जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आमतौर पर दक्षिण एशिया में और विशेष तौर पर भारत में, धार्मिक रूढ़िवादी आन्दोलन सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन लाने में निर्णायक रहे हैं। उनका प्रभाव इस तथ्य से उपलक्षित किया जा सकता है कि फिर भी वे राष्ट्र-राज्य की सीमाएँ निर्धारित करने में सफल रहे हैं और पृथक्तावादी आन्दोलनों के नेतृत्व कर ऐसे प्रयासों में अविरत रहे हैं। इसके अलावा, उनमें से कई नितान्त क्रांतिक हैं क्योंकि वे वर्तमान व्यवस्था में ही एक धर्मनिरपेक्ष राज्य से एक क्षेत्र-विशेष पर आधारित राज्य की भी माँग करते हैं। फलस्वरूप इस प्रकार के आन्दोलन विभिन्न धर्मों के लोगों के बीच शत्रुता, विद्वेष और हिंसा को प्रोत्साहन देने में

लग जाते हैं, जो कि जनाधिकार क्षेत्र में उनकी वैधता पर सवाल उठाते हैं। परन्तु वास्तविकता में, समाज के भीतर घुसपैठ की आयति और राज्यीय राजनीति के साथ संबंधों में इन आन्दोलनों को सहज ही खारिज नहीं किया जा सकता है, खासकर वर्तमान भारत में। इस इकाई में उन साम्प्रदायिक उन्मत्तताओं से जुड़े आन्दोलनों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए हम भारत में सामाजिक आन्दोलनों के विषय में पढ़ेंगे जिन्होंने धार्मिक आधार पर भारत की जनता के सामुदायिक जीवन को क्षति पहुँचाई है।

12.2 साम्प्रदायिक क्या है?

राजनीतिक शब्दावली और शिक्षा-संबंधी चर्चाओं में 'सम्प्रदाय' एक अपमानजनक अर्थ में प्रयोग किया जाता है जो संकीर्ण सांप्रदायिक हितों को दर्शाता है। स्वतंत्रतापूर्व भारत में राजनेतागण भारतीय मुस्लिमलीग का वर्णन एक साम्प्रदायिक संगठन के रूप में करते थे। तथापि, अनेक मार्क्सवादी एवं यूरोपीय विद्वानों के अनुसार यह मुस्लिम राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व करती थी। और 1946 में भारतीय मुसलमानों के जबदस्त बहुमत ने इस विश्वास के साथ मुस्लिम गृह-भूमि के समर्थन में वोट दिया कि पाकिस्तान का बनाया जाना इस उप-महाद्वीप में मुस्लिम राष्ट्रवादी आकांक्षाओं को पूरा करेगा।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि साम्प्रदायिक पहचानें सांस्कृतिक, नृजातीय, अथवा धार्मिक आधारों पर बनाई जा सकती हैं या फिर इस भावात्मक प्रचण्डता पर निर्भर करते हुए इन सबके एक साम्मिश्रण पर भी कि लोग किसी राष्ट्र के किसी एक पहलू-विशेष से जुड़े हों। हिन्दू और मुस्लिम दोनों को साम्प्रदायिक आधार पर लामबंद किया गया है। भारत न सिर्फ़ उनकी मातृभूमि है, यह उनकी पावनभूमि भी है। वे जो दावा करते हैं, वो यह है कि भारत उनके संतों और ऋषियों की भूमि है; यही वो जगह है जहाँ पवित्र नदियाँ बहती हैं और जहाँ उनका इतिहास रचा गया और अपने राज्यक्षेत्र पर वे अपना पूरा दावा रखते हैं। भौगोलिक एकता कायम करने के लिए देश के चार कोनों में स्थित तीर्थस्थलों का प्राय: उल्लेख किया जाता है और हिन्दूओं के बीच उनके क्षेत्रीय व भाषाई मतभेदों के बावज़ूद, सर्वमान्य सांस्कृतिक व धार्मिक बंधनों को जोड़ने के लिए उन्हीं का आश्रय लिया जाता है।

हिन्दू राष्ट्रवादीजन इस भूमि और इसकी जनता से एक भावात्मक जुड़ाव रखने के लिए इस सर्वमान्य सांस्कृतिक एवं धार्मिक बंधन पर जोर देते हैं। सन् 1984 में इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद सिख-विरोधी दंगे, 1989 में भागलपुर नरसंहार, 6 दिसम्बर 1992 को बाबरी मस्जिद का विध्वंस, 'नब्बे के दशकोत्तर में ईसाई मिशनरियों पर आक्रमण और 2002 में गोधरा की घटना के बाद हुए साम्प्रदायिक दंगों के बाद पैदा हुई अव्यवस्था, आदि धार्मिक आधारों पर आयोजित बहुमतवादी साम्प्रदायिक आन्दोलनों की ही कुछ अभिव्यक्तियाँ हैं।

12.3 साम्प्रदायिक एवं धार्मिक आन्दोलनः एक सिंहावलोकन

धार्मिक आधारों पर साम्प्रदायिकता के बीज प्रारम्भिक ब्रिटिश काल में ही बोए गए। अंग्रेज सरकार द्वारा अपनाई गई 'फूट डालो, शासन करो' नीति भारत में विभिन्न समुदायों के बीच साम्प्रदायिक घृणा फैलाने के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार थी। जनगणना में उन्होंने लोगों को धर्म के अनुसार वर्गीकृत किया और उन्हें एक-दूसरे से भिन्न के रूप में देखा और उनसे भिन्न-भिन्न ही व्यवहार किया। उन्होंने मूल धार्मिक

ग्रंथों के आधार पर ही भारतीय समुदायों को ज्ञानकृत करने का प्रयास किया और उन्होंने उस तरीके की बजाय जिसमें वे वर्तमान में रहते थे, उनमें आन्तरिक भेद पाये। अंग्रेज सदा मुसलमानों से संभावित खतरे से भयग्रस्त ही रहे, जो कि इस उप-महाद्वीप के पूर्व-शासक थे और जिन्होंने मुगल साम्राज्य के अधीन 300 से भी अधिक वर्षों तक राज किया। उन्हें अपनी ओर मिलाने के लिए अंग्रेजों ने अलीगढ़ में एम.ए.ओ. कॉलेज स्थापित करने में मदद की और अखिल-भारतीय मुस्लिम कांफ्रेंस का समर्थन किया, जो कि दोनों ऐसी अग्रणी संस्थाएँ बन गईं जहाँ से मुस्लिम लीग के नेता और पाकिस्तान की विचारधारा, दोनों निकलकर आये। समाज-सुधारक और शिक्षक, सर सैयद अहमद खान जिन्होंने एम.ए.ओ. कॉलेज की स्थापना की, मुसलमानों को सिखलाया कि शिक्षा और अंग्रेजों से सहयोग समाज में उनकी उत्तरजीविता के लिए अत्यावश्यक है। मुस्लिम पुनर्जागरण के सभी आन्दोलनों से जुड़ा था – हिन्दू समाज में आत्मसातीकरण और निमज्जन का विरोध। सर सैयद अहमद खान ही ऐसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने एक पृथक् मुस्लिम गृह-भूमि की अवधारणा की। भारत में मुसलमानों के अलगाव की धारणा ने पृथक् निर्वाचन वर्ग क्षेत्र लागू किए जाने के बाद भारत की चुनावी प्रक्रिया में जन्म लिया, जो कि आने वाले समय में मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच वैचारिक मतभेद की पराकाष्ठा तक पहुँच गई। जबकि अंग्रेज़ों के विरुद्ध भारत में राष्ट्रवाद की सशक्त भावनाएँ थीं, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक देश में साम्प्रदायिक संघर्ष और आन्दोलन भी शुरू हो गए जो कि वर्ग अथवा क्षेत्र की बजाय धार्मिक समुदायों पर आधारित थे।

मुस्लिम सम्प्रदायवाद के साथ ही, 'गौ-वध', ईसाइयों व मुसलमानों द्वारा धर्मान्तरण आदि मुद्दों पर हिन्दू साम्प्रदायिक भावनाएँ भी भड़काई गईं। आर्य समाज जैसे हिन्दू पुनर्जागरणवादियों व अन्य रूढ़िवादी संगठनों द्वारा उन हिन्दुओं को पुनर्धर्मांतरित करने के लिए 'शुद्धि आन्दोलन' चलाया गया। इन दो समुदायों के बीच मतभेद भाषा और उसकी लिपि को लेकर भी पैदा हुआ, क्योंकि हिन्दूजन राष्ट्रीय भाषा के लिए मुख्य प्रत्याशी सशक्त रूप से उर्दू की बजाय हिन्दी को बताते हुए कार्यालयी लिपि को फ़ारसी से बदलकर हिन्दू देवनागरी लिपि करना चाहते थे।

मुस्लिम लीग के गठन के जवाब में एक एकीकृत हिन्दू-राष्ट्र हेतु दावा करते हुए बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दौर में हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (आर.एस.एस.) के रूप में पूरे ज़ोरों पर राजनीतिक आधारों पर हिन्दू दक्षिणपंथी राजनीतिक आंदोलनों ने भी संगठित होना शुरू कर दिया।

धार्मिक भाषाओं पर जन्मी राजनीतिक विचारधारा, स्वतंत्रता संग्राम के दौरान प्रकट हुई सशक्त धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी भावनाओं के बावजूद, इस उप-महाद्वीप में रह रहे समुदायों को जोड़कर नहीं रख सकी। भारत की स्वतंत्रता अपने साथ साम्प्रदायिक आधारों पर विभाजन लेकर आयी, यद्यपि भारत ने कुल मिलाकर धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक भावनाओं पर राज्य के गठन का परित्याग किया और स्वयं को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया। तथापि, चूँकि धार्मिक मूल्य व भावनाएँ व्यापकत: भारतीय समाज के अभिन्न भाग थे, वे धार्मिक आधारों पर एक न एक मुद्दे को उठाने में आम जनता के हृदय की आवाज़ को प्रतिध्वनित करते ही रहे।

साम्प्रदायिक आधारों पर विभाजन को स्वीकार कर लिए जाने के बावज़ूद बहुमत-अल्पमत सिंड्रोम अस्पृष्ट ही रहे। भारत में रह रहे मुसलमानों की संख्या उतनी ही है जितनी कि पाकिस्तान में, जो उसे विश्व में सबसे बड़ा मुस्लिम देश बनाता है। उसके धार्मिक एकाधिक्य के कारण, जहाँ साम्प्रदायिक आन्दोलन

अभी तक सामाजिक सामञ्जस्य को भंग करते हैं, स्थिति की गंभीरता को और अधिक समझने के लिए अभीष्ट होगा कि 2001 की जनगणना द्वारा सूचित जनसांख्यिकीय संयोजन पर एक सूक्ष्म दृष्टि डाली जाए।

12.4 धार्मिक जनसांख्यिकी

देश का कुल क्षेत्रफल लगभग 13 लाख वर्ग मील है और जनसंख्या एक अरब से कुछ अधिक। नवीनतम सरकारी अनुमानों के अनुसार हिन्दू कुल जनसंख्या का 82 प्रतिशत, मुसलमान 12 प्रतिशत, ईसाई 2.3 प्रतिशत, सिख 2.0 प्रतिशत, और अन्य जिनमें बौद्ध, जैन, पारसी (ज़रतुश्ती), यहूदी व बहाई शामिल हैं, दो प्रतिशत से भी कम हैं। हिन्दूवाद को परिभाषित करना मुश्किल है क्योंकि हिन्दूजन अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, और कर्मकाण्ड भी क्षेत्र-क्षेत्र व जाति-जाति में भिन्न-भिन्न हैं। 90 प्रतिशत से कुछ अधिक मुसलमान सुन्नी हैं; बाकी शिया हैं। बौद्धों में शामिल हैं महायान और हीनयान विचार-सम्प्रदाय के अनुयायी, और ईसाइयों में कैथलिक भी हैं और प्रोटेस्टैण्ट भी। जनजातीय समूह (जाति-व्यवस्था से बाहर ऐतिहासिक रूप से देशज समूहों के सदस्य) जो सरकारी आँकड़ों में आमतौर पर हिन्दुओं में शामिल किए जाते हैं, प्राय: पारम्परिक देशज धर्मों को अपनाते हैं। हिन्दू और मुसलमान देश भर में फैले हैं : यद्यपि मुसलमानों की अधिक जनसंख्या उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, आंध्र प्रदेश व केरल में है, जम्मू-कश्मीर में वे बहुसंख्यक हैं। ईसाई संकेन्द्रण उत्तर-पूर्वी राज्यों में देखे जाते हैं, साथ ही साथ केरल, तमिलनाडु, व गोवा आदि दक्षिणी राज्यों में भी। तीन छोटे उत्तर-पूर्वी राज्यों में बड़े ईसाई बहुसंख्यक वर्ग हैं – नागालैण्ड, मिज़ोरम व मेघालय। सिख पंजाब राज्य में एक बहुसंख्यक वर्ग हैं। गत लगभग आधी शताब्दी में, अनेक निम्न जाति के हिन्दुओं, दलितों (जिन्हें 'अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है) व अन्य ग़ैर-हिन्दू जनजातीय समूहों ने अन्य धर्म अपना लिए हैं क्योंकि उन्होंने धर्मान्तरण को व्यापक भेदभाव से बचने और उच्च सामाजिक प्रस्थिति हासिल करने का ज़रिया समझा।

भारतीय कैथलिक बिशप सम्मेलन के अनुसार विभिन्न ईसाई नामों का प्रतिनिधित्व करती देश में लगभग 1100 पंजीकृत विदेशी मिशनरियाँ हैं जो बहुधा धर्मांतरण व अन्य सामाजिक सेवाओं में लगी रहती हैं।

इतने विशाल और विविध धार्मिक संरूपण और सम्पन्न धार्मिक मूलों का इतिहास रखने पर, यह स्वाभाविक ही है कि इस देश के लोग धार्मिक भावनाओं द्वारा अपनी सार्वजनिक अथवा निजी गतिविधियों में प्रभावित हो जाने को बाध्य हो जाएँ। सामाजिक व राजनैतिक जीवन में अपनी धार्मिक पहचान की अधिकार-माँग करने के लिए, सभी समुदायों ने राष्ट्र-निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित करते हुए और सामाजिक सामञ्जस्य में कड़वाहट घोलते हुए, विध्वंसकारी प्रवृत्तियों में प्राय: ही परिणत संवेगात्मक मुद्दों को उठाकर आम जनता को लुभाने का प्रयत्न किया है।

12.5 हिन्दू साम्प्रदायिक एवं धार्मिक आन्दोलन

जैसे कि पहले भी चर्चा की गई, 19वीं शताब्दी के दौरान हिन्दू पुनर्जागरणवादियों के आन्दोलनों ने दक्षिणपंथी राजनीति हेतु आधार तैयार किया, जिसके साथ-साथ धार्मिक मुद्दों ने हिन्दू सम्प्रदायवाद का

रूप ले लिया। धर्मान्तरण, गौ-वध पर प्रतिबंध, हिन्दी का थोपा जाना, शिक्षा का हिन्दवीकरण और हिन्दू गृहभूमि हेतु दावा दिखाना, आदि मुद्दे स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् भी गुंजायमान रहे। साम्प्रदायिक उन्माद को और बढ़ाने वाले मुद्दे थे – समान आचार-संहिता, अनुच्छेद 370 को समाप्त किया जाना (कश्मीर से संबंधित), बाबरी मस्ज़िद (एक ऐतिहासिक मस्ज़िद) का तोड़ा जाना और उसी स्थान पर राम मंदिर का निर्माण; तदोपरांत ईसाई धर्म-प्रचारकों पर उनकी धर्मान्तरण नीति के कारण हमले कलह के वे बीज रहे जिन पर हिन्दू दक्षिणपंथी सामाजिक आन्दोलन पनपते रहे और जनसाधारण को मोहित करते रहे।

धर्म, जाति व नृजाति की पहचानों पर आधारित मुद्दे स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक व राजनीतिक प्रक्रियाओं पर छाये रहे हैं। आरोप्य अभिधानों की विविधता, जिस पर धार्मिक साम्प्रदायिक आन्दोलन आधारित थे, ने सामाजिक बदलाव लाने का प्रयास किया जिसके द्वारा एक समांगी नीति लागू की जा सके, या फिर कम से कम बहुसंख्यक समुदाय के आधिपत्य का दावा कर सकें और अन्य धार्मिक समूहों को महज विदेशियों का दर्ज़ा देकर समेट दिया जाए।

हिन्दू महासभा जो कि स्वतंत्रताप्राप्ति से पहले प्रमुख राजनीतिक शक्ति थी और जो हिन्दुओं के पक्ष में बोला करती थी, महात्मा गाँधी की हत्या और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के छत्र-सदृश आधिपत्य के कारण ह्रासमान हो गई। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद अन्य हिन्दू संगठन भी समय की कसौटी पर परखे गए और उस साम्प्रदायिक हिंसा जिसमें सीमा पार लाखों लोग मारे गए और 1.5 करोड़ लोग विस्थापित हुए, के कुरूप चेहरे के कारण स्वतंत्र भारत में कुछ पहचान पा गए। महात्मा गाँधी की नृशंस हत्या स्वतंत्रताप्राप्ति के समय एकमात्र ऐसी घटना थी जिसने लोगों को आम जीवन में धार्मिक भावनाओं के प्रति उदासीन बना दिया।

तथापि, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आर.एस.एस.) की पैठ उसकी समाज-सेवा परियोजनाओं के माध्यम से जारी रही और उसने अपनी सैकड़ों-हजारों शाखाओं के एक बड़े ताने-बाने के माध्यम से हिन्दू राष्ट्रीय चेतना को फिर से जगा दिया, जो कि छात्र, श्रमिक, कृषि शिक्षा के क्षेत्र में व विशेष रूप से वनवासी क्षेत्रों में अपने विभिन्न उप-संगठनों द्वारा हाथ में लीं जा रही बहुविध सेवा परियोजनाओं में लिप्त थे।

12.5.1 हिन्दूकरण और शिक्षा-शास्त्रीय अन्तर्निवेशन

सामाजिक-आर्थिक एवं सांस्कृतिक सुधार, जो कि आर.एस.एस. ने स्वतंत्रता के बाद शुरू किए, व्यापक थे और उन्हें भारतीय जनता के बीच व्यापक रूप से ही मान्यता प्राप्त हुई। आर.एस.एस. ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु जन अकर्मण्यता की जड़ें टटोलीं। उसने शैक्षणिक कार्यक्रमों, प्राकृतिक आपदाओं के दौरान स्वैच्छिक सामाजिक कार्य तथा हिन्दुओं के लिए हिन्दू-राष्ट्र हेतु बार-बार माँग के माध्यम से सामाजिक संघटन को बदल डालने का प्रयास किया।

आर्य समाज अथवा रामकृष्ण मिशन जैसे अन्य सामाजिक सुधारवादी आन्दोलनों के साथ चलकर, आर.एस.एस. ने व्यापक रूप से फैली उन शैक्षिक संस्थाओं के माध्यम से व्यापन संबंधी अपनी कार्यावली शुरू कर दीं, जो कि शैक्षिक कार्यक्रमों को परंपरागत हिन्दू विचारधारा पर समझाते थे। इस आशय का आर.एस.एस. ने सर्वप्रथम सरस्वती शिशु मंदिर 1952 में गोरखपुर (उत्तर प्रदेश) में शुरू किया।

विभिन्न राज्यों में विद्यालयों की संख्या चूँकि बढ़ गई थी, दिल्ली में उसके मुख्यालय के पास 'विद्या भारती' नामक एक अखिल-भारतीय समन्वय समिति स्थापित की गई। विद्या भारती शिक्षा-मिशन की स्थापना का उद्देश्य था – बच्चों को इस प्रकार प्रशिक्षित करना कि वे स्वयं को एक हिन्दू राष्ट्र के संरक्षक के रूप में देखें।

आर.एस.एस. की पद्धतियों को व्यापक ईसाई मिशनरी शिक्षा-पद्धतियों के प्रति एक अनुक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। पूर्व संस्कृति को फिर से जीवित करने संबंधी उनके प्रयासों में, अध्यापकों को संबोधित करने के लिए संस्कृत शब्द प्रयोग किए जाते हैं (आचार्य)। सम्मान प्रकट करने के लिए उनके पैर छूने और कक्षाओं के नाम हिन्दू ऋषियों के नाम पर रखने की प्रथा ('वसिष्ठ कक्ष', 'विश्वमित्र कक्ष') भी विद्यालय का एक ऐसा स्थान के रूप में संकेत करती है जहाँ हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कारों की अधिकार-माँग गर्व के साथ की जाती है, जहाँ परम्परा को बचाकर रखा जाता है और कॉन्वेंट मिशनरियों के माध्यम से 'अपसंस्कृतीकरण' अथवा 'ईसाइयत के प्रभाव' के विरुद्ध आगे बढ़ाया जाता है।

यही नहीं, हिन्दू संस्कृति वाली अपनी पहचान के और अधिक प्रसार के लिए, विश्व भारती स्कूल विशेष दिवसों संबंधी अपनी ही कार्यक्रमावली को मनाते हैं, जैसे शिवाजी व जीजाबाई, विवेकानन्द, दीनदयाल उपाध्याय और सावरकर आदि के जन्मदिवस। अभिव्यंजक रूप से, गाँधी जयन्ती नहीं मनायी जाती है। शिक्षक दिवस या टीचर्स' डे (जो शेष भारत में भूतपूर्व राष्ट्रपति और शिक्षाशास्त्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन के जन्म-दिवस 5 सितम्बर को मनाया जाता है) ऋषि व्यास के माने गए जन्म-दिवस पर मनाया जाता है, जबकि कृष्ण जन्माष्टमी के दिन का मतलब है बाल-दिवस, जो कि सामान्यतया भारत में नेहरू के जन्म-दिन 14 नवम्बर को मनाया जाता है। असली ऐतिहासिक विभूतियों और उनके जो पौराणिक चरित्र हैं, मिथक व इतिहास, जन्म-दिवस व निर्वाण-दिवस, तदनुसार, महिमामण्डन बच्चों की चेतना में वार्षिक अवकाशों, समारोहों, प्रात: प्रार्थना के साथ-साथ इतिहास की विषयवस्तु व पाठ्यपुस्तकों के सांस्कृतिक ज्ञान के माध्यम से भी किया जाता है। स्कूल की कार्यप्रणाली मुख्य तौर पर आरंभ से ही बच्चों के मस्तिष्क में एक धार्मिक पहचान को जीवित रखने वाली है।

आर.एस.एस./भाजपा ने राज्य शिक्षा-संस्थाओं में अपनी विचारधाराओं को भरकर राज्य सत्ता तथा 'नागरिक समाज' के साधन, दोनों के प्रयोग के माध्यम से वर्तमान शिक्षा-प्रकृति में एक क्रांतिक विचलन पैदा करने का प्रयास किया है, जहाँ उसने स्कूलों में अपना ही तानाबाना तैयार किया है ताकि अपने संगठनों के सुविकसित संवर्ग प्राधार का पोषण कर सके।

अनिवार्यत:, आर.एस.एस. की शैक्षिक एवं राजनीतिक कार्यावली में ये दोनों बातें शामिल हैं : 'अल्पसंख्यकों' के समूहों को समाहित करना और वर्तमान सामाजिक-व्यवस्था में हिन्दू प्रभुत्व को चिरस्थाई बनाने के लिए इन समूहों के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करना। अपने अन्तर्निवेश को न्यायसंगत ठहराने और तर्कसंगत बनाने के लिए संघ परिवार ने उन ऐतिहासिक घटनाओं को फिर से लिखे जाने का सहारा लिया जिन्होंने भारत के भाग्य को रचा।

12.5.2 विहिप का उदय और धर्मांतरण का मुद्दा

धर्मान्तरण की प्रक्रिया ने शताब्दी भर संघ परिवार के सदस्यों के बीच गहरी चिन्ताओं को जन्म दिया

जो कि इस क्षति को देशभक्तिपूर्ण' और 'राष्ट्रीय' रंग देकर और अधिक तीव्र कर दी गई और इसे अधिकाधिक उचित प्रमाणित करवाया गया। यह दृश्यघटना विशेष रूप से 1947 के बाद हिन्दू बहुमतवाद की कार्यवाही का एक मुख्य बिंदु थी ईसाइयों के विरुद्ध हाल के अनुचित बल-प्रयोगों संबंधी संघ परिवार का औचित्य प्रतिपादन इस प्रकार के समानीकरण की घटनाओं के अनुरूप्य में ही है।

यह व्यापक रूप से माना जाता है कि हिन्दू धर्म ग़ैर-धर्मान्तरवादी होने में धार्मिक परम्पराओं के बीच अद्वितीय है। अन्य धर्मों में अंतरण, इसी कारण, एक ऐसी क्षति है जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती। यह तर्क यकायक अधिकांश व्यक्तियों के हृदय को प्रतिध्वनित करता है। सामान्य बोध जो यहाँ लागू होता है, यह है कि कोई व्यक्ति केवल जन्म से ही हिन्दू बन सकता है क्योंकि जाति (वर्ण के अर्थ में हो या फिर जाति के) हिन्दू धर्म के लिए निर्णायक होती है और जाति-प्रस्थिति वंशानुक्रमित होती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के बाद से उपांतिक समूहों व जनजातियों की दिशा में विस्तारण अधिक सुव्यवस्थित हो गया, 'उद्धारीकरण', 'शुद्धिकरण', 'पुनर्धर्मान्तरण' (परिवर्तन, 'वापस लौटना' – यह शब्द विहिप द्वारा आजकल पसंद किया जाता है) अधिक प्रचण्ड हो गए। ये सभी शब्द लोगों को उनकी 'प्राकृत' अवस्था में वापस लाने के लिए गढ़े गए हैं, यह मानते हुए कि सभी अभिलक्षित समूह कमोबेश सुसंस्कृत ढंग से हिन्दू ही हैं।

यदि हम शुरुआती दिनों में उच्च रूप से सुसंस्कृत हिन्दी और गौ-रक्षा को प्रोत्साहन के साथ जनसंघ की कारगुजारियों का विश्लेषण करें, ईसाई मिशनरियों के विरुद्ध लड़ाई को उसकी गतिविधियों का मुख्य मोरचा बना दिया गया। जनसंघ ने नवम्बर 1954 में मध्य प्रदेश में एक विदेशी मिशनरी-विरोधी सप्ताह का आयोजन किया था।

हाल के ईसाई-विरोधी अभियान तक विहिप जो मुख्य रूप से 'रामजन्मभूमि' और 1964 व उसके बाद के दशक में उसकी स्थापना के समय मुसलमानों पर घातक आक्रमण से जुड़ी रही है, उसका मुख्य संकेन्द्रण बुनियादी रूप से जनजातीय क्षेत्रों में ईसाई धर्मान्तरण के विरुद्ध ही निर्दिष्ट रहा (यथा उत्तर-पूर्व, मध्य प्रदेश, व दक्षिण बिहार)। 1968 में विहिप द्वारा बनाई गई 'आचार-संहिता' में हिन्दू धर्म के मूल संस्कारों के बीच परिवर्तन (वापस लौटना, यथा पुनर्धर्मांतरण) भी शामिल था। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि इस प्रकार का परिवर्तन 'शुद्धि' सम्बन्धी अपने ऐतिहासिक रूप से उल्लिखित आन्दोलन से भिन्न था, जो कि अपने प्रसंग में अधिक सुधारवादी और सामाजिक था, परन्तु इस प्रकार के प्रयास अपने दृष्टिकोण में अधिक साम्प्रदायिक थे और अनिवार्यत: रूढ़िवादी उद्देश्य रखते थे। फरवरी 1981 में हज़ारों दलितों को मुसलमान बनाने वाला मीनाक्षीपुरम (तिरुनेलवली) जन धर्मान्तरण ने एक ऐसे युग का सूत्रपात किया जिसमें मुसलमानों को एक दशक से भी अधिक तक निशाना बनाया जाता रहा। हाल के दिनों में ईसाई जन उनकी कार्यसूची का हिस्सा रहे हैं, खास तौर पर केन्द्र में भाजपा के नेतृत्व वाला गठबंधन बनने के बाद।

पोखरण विस्फोटों ओर द्रुत गति से होते 'उदारीकरण' के अलावा, केन्द्र में भाजपा के प्रभुत्व वाले गठबंधन को ईसाइयों के विरुद्ध संयुक्त अभियान के लिए याद किया जा सकता है। 23 जनवरी 1999 को स्टीन्स परिवार की हत्या के निपट भय द्वारा उत्पन्न व्यापक घोर प्रतिक्रिया ने अल्पकालिक सन्नाटा ला दिया, परन्तु तदोपरांत आक्रमण फिर शुरू हो गए और अधिकाधिक व्यापक रूप से फैल गए। अगस्त 2000

तक वे देश के एक बड़े हिस्से तक फैल चुके थे : उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु और गोवा। एक ताज़ा ईसाई अनुमान 1998 से हमलों की दर्ज़ संख्या 184 बताता है, जबकि अकेले सन् 2000 के पूर्वार्ध में 35 घटनाएँ हुईं।

12.5.3 बाबरी मस्जिद – रामजन्मभूमि मुद्दा

हिन्दू साम्प्रदायिक अभिकथन की पुनरुत्थानशील मनोवृत्ति को अन्ततः अयोध्या आन्दोलन में एक ऐतिहासिक अभिव्यक्ति मिल गई जिसे श्री गिरिलाल जैन ने स्वतंत्रतापश्चात् सबसे महत्त्वपूर्ण घटना बताया।

आर.एस.एस. का मत है कि अयोध्या, मथुरा और काशी कोई राजनीतिक नहीं बल्कि एक राष्ट्रीय विषय है।

इस मुद्दे ने स्थिति को और अधिक गंभीर बना दिया। 1986-92 के बीच की घटनाओं का प्रस्तुतार्थ एक दिलचस्प लेखा-जोखा है। यद्यपि रामजन्मभूमि का विवाद का इतिहास एक सदी पुरानंा है, फिर भी यह अयोध्या की चारदीवारी में ही रहा। यहाँ तक कि 28 दिसम्बर 1949 को भी, जब रातोंरात रामलला की मूर्ति अचानक स्थापित किए जाने के कारण दंगे भड़क उठे, इस घटना ने अधिक तूल नहीं पकड़ा क्योंकि मस्ज़िद के दरवाज़े दोनों ही समुदायों के लिए फ़ौरन बंद कर दिए गए थे और 1985 में तब तक यथापूर्व स्थिति में सुरक्षा के अन्तर्गत रखा गया जब तक कि राजीव गाँधी ने हिन्दुओं द्वारा पूजा के लिए विवादित बाबरी मस्ज़िद का दरवाज़ा खोले जाने का आदेश नहीं दे दिया। इसके अलावा, दूरदर्शन धारावाहिक 'रामायण' ने इस विवाद में एक उत्प्रेरक का काम किया। संघ परिवार ने 1989 के चुनावों में समर्थन जुटाने के लिए इस धारावाहिक के अभिनेताओं का प्रयोग किया। यह अभियान एक हिन्दू अभिकथन हेतु सशक्त ललक का संकेत करते हुए, फैज़ाबाद ज़िले से शुरू किया गया जहाँ पर अयोध्या स्थित है।

राजीव गाँधी भी इस मुद्दे को भुनाना चाहते थे, हालाँकि एक विलक्षण तरीके से। उन्होंने बड़ी कुशलता से प्रस्तावित राम मंदिर हेतु आधारशिला को मस्ज़िद के सन्निकट रखे जाने के लिए अनुमति दे दी। राजीव गाँधी इस घटना को महात्मा गाँधी के रामराज्य के स्वप्न जैसा बताने में कतई नहीं हिचकिचाए। तथापि, आन्दोलन के साथ सीधे जुड़े लोग ही वास्तविक हिताधिकारी रहे। विहिप को विश्वास था कि बाबरी मस्ज़िद विवाद हर पार्टी को दो-फाड़ कर देगा। विहिप के हाव-भाव काफी हद तक सच्चे साबित हुए क्योंकि भाजपा का चुनावी लाभ गौरतलब था। 1984 के संसदीय चुनावों में उसने 7.5 प्रतिशत वोटों के मात्र दो सीटें जीती थीं परन्तु 1989 में 11.5 प्रतिशत वोटों के साथ 85 सीटें जीत लीं। भाजपा की उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण और भारतीय जनसंघ के दिनों से अपने इतिहास में अभूतपूर्व थीं। उसकी इस सफलता का श्रेय मिला अन्य पार्टियों से अपनी अलग पहचान प्रस्तुत करने में उसकी क्षमता को। इस घटना के बाद भाजपा अपनी हिन्दू पहचान के विषय में अधिक मुखर हो गई। अयोध्या आंदोलन ने 6 दिसम्बर 1992 में बाबरी मस्ज़िद तोड़ दिए जाने की ओर प्रवृत्त किया।

1992 के पश्चात् अपनी बार-बार धमकियों के बावज़ूद विहिप व अन्य हिन्दू संगठन स्थूलतः राज्य के सीधे-सीधे टक्कर लेने से कतराते रहे। अब उन्होंने अपनी कार्यसूची में किंचित फेरबदल कर दिया है,

यथा मुद्दे को न्यायालय के माध्यम से सुलझाया जाना, यद्यपि समय-समय पर राज्य के प्रति उनकी नाराज़गी भरी धमकियों में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं।

मार्च 2003 में विहिप ने घोषणा की कि वह उन 30,000 हिन्दू मंदिरों पर 'फिर से दावा करने' के लिए एक राष्ट्रव्यापी अभियान छेड़ेगी जो मस्ज़िदों में बदल दिए गए थे। कुछ मुसलमानों को भय है कि इस अभियान के तहत हिन्दूजन वाराणसी में ज्ञानवापी मस्ज़िद, मथुरा में ईदगाह मस्ज़िद, और अयोध्या में पूर्व बाबरी मस्ज़िद की ज़मीन में राम मंदिर भूमि पर अधिकार करने का प्रयास करेंगे।

जनता को धारदार हथियारों के वितरण के विरुद्ध दंड संहिता के तहत प्रतिबंध होने के बावज़ूद उस अवधि में विहिप ने अपना 'त्रिशूल' वितरण कार्यक्रम जारी रखा। त्रिशूल हिन्दू धार्मिक प्रतीक है, परन्तु त्रिशूलों का प्रयोग हथियारों के रूप में भी किया गया है, उदाहरणत: 2002 के गुजरात दंगों में।

12.6 मुस्लिम धार्मिक एवं साम्प्रदायिक आन्दोलन

इस्लाम भारत में सबसे बड़े अल्पसंख्यक धर्मों में से एक हैं और संघ परिवार द्वारा एक सर्व-इस्लामिक विचारधारा में सक्रिय रूप से लिप्त है ताकि अतीत के गौरव को फिर से हासिल कर सके, और लगातार हिन्दू असुरक्षा भाव की वजह भी बना हुआ है।

उन्नीसवीं सदी में धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलनों के साथ-साथ मुस्लिम राजनीति का उठता ज्वार भी 20वीं सदी के प्रथम चतुर्थांश में बिल्कुल स्पष्ट हो गया, खासकर 1906 में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के गठन के बाद। मुस्लिम सम्प्रदायवाद ने, अन्य दक्षिणपंथी संगठनों की ही भाँति धार्मिक-राजनीतिक तर्ज पर रंग लेना शुरू कर दिया और भारतीय समाज में मुस्लिम समुदाय के एकीकरण एवं आत्मसातीकरण को रोका। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय ने उर्दू भाषा व मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्र जैसे मुद्दों को सम्प्रदायिक रंग देकर आग में घी का काम किया और धार्मिक भाईचारे के नाम पर साम्प्रदायिक राजनीति हेतु आन्दोलन को नियमितता के साथ गति प्रदान की। खिलाफत आन्दोलन, केरल में मोपला उपद्रव, दो-राष्ट्र सिद्धांत का मत-प्रचार, पाकिस्तान हेतु माँग और अन्त में देश का विभाजन आदि घटनाएँ धार्मिक आधार पर भड़काई गई राजनीति का ही परिणाम थीं।

धर्मनिरपेक्ष भारत बन जाने के बाद भी अनन्य पहचान कायम रखने हेतु माँगें संगत में रहीं। धार्मिक भाईचारे की अवधारणा को इस उद्देश्य से प्रयोग किया गया। 'इस्लाम ख़तरे में है' की पुकार ने मुस्लिम भ्रातत्व अथवा मुसलमानों की धार्मिक बंधुता की काल्पनिक अवधारणा को आकर्षित किया, जो भारत में मुस्लिम राजनीति की मुख्य घटक बन गई। कुछ मुस्लिम विद्वानों ने समुदाय में सामंती वर्ग के इस विभाजक साम्प्रदायिक प्रारूप को ही ठीक ही ध्यान दिलाया है : "प्रतीत होता है कि इस उप-महाद्वीप में मुहम्मद की 'उम्मा मुस्लिमा' (मुस्लिम समुदाय एक सजातीय इकाई स्वरूप) संबंधी संकल्पना केवल राजनीति में और एक रक्षात्मक भावभंगिमा के रूप में ही सफल है।''

धार्मिक भ्रातत्व का नारा विभाजनोपरांत भारत में भी मुसलमानों की राजनीतिक लड़ाई हेतु मुख्य हथियार रहा। मुस्लिम समाज के अभिजात वर्ग ने भी देश में मुस्लिम राजनीति हेतु स्वायत्त स्थान को विस्तार प्रदान करने के लिए ही इस्लामिक भ्रातत्व की आध्यात्मिक अवधारणा का शोषण किया। मुस्लिम राजनीति

का आभिजात्यवादी अभिलक्षण भारतीय मुसलमानों की आर्थिक व सामाजिक समस्याओं को समझ पाने और उन पर काम करने में विफल रहा। एक पृथक् धार्मिक पहचान हेतु बार-बार दोहराए जाने वाले नारे मूलत: मुस्लिमों की एक पृथक् राजनीतिक पहचान हेतु थे, जो कि विभाजनोपरांत भारत में लागू संयुक्त चुनाव प्रणाली की विचारधारा के प्रतिकूल है।

भारतीय समाज की बहुलता में किसी धार्मिक समूह को समांगीकृत करने के इस प्रकार के प्रयासों ने देश के दो प्रमुख धार्मिक समुदायों के बीच सदियों पुराने साम्प्रदायिक अविश्वास को बढ़ाया है। मुस्लिम नेतागण धर्मनिरपेक्ष संविधान का लाभ उठाते समय धार्मिक बंधुत्व संबंधी अपनी विभाजक अवधारणा के साथ अड़े रहे, जिसका मतलब था अल्पसंख्यक विशेषाधिकारों के नाम पर साम्प्रदायिक एकता। सामाजिक एकीकरण हेतु प्रयास का 'इस्लाम ख़तरे में' वाली पुरानी रट के रूप में विरोध किया गया। परिणामत:, साम्प्रदायिक आधार पर मुस्लिम भाईचारे संबंधी आत्माभिकथन ने मुस्लिम समुदाय को मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक दलित अल्पसंख्यकों की मलिन बस्तियों की ओर धकेल दिया।

कांग्रेस के एक विख्यात नेता ए. क्यू. अन्सारी ने यह माँग करते हुए कांग्रेस के भीतर ही एक मुस्लिम मोरचा बनाया कि कांग्रेस पार्टी मुसलमानों को चुनावी टिकट उनकी जनसंख्या के आधार पर दे। मुस्लिम जनसाधारण को आधुनिक युग की वास्तविकताओं से अनभिज्ञ रखते हुए, उनके नेतागण एक भिन्न सामुदायिक पहचान कायम करने के लिए आन्तरिक धार्मिक एकता की भावनाओं को भड़काते ही रहे। लोकतंत्र के एक व्यापक क्षेत्र में मुस्लिम भ्रातत्व की अवधारणा का जो ठीक-ठीक अर्थ था, सदा अनुत्तरित प्रश्न ही रहा। किसके विरुद्ध वे सामुदायिक बंधुता चाहते हैं, मुस्लिम विचारकों तक के लिए एक बड़ा प्रश्न-चिह्न है।

12.6.1 धार्मिक-भाषाई मुद्दे

पृथक् निर्वाचन क्षेत्र हेतु माँग के साथ ही, उर्दू भाषा को भी अपेक्षित धार्मिक रंग मिल गया है। मुसलमानों ने अपने धर्म और मातृभाषा पर ध्यान न देते हुए, अपनी धार्मिक-सांस्कृतिक विरासत के एक हिस्से के रूप में उर्दू का मुद्दा लगातार उठाया है।

भारत में मुसलमानों की एक आम धारणा है कि उर्दू भारत में एक कारगर भाषा के रूप में तभी जीवित रह सकती है और रहेगी जब उसे एक आधुनिक भारतीय भाषा के रूप में शैक्षिक पाठ्यक्रम में शामिल कर लिया जाएगा, जो कि 6 करोड़ से भी अधिक भारतीयों की मातृभाषा है। तथापि, तथाकथित धर्मनिरपेक्षवादियों और हिन्दू दक्षिणपंथी विचारकों के उपेक्षात्मक रवैये के कारण उर्दू अपना गौरव खोती जा रही है। यहाँ, वे आम तौर पर भूल जाते हैं कि संस्कृत जैसी समृद्ध भाषा भी राज्य संरक्षण प्राप्त कर लेने के बावज़ूद टिकी नहीं रह सकी।

भारत की विस्मयकारी भाषाओं में एक – उर्दू की जगमगाहट से कोई इंकार नहीं करता परन्तु यहाँ मुस्लिम धर्म से संबंध रखने वाले लोगों को इस लोक भाषा पर एकाधिकार हेतु दावा नहीं करना चाहिए जो कि उनके द्वारा भी बोली जाती है जो इस धर्म में विश्वास ही नहीं करते। इस प्रकार के साम्प्रदायिक रंग में जो इस भाषा के साथ जुड़ा है, उर्दू प्राय: मुस्लिम अल्पसंख्यक शिक्षा संस्थाओं व धार्मिक शिक्षालयों, यथा मदरसों तक ही सीमित रही है। यद्यपि इसने उत्तरजीविता बनाए रखी है, फिर भी अभी इसे सीखने

वाले मुस्लिम समुदाय के निम्न सामाजिक स्तर से सम्बन्ध रखते हैं जो कि आर्थिक रूप से पिछड़ा ही नहीं बल्कि सामाजिक रूप से भी विखण्डित है, जो बात परिणामत: उसे देश में एक शैक्षिक रूप से पिछड़ा और वंचित समुदाय बनाती है। इस प्रकार, राज्य समर्थन से इंकार या फिर जबकि उर्दू-भाषी समुदाय के संवैधानिक अधिकारों से इंकार कर दिए जाने के कारण, धार्मिक पहलू उर्दू के दिगन्त को परिभाषित करने लगा है। यही वो स्थिति है जिसने उर्दू विषयक स्वातंत्र्योत्तर संलाप को ग़लत दिशा प्रदान की है। कुछ हद तक उर्दू का संरक्षण मुस्लिम समुदाय के पिछड़े वर्गों के आर्थिक जीवन से जुड़ा है क्योंकि उत्तर भारत मुस्लिम अभिजात वर्ग इस भाषा को प्राय: छोड़ ही चुका है निस्संदेह, उर्दू ही मुस्लिम भारतीयों की धार्मिक विरासत का संग्रह है फिर भी, एक बोली जाने वाली भाषा के रूप में, यह अब भी भारत के आम आदमी की लोक भाषा है।

12.6.2 साम्प्रदायिक एवं आतंकवादी गतिविधियाँ और इस्लाम का इस्तेमाल

इन मुद्दों के अलावा जो प्राय: एक वृहद् स्तर तक भारत की मुस्लिम जनता के मानस पर हावी रहे हैं, साम्प्रदायिक हिंसा का इस्लामीकरण, अलगाववाद और आतंकवाद भी भारत में मुसलमानों के धार्मिक सम्प्रदायवाद के विशेष अभिलक्षण बन गए हैं, खासकर जम्मू-कश्मीर राज्य में।

सरकार ने 'साम्प्रदायिक तनाव को बढ़ावा देने' और 'भारत की सुरक्षा के प्रति हानिकारक' गतिविधियों के वास्ते 'अवैध गतिविधि प्रतिरक्षा अधिनियम' के तहत सितम्बर 2001 में भारतीय छात्र इस्लामिक आन्दोलन (सिमी–SIMI) पर औपचारिकत: प्रतिबंध लगा दिया। सरकार ने आरोप लगाया कि सिमी के लश्कर-ए-तय्यबा और हिज़बुल मुजाहिदीन जैसे आतंकवादी गुटों से संबंध थे। तीन विभिन्न राज्यों में पुलिस ने इसके आठ सदस्यों को गिरफ़्तार किया, जिनमें सिमी भोपाल ज़िला इकाई का पूर्वाध्यक्ष खालिद नईम भी शामिल था।

3 मई 2001 को इसी प्रकार सरकार ने 'साम्प्रदायिक तनाव पैदा करने' और 'भारतीय सुरक्षा के प्रति हानिकारक' गतिविधियों के लिए मुस्लिम गुट्ट 'दीनदार अंजुमन' पर प्रतिबंध लगा दिया। राज्य अभियोजकों ने आरोप लगाया कि दीनदार चन्नाबसबेश्वेर सिद्दक़ी (DCS) नामक मुस्लिम गुट्ट और उसके मूल संगठन दीनदार अंजुमन के कुछ सदस्य ही सन् 2000 में कर्नाटक व आंध्र प्रदेश चर्च बमबारी के लिए जिम्मेदार थे।

दुनिया भर में आतंकवादी विद्रोह फैलाने वाले ये इस्लामी गुट्ट ही अधिकांश ग़ैर-इस्लामिक देशों में राज्य के खुले निशाने पर हैं।

12.7 ईसाई धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलन

आज ईसाई धर्म को आमतौर पर उस पश्चिमी शासन की बपौती से जुड़े हुए के रूप में लिया जाता है जिसने औपनिवेशिक काल में भारतीयों पर अपना धर्म थोपा। तथापि, यह तथ्य ग़ौरतलब है कि भारतीय ईसाई भी उतने ही पुराने हैं जितना कि स्वयं ईसाई धर्म। यीशू मसीह के साक्षात् शिष्य सन्त थॉमस भारत आये और यीशू की मृत्यु के तुरंत बाद यथा 52 ईस्वी सन् में यहाँ ईसाई धर्म का प्रचार किया। उसके बाद विश्व के विभिन्न भागों से आये अनेक धर्म-प्रचारकों ने भारत में ईसाई धर्म का प्रचार किया। अंग्रेज

मिशनरी भारत में बहुत बाद में आए। आम तौर पर यह माना जाता है कि 'मिशनरी दूसरों के लिए एक व्यक्ति है, वह जो न्याय के लिए खड़ा है, समानता और प्रेम का संदेश फैलाता है, और पददलितों का ध्यान रखता है।' परन्तु कुछ लेखकगण भारत में ईसाई धर्म का वर्णन अंग्रेजी शासन की एक प्रशाखा के रूप में करते हैं और उसका संबंध दमनकारी और व्यभिचारी श्वेतों के धर्म से जोड़ते हैं और ये मिशनरियाँ उन्हीं की प्रतिनिधि हैं। तथापि, ईसाई धर्म अपनी धर्मार्थ, शैक्षिक एवं चिकित्सा संस्थाओं के साथ जनसाधारण को काफ़ी हद तक अपनी ओर आकर्षित कर पाने में सक्षम रहा है। ईसाइयों व हिन्दुओं अथवा ईसाइयों व मुसलमानों के बीच मनमुटाव के मुद्दे पर धर्मान्तरण से जुड़े मुद्दे रहे हैं।

ईसाई हिन्दुत्व बलों द्वारा हमलों का निशाना रहे हैं, विशेष रूप से आर.एस.एस., विहिप और बजरंग दल द्वारा। उन्हें अपने आप "भारतीयकृत" होना है। मार्च 2001 में, आर.एस.एस. प्रमुख के.एस. सुदर्शन ने कहा कि मुसलमानों और ईसाइयों को 'मक्का और पोप के साथ अपने संबंध तोड़ लेने चाहिए और उसकी जगह स्वदेशी बन जाना चाहिए।' उन्होंने यह भी कहा कि ईसाइयों को 'अपने धर्मग्रंथों की पुनर्व्याख्या' करनी चाहिए ताकि वे हिन्दू सांस्कृतिक मानदण्डों के अधिक अनुरूप हों। कैथलिक लोगों ने इस प्रकार के वक्तव्यों के प्रति तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की, दिल्ली के प्रधान पादरी ने कहा कि भारतीय ईसाई वर्ग 2000 वर्ष पुराना है [परम्परागत रूप से अपॉसल (ईसा के द्वारा भेजे गए बारह में से एक शिष्य) थॉमस के समय से] और यद्यपि धार्मिक प्रमुख पोप है, ईसाई वर्ग का दैनिक प्रशासन पूरी तरह से भारतीय हाथों में ही है।

मनमुटाव के मुद्दों के साथ-साथ, हिन्दुत्व बलों और ईसाईयों के बीच मतभेदों को हल करने के लिए भी कुछ प्रयास किए गए हैं। 1 सितम्बर 2003 को 'टाइम्स ऑफ़ इण्डिया' ने आर.एस.एस. और भारतीय कैथलिक बिशप सम्मेलन के बीच हुई बातचीत की खबर छापी। 22 अगस्त 2003 को नागपुर में दोनों फिर मिले और आगे की बातचीत तय हुई। परन्तु ईसाइयों और आर.एस.एस. के बीच तनावों को कम करने के प्रयासों ने और बदतर रूप ले लिया जब आर.एस.एस. प्रमुख के.एस. सुदर्शन ने मुसलमानों और ईसाइयों से अपने धर्मग्रंथों की पुनर्व्याख्या और नेतृत्व परिवर्तन की बात की। कैथलिक बिशप सम्मेलन ने नागपुर में सुदर्शन द्वारा दिए गए वक्तव्य पर 'सदमा और आश्चर्य' व्यक्त किया, जैसा कि 'द हिन्दू' के 31 अक्टूबर 2003 के ऑन लाइन संस्करण में निकला। ईसाई वर्ग की भावनाओं को सुदर्शन के इस कथन से भी ठेस पहुँची कि ईसाई और मुस्लिम समुदायों का नेतृत्व 'विवाद बढ़ाने वालों' के हाथ में रहा है। बिशप सम्मेलन के महासचिव, आर्चबिशप ओस्वाल्ड ग्रेसिआ के मत में, इन टीका-टिप्पणियों ने सिर्फ़ बातचीत में विश्वास न रखने वाली ताकतों के हाथ मज़बूत किए हैं।

12.8 सिख धर्म और साम्प्रदायिक आन्दोलन

15वीं व 16वीं शताब्दियों के भक्ति आंदोलन की परम्पराओं पर आधारित सिख धर्म 20वीं शताब्दी में सिख समुदाय की लामबंदी का एक सशक्त स्रोत बन गया। शिरोमणि अकाली दल (SAD) और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी (SGPC) दो प्रमुख संगठन थे जिन्होंने 20वीं शताब्दी पूर्वार्ध में धार्मिक आधार पर सिखों को संगठित किया। शिरोमणि अकाली दल ने गुरुद्वारों को महन्तों और भूमिसम्पन्न अभिजात वर्ग के नियंत्रण से आज़ाद कराने के लिए 'बीस के दशक में सामाजिक-आर्थिक आन्दोलन छेड़ा। परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी को वैधानिक दर्ज़ा दे दिया।

स्वतंत्रताप्राप्ति के उपरांत भी अकाली दल राजनीति को धर्म के साथ मिलाता रहा। अलग सिख पहचान कायम करने और राजनीति के अखाड़े में अपने समुदाय को मज़बूत बनाने के लिए मास्टर तारासिंह जो 1962 तक अकाली दल के सबसे प्रमुख नेता थे, ने इसको अनन्य रूप से समुदाय के राजनीतिक हित के लिहाज से देखा। उन्होंने तत्कालीन स्थिति को सिख समुदाय के अस्तित्व के लिए एक गंभीर ख़तरा बताया। एक वक्तव्य में उन्होंने कहा, "अब हालात इतने बदल गए हैं कि हम मुस्लिम शासन से बच चुके हैं। परन्तु हम पूरी तरह हिन्दू शासन में फँस गए हैं। हम हिन्दू प्रभुत्व के तले जीवित नहीं रह सकते''।

1967 में, पंजाब के विधानसभा चुनावों में कांग्रेस हार गई और अकाली दल ने भारतीय जन संघ व कम्यूनिस्ट पार्टियों के साथ गठबंधन कर सरकार बनाई। परन्तु 1967-1971 के दौरान अकाली दल मंत्रिमण्डल तीन बार गिरा और दल के अन्दर भीतरी गुटबाज़ी के कारण लगातार अस्थिरता बनी रही।

दल में प्रचण्ड गुट संबंधी कुल वैर इस काल में धर्म और संस्कृति की राजनीति हेतु प्रत्यावर्तन के लिए बढ़ रहे दबाव में व्यक्त हुआ, परन्तु सत्तारूढ़ नेतागण तिस पर भी, राज्य के धर्मनिरपेक्ष अधिकारक्षेत्र में सत्ता के धर्मनिरपेक्ष भौतिक मतैक्य और तर्कों की प्रभाविता को कायम रखने में सफल रहे। इस प्रक्रिया में भी उसे तारासिंह गुट के साथ मेल-मिलाप करना पड़ा। 1968 का बटाला प्रस्ताव, और 1973 का आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव, जिसका यथार्थ मतलब था अकाली दल के लक्ष्य रूप में मास्टर तारासिंह के गुट वाले 'सिख गृहभूमि' दावे को अंगीकार करना, इसी बात को सिद्ध करते हैं। 1977 से 1980 तक अकाली दल ने शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी पर नियंत्रण रखते हुए राज्य के धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक क्षेत्राधिकार में प्रभावी सत्ता का उपभोग किया।

'सत्तर के दशक में अकाली दल ने पंजाब की राजनीति में कांग्रेस के प्रभुत्व को चुनौती दी। इस चुनौती से निबटने के लिए कांग्रेस ने सिख धार्मिक नेताओं की सेवाएँ प्राप्त कीं, जिनमें 1980 के विधानसभा चुनावों में सन्त जरनैल सिंह भिण्डराँवाले शामिल हैं। अपने राजनीतिक महत्त्व को महसूस करते हुए सिख धार्मिक नेताओं ने अपनी स्वायत्तता की अधिकार-माँग की और राजनीतिक सत्ता के रणक्षेत्र में अपना हिस्सा माँगा। इसने एक ओर धर्म के इस्तेमाल के लिए राजनीतिक दलों – कांग्रेस, अकाली तथा धार्मिक एवं खाड़कू नेताओं के बीच प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति को बढ़ावा दिया, तो दूसरी ओर, खालिस्तान – एक सिख गृहभूमि हेतु आन्दोलन को। बदलते धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक हालात और अन्य देशों में बसे लोगों की शिरकत ने इस आन्दोलन को प्रोत्साहन प्रदान किया। बड़े पैमाने पर हिंसा जिसमें आतंकवाद, ऑपरेशन ब्लू स्टार, राजनेताओं व सक्रियतावादियों की हत्या, 1984 में दिल्ली में सिख विरोधी दंगे शामिल रहे, राजनीति में सिख-धर्म के प्रयोग के कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव थे। इसने भारतीय राजनीति में एक नया रुझान पैदा किया।

12.9 सार-संक्षेप

संक्षिप्ततः, इस इकाई में की गई चर्चा स्पष्ट रूप से दर्शाती है कि भारत जो एक धर्मों का देश रहा है, धार्मिक प्रथाओं, आस्थाओं व कर्मकाण्डों द्वारा प्रभावित होने के लिए बाध्य रहा है। धर्म चूँकि आमतौर पर विश्व भर में और विशेष तौर पर भारत में संस्कृति का अभिन्न हिस्सा रहे हैं, वे काफ़ी हद तक

सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं को ढालने में कारगर रहे हैं। सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन 19वीं तथा 20वीं शती-आरम्भ में राष्ट्रीय चेतना जगाने के साधन सिद्ध हुए। तथापि, समय गुज़रने के साथ, किसी न किसी कारण से उन्होंने साम्प्रदायिक व राजनीतिक रंग ले ही लिया। समुदायों के भीतर व उनके बीच धार्मिक शत्रुताओं की जो जड़ें हैं वे सदियों पुरानी हैं, और ये तनाव प्राय: ग़रीबी, वर्ग, व नृजातीय मतभेदों द्वारा कटु बनाए गए हैं, जो देश के पूरे 57-वर्षीय इतिहास में आवधिक हिंसा में उद्भूत हुए। सरकार ने कुछ प्रयास किए हैं, हमेशा सफलतापूर्वक नहीं, ताकि इन घटनाओं को रोका जा सके और जब वे हों तो साम्प्रदायिक सामञ्जस्य फिर से कायम किया जा सके। तथापि, मुसलमानों व हिन्दुओं के बीच, और हिन्दुओं व ईसाइयों के बीच तनाव आज भी इन धर्मनिरपेक्षता, सहिष्णुता और विविधता संबंधी संकल्पनाओं के समक्ष चुनौती बना हुआ है जिन पर भारतीय राज्य की नींव रखी गई।

हिंसा और आपसी फूट की घटनाओं के बावज़ूद धार्मिक समूहों के बीच सम्बन्ध यथेष्ट जन-बहुमत में आम तौर पर सौहार्दपूर्ण ही हैं। भारतीय समाज की एकाधिकता के विषय में आम धारणा यह है कि यह धार्मिक नेताओं को एक स्थान पर लाती है ताकि धार्मिक तनाव शांत हो सकें। वार्षिक 'सर्वधर्म सम्मेलन' और समय-समय पर होने वाले मुशायरे (हिन्दू-उर्दू काव्य सत्र) कुछ ऐसे मौके होते हैं जो अन्तर-सामुदायिक संबंधों को सुधारने में मदद करते हैं। सभी धर्मों के प्रमुख धर्मनिरपेक्षवादी जन सार्वजनिक प्रयास करते हैं ताकि अन्य धर्मों के प्रति सम्मान दर्शा सकें, यथा उनके विशेष अवकाश मनाना और विवाह आदि सामाजिक अवसर व अन्य समारोहों में शामिल होना। अधिकारी-तंत्र व सेना जैसी संस्थाएँ सचेत रूप से निष्ठाओं को जन्म देती हैं जो धार्मिक विश्वासों से परे होती हैं। ईसाइयों के विरुद्ध हिंसा की घटनाओं के बाद, मुस्लिम गुटों ने हिन्दू अतिवादियों द्वारा ईसाइयों के साथ दुर्व्यवहार के खिलाफ़ विरोध-प्रदर्शन किया है और 2001 में प्रमुख कैथलिक जन कश्मीर में छह सिखों की हत्या के विरुद्ध बोले। ईसाई पादरी वर्ग और ईसाई संगठनों के प्रवक्ताओं ने गुजरात में हिंसा की निंदा करते हुए सार्वजनिक वक्तव्य जारी किए, और गुजरात की राजधानी गाँधीनगर के आर्चबिशप ने अप्रैल 2003 में एक शांति-मार्च में भाग लिया। साम्प्रदायिक सामञ्जस्य की ये छोटी-छोटी घटनाएँ स्पष्ट रूप से बताती हैं कि भारत इतना वैविध्यपूर्ण और किसी भी अतिवादी विचारधारा के लिए बहुवादी है कि वह लम्बे समय तक अपने आपको सुरक्षित रख सकता है। परन्तु नेताओं द्वारा धर्मों का प्रयोग ही है जो विभिन्न मतों को अपनाने वाले लोगों के बीच साम्प्रदायिक सामञ्जस्य को भंग करता है।

12.10 अभ्यास प्रश्न

1) सम्प्रदायवाद की दृश्य अवधारणा से आप क्या समझते हैं? भारत में धर्मों ने इसे बढ़ाने में कहाँ तक योगदान दिया है?

2) क्या आप मानते हैं कि धार्मिक और साम्प्रदायिक आन्दोलनों ने किसी भी प्रकार सामाजिक विकास में योगदान दिया है?

3) "बहुसंख्यक सम्प्रदायवाद अल्पसंख्यक सम्प्रदायवाद से कहीं अधिक ख़तरनाक है।" टिप्पणी करें।

4) "धार्मिक आन्दोलन राजनीतिक सत्ता हथियाने के लिए एक उछाल तख्ता है।" इस कथन के आलोक में अपने विचारों को प्रयत्न सिद्ध करें।

इकाई 12 धार्मिक और साम्प्रदायिक आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

12.1 प्रस्तावना

12.2 साम्प्रदायिक क्या है?

12.3 साम्प्रदायिक एवं धार्मिक आन्दोलन: एक सिंहावलोकन

12.4 धार्मिक जनसांख्यिकी

12.5 हिन्दू साम्प्रदायिक एवं धार्मिक आन्दोलन

12.5.1 हिन्दूकरण और शिक्षा-शास्त्रीय अन्तर्निविशन

12.5.2 विहिप का उदय और धर्मांतरण का मुद्दा

12.5.3 बाबरी मस्जिद - रामजन्मभूमि मुद्दा

12.6 मुस्लिम धार्मिक एवं साम्प्रदायिक आन्दोलन

12.6.1 धार्मिक-भाषाई मुद्दे

12.6.2 साम्प्रदायिक एवं आतंकवादी गतिविधियाँ और इस्लाम का इस्तेमाल

12.7 ईसाई धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलन

12.8 सिख धर्म और साम्प्रदायिक आन्दोलन

12.9 सार-संक्षेप

12.10 अभ्यास प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

धार्मिक और साम्प्रदायिक आन्दोलन आम तौर पर भारतीय उप-महाद्वीप का और विशेष तौर पर भारत का सुस्पष्ट अभिलक्षण रहे हैं। चाहे सामाजिक सुधारों का मुद्दा हो, राष्ट्रीय जागरूकता का मुद्दा हो, या किसी राज्य के गठन अथवा सत्ता में आने का, धर्म ने सदा ही इस देश और उसकी जनता की नियति को तय करने में एक निर्णायक भूमिका निभाई है। विभिन्न प्रकृति के सामाजिक आन्दोलनों ने मुख्य रूप से धर्म से सम्बन्ध रखते हुए जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई हैं। आमतौर पर दक्षिण एशिया में और विशेष तौर पर भारत में, धार्मिक रूढ़िवादी आन्दोलन सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन लाने में निर्णायक रहे हैं। उनका प्रभाव इस तथ्य से उपलक्षित किया जा सकता है कि फिर भी वे राष्ट्र-राज्य की सीमाएँ निर्धारित करने में सफल रहे हैं और पृथक्तावादी आन्दोलनों के नेतृत्व कर ऐसे प्रयासों में अविरत रहे हैं। इसके अलावा, उनमें से कई नितान्त क्रांतिक हैं क्योंकि वे वर्तमान व्यवस्था में ही एक धर्मनिरपेक्ष राज्य से एक क्षेत्र-विशेष पर आधारित राज्य की भी माँग करते हैं। फलस्वरूप इस प्रकार के आन्दोलन विभिन्न धर्मों के लोगों के बीच शत्रुता, विद्वेष और हिंसा को प्रोत्साहन देने में

लग जाते हैं, जो कि जनाधिकार क्षेत्र में उनकी वैधता पर सवाल उठाते हैं। परन्तु वास्तविकता में, समाज के भीतर घुसपैठ की आयति और राज्यीय राजनीति के साथ संबंधों में इन आन्दोलनों को सहज ही खारिज नहीं किया जा सकता है, खासकर वर्तमान भारत में। इस इकाई में उन साम्प्रदायिक उन्मत्तताओं से जुड़े आन्दोलनों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए हम भारत में सामाजिक आन्दोलनों के विषय में पढ़ेंगे जिन्होंने धार्मिक आधार पर भारत की जनता के सामुदायिक जीवन को क्षति पहुँचाई है।

12.2 साम्प्रदायिक क्या है?

राजनीतिक शब्दावली और शिक्षा-संबंधी चर्चाओं में 'सम्प्रदाय' एक अपमानजनक अर्थ में प्रयोग किया जाता है जो संकीर्ण सांप्रदायिक हितों को दर्शाता है। स्वतंत्रतापूर्व भारत में राजनेतागण भारतीय मुस्लिमलीग का वर्णन एक साम्प्रदायिक संगठन के रूप में करते थे। तथापि, अनेक मार्क्सवादी एवं यूरोपीय विद्वानों के अनुसार यह मुस्लिम राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व करती थी। और 1946 में भारतीय मुसलमानों के जबदस्त बहुमत ने इस विश्वास के साथ मुस्लिम गृह-भूमि के समर्थन में वोट दिया कि पाकिस्तान का बनाया जाना इस उप-महाद्वीप में मुस्लिम राष्ट्रवादी आकांक्षाओं को पूरा करेगा।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि साम्प्रदायिक पहचानें सांस्कृतिक, नृजातीय, अथवा धार्मिक आधारों पर बनाई जा सकती हैं या फिर इस भावात्मक प्रचण्डता पर निर्भर करते हुए इन सबके एक साम्मिश्रण पर भी कि लोग किसी राष्ट्र के किसी एक पहलू-विशेष से जुड़े हों। हिन्दू और मुस्लिम दोनों को साम्प्रदायिक आधार पर लामबंद किया गया है। भारत न सिर्फ़ उनकी मातृभूमि है, यह उनकी पावनभूमि भी है। वे जो दावा करते हैं, वो यह है कि भारत उनके संतों और ऋषियों की भूमि है; यही वो जगह है जहाँ पवित्र नदियाँ बहती हैं और जहाँ उनका इतिहास रचा गया और अपने राज्यक्षेत्र पर वे अपना पूरा दावा रखते हैं। भौगोलिक एकता कायम करने के लिए देश के चार कोनों में स्थित तीर्थस्थलों का प्रायः उल्लेख किया जाता है और हिन्दूओं के बीच उनके क्षेत्रीय व भाषाई मतभेदों के बावज़ूद, सर्वमान्य सांस्कृतिक व धार्मिक बंधनों को जोड़ने के लिए उन्हीं का आश्रय लिया जाता है।

हिन्दू राष्ट्रवादीजन इस भूमि और इसकी जनता से एक भावात्मक जुड़ाव रखने के लिए इस सर्वमान्य सांस्कृतिक एवं धार्मिक बंधन पर जोर देते हैं। सन् 1984 में इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद सिख-विरोधी दंगे, 1989 में भागलपुर नरसंहार, 6 दिसम्बर 1992 को बाबरी मस्जिद का विध्वंस, 'नब्बे के दशकोत्तर में ईसाई मिशनरियों पर आक्रमण और 2002 में गोधरा की घटना के बाद हुए साम्प्रदायिक दंगों के बाद पैदा हुई अव्यवस्था, आदि धार्मिक आधारों पर आयोजित बहुमतवादी साम्प्रदायिक आन्दोलनों की ही कुछ अभिव्यक्तियाँ हैं।

12.3 साम्प्रदायिक एवं धार्मिक आन्दोलनः एक सिंहावलोकन

धार्मिक आधारों पर साम्प्रदायिकता के बीज प्रारम्भिक ब्रिटिश काल में ही बोए गए। अंग्रेज सरकार द्वारा अपनाई गई 'फूट डालो, शासन करो' नीति भारत में विभिन्न समुदायों के बीच साम्प्रदायिक घृणा फैलाने के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार थी। जनगणना में उन्होंने लोगों को धर्म के अनुसार वर्गीकृत किया और उन्हें एक-दूसरे से भिन्न के रूप में देखा और उनसे भिन्न-भिन्न ही व्यवहार किया। उन्होंने मूल धार्मिक

ग्रंथों के आधार पर ही भारतीय समुदायों को ज्ञानकृत करने का प्रयास किया और उन्होंने उस तरीके की बजाय जिसमें वे वर्तमान में रहते थे, उनमें आन्तरिक भेद पाये। अंग्रेज सदा मुसलमानों से संभावित खतरे से भयग्रस्त ही रहे, जो कि इस उप-महाद्वीप के पूर्व-शासक थे और जिन्होंने मुगल साम्राज्य के अधीन 300 से भी अधिक वर्षों तक राज किया। उन्हें अपनी ओर मिलाने के लिए अंग्रेजों ने अलीगढ़ में एम.ए.ओ. कॉलेज स्थापित करने में मदद की और अखिल-भारतीय मुस्लिम कांफ्रेंस का समर्थन किया, जो कि दोनों ऐसी अग्रणी संस्थाएँ बन गईं जहाँ से मुस्लिम लीग के नेता और पाकिस्तान की विचारधारा, दोनों निकलकर आये। समाज-सुधारक और शिक्षक, सर सैयद अहमद खान जिन्होंने एम.ए.ओ. कॉलेज की स्थापना की, मुसलमानों को सिखलाया कि शिक्षा और अंग्रेजों से सहयोग समाज में उनकी उत्तरजीविता के लिए अत्यावश्यक है। मुस्लिम पुनर्जागरण के सभी आन्दोलनों से जुड़ा था – हिन्दू समाज में आत्मसातीकरण और निमज्जन का विरोध। सर सैयद अहमद खान ही ऐसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने एक पृथक् मुस्लिम गृह-भूमि की अवधारणा की। भारत में मुसलमानों के अलगाव की धारणा ने पृथक् निर्वाचन वर्ग क्षेत्र लागू किए जाने के बाद भारत की चुनावी प्रक्रिया में जन्म लिया, जो कि आने वाले समय में मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच वैचारिक मतभेद की पराकाष्ठा तक पहुँच गई। जबकि अंग्रेज़ों के विरुद्ध भारत में राष्ट्रवाद की सशक्त भावनाएँ थीं, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक देश में साम्प्रदायिक संघर्ष और आन्दोलन भी शुरू हो गए जो कि वर्ग अथवा क्षेत्र की बजाय धार्मिक समुदायों पर आधारित थे।

मुस्लिम सम्प्रदायवाद के साथ ही, 'गौ-वध', ईसाइयों व मुसलमानों द्वारा धर्मान्तरण आदि मुद्दों पर हिन्दू साम्प्रदायिक भावनाएँ भी भड़काई गईं। आर्य समाज जैसे हिन्दू पुनर्जागरणवादियों व अन्य रूढ़िवादी संगठनों द्वारा उन हिन्दुओं को पुनर्धर्मांतरित करने के लिए 'शुद्धि आन्दोलन' चलाया गया। इन दो समुदायों के बीच मतभेद भाषा और उसकी लिपि को लेकर भी पैदा हुआ, क्योंकि हिन्दूजन राष्ट्रीय भाषा के लिए मुख्य प्रत्याशी सशक्त रूप से उर्दू की बजाय हिन्दी को बताते हुए कार्यालयी लिपि को फ़ारसी से बदलकर हिन्दू देवनागरी लिपि करना चाहते थे।

मुस्लिम लीग के गठन के जवाब में एक एकीकृत हिन्दू-राष्ट्र हेतु दावा करते हुए बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दौर में हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (आर.एस.एस.) के रूप में पूरे ज़ोरों पर राजनीतिक आधारों पर हिन्दू दक्षिणपंथी राजनीतिक आंदोलनों ने भी संगठित होना शुरू कर दिया।

धार्मिक भाषाओं पर जन्मी राजनीतिक विचारधारा, स्वतंत्रता संग्राम के दौरान प्रकट हुई सशक्त धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी भावनाओं के बावज़ूद, इस उप-महाद्वीप में रह रहे समुदायों को जोड़कर नहीं रख सकी। भारत की स्वतंत्रता अपने साथ साम्प्रदायिक आधारों पर विभाजन लेकर आयी, यद्यपि भारत ने कुल मिलाकर धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक भावनाओं पर राज्य के गठन का परित्याग किया और स्वयं को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया। तथापि, चूँकि धार्मिक मूल्य व भावनाएँ व्यापकत: भारतीय समाज के अभिन्न भाग थे, वे धार्मिक आधारों पर एक न एक मुद्दे को उठाने में आम जनता के हृदय की आवाज़ को प्रतिध्वनित करते ही रहे।

साम्प्रदायिक आधारों पर विभाजन को स्वीकार कर लिए जाने के बावज़ूद बहुमत-अल्पमत सिंड्रोम अस्पृष्ट ही रहे। भारत में रह रहे मुसलमानों की संख्या उतनी ही है जितनी कि पाकिस्तान में, जो उसे विश्व में सबसे बड़ा मुस्लिम देश बनाता है। उसके धार्मिक एकाधिक्य के कारण, जहाँ साम्प्रदायिक आन्दोलन

अभी तक सामाजिक सामञ्जस्य को भंग करते हैं, स्थिति की गंभीरता को और अधिक समझने के लिए अभीष्ट होगा कि 2001 की जनगणना द्वारा सूचित जनसांख्यिकीय संयोजन पर एक सूक्ष्म दृष्टि डाली जाए।

12.4 धार्मिक जनसांख्यिकी

देश का कुल क्षेत्रफल लगभग 13 लाख वर्ग मील है और जनसंख्या एक अरब से कुछ अधिक। नवीनतम सरकारी अनुमानों के अनुसार हिन्दू कुल जनसंख्या का 82 प्रतिशत, मुसलमान 12 प्रतिशत, ईसाई 2.3 प्रतिशत, सिख 2.0 प्रतिशत, और अन्य जिनमें बौद्ध, जैन, पारसी (ज़रतुश्ती), यहूदी व बहाई शामिल हैं, दो प्रतिशत से भी कम हैं। हिन्दूवाद को परिभाषित करना मुश्किल है क्योंकि हिन्दूजन अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, और कर्मकाण्ड भी क्षेत्र-क्षेत्र व जाति-जाति में भिन्न-भिन्न हैं। 90 प्रतिशत से कुछ अधिक मुसलमान सुन्नी हैं; बाकी शिया हैं। बौद्धों में शामिल हैं महायान और हीनयान विचार-सम्प्रदाय के अनुयायी, और ईसाइयों में कैथलिक भी हैं और प्रोटेस्टैण्ट भी। जनजातीय समूह (जाति-व्यवस्था से बाहर ऐतिहासिक रूप से देशज समूहों के सदस्य) जो सरकारी आँकड़ों में आमतौर पर हिन्दुओं में शामिल किए जाते हैं, प्राय: पारम्परिक देशज धर्मों को अपनाते हैं। हिन्दू और मुसलमान देश भर में फैले हैं : यद्यपि मुसलमानों की अधिक जनसंख्या उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, आंध्र प्रदेश व केरल में है, जम्मू-कश्मीर में वे बहुसंख्यक हैं। ईसाई संकेन्द्रण उत्तर-पूर्वी राज्यों में देखे जाते हैं, साथ ही साथ केरल, तमिलनाडु, व गोवा आदि दक्षिणी राज्यों में भी। तीन छोटे उत्तर-पूर्वी राज्यों में बड़े ईसाई बहुसंख्यक वर्ग हैं – नागालैण्ड, मिज़ोरम व मेघालय। सिख पंजाब राज्य में एक बहुसंख्यक वर्ग हैं। गत लगभग आधी शताब्दी में, अनेक निम्न जाति के हिन्दुओं, दलितों (जिन्हें 'अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है) व अन्य ग़ैर-हिन्दू जनजातीय समूहों ने अन्य धर्म अपना लिए हैं क्योंकि उन्होंने धर्मान्तरण को व्यापक भेदभाव से बचने और उच्च सामाजिक प्रस्थिति हासिल करने का ज़रिया समझा।

भारतीय कैथलिक बिशप सम्मेलन के अनुसार विभिन्न ईसाई नामों का प्रतिनिधित्व करती देश में लगभग 1100 पंजीकृत विदेशी मिशनरियाँ हैं जो बहुधा धर्मांतरण व अन्य सामाजिक सेवाओं में लगी रहती हैं।

इतने विशाल और विविध धार्मिक संरूपण और सम्पन्न धार्मिक मूलों का इतिहास रखने पर, यह स्वाभाविक ही है कि इस देश के लोग धार्मिक भावनाओं द्वारा अपनी सार्वजनिक अथवा निजी गतिविधियों में प्रभावित हो जाने को बाध्य हो जाएँ। सामाजिक व राजनैतिक जीवन में अपनी धार्मिक पहचान की अधिकार-माँग करने के लिए, सभी समुदायों ने राष्ट्र-निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित करते हुए और सामाजिक सामञ्जस्य में कड़वाहट घोलते हुए, विध्वंसकारी प्रवृत्तियों में प्राय: ही परिणत संवेगात्मक मुद्दों को उठाकर आम जनता को लुभाने का प्रयत्न किया है।

12.5 हिन्दू साम्प्रदायिक एवं धार्मिक आन्दोलन

जैसे कि पहले भी चर्चा की गई, 19वीं शताब्दी के दौरान हिन्दू पुनर्जागरणवादियों के आन्दोलनों ने दक्षिणपंथी राजनीति हेतु आधार तैयार किया, जिसके साथ-साथ धार्मिक मुद्दों ने हिन्दू सम्प्रदायवाद का

रूप ले लिया। धर्मान्तरण, गौ-वध पर प्रतिबंध, हिन्दी का थोपा जाना, शिक्षा का हिन्दवीकरण और हिन्दू गृहभूमि हेतु दावा दिखाना, आदि मुद्दे स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात् भी गुंजायमान रहे। साम्प्रदायिक उन्माद को और बढ़ाने वाले मुद्दे थे – समान आचार-संहिता, अनुच्छेद 370 को समाप्त किया जाना (कश्मीर से संबंधित), बाबरी मस्ज़िद (एक ऐतिहासिक मस्ज़िद) का तोड़ा जाना और उसी स्थान पर राम मंदिर का निर्माण; तदोपरांत ईसाई धर्म-प्रचारकों पर उनकी धर्मान्तरण नीति के कारण हमले कलह के वे बीज रहे जिन पर हिन्दू दक्षिणपंथी सामाजिक आन्दोलन पनपते रहे और जनसाधारण को मोहित करते रहे।

धर्म, जाति व नृजाति की पहचानों पर आधारित मुद्दे स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक व राजनीतिक प्रक्रियाओं पर छाये रहे हैं। आरोप्य अभिधानों की विविधता, जिस पर धार्मिक साम्प्रदायिक आन्दोलन आधारित थे, ने सामाजिक बदलाव लाने का प्रयास किया जिसके द्वारा एक समांगी नीति लागू की जा सके, या फिर कम से कम बहुसंख्यक समुदाय के आधिपत्य का दावा कर सकें और अन्य धार्मिक समूहों को महज विदेशियों का दर्ज़ा देकर समेट दिया जाए।

हिन्दू महासभा जो कि स्वतंत्रताप्राप्ति से पहले प्रमुख राजनीतिक शक्ति थी और जो हिन्दुओं के पक्ष में बोला करती थी, महात्मा गाँधी की हत्या और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के छत्र-सदृश आधिपत्य के कारण ह्रासमान हो गई। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद अन्य हिन्दू संगठन भी समय की कसौटी पर परखे गए और उस साम्प्रदायिक हिंसा जिसमें सीमा पार लाखों लोग मारे गए और 1.5 करोड़ लोग विस्थापित हुए, के कुरूप चेहरे के कारण स्वतंत्र भारत में कुछ पहचान पा गए। महात्मा गाँधी की नृशंस हत्या स्वतंत्रताप्राप्ति के समय एकमात्र ऐसी घटना थी जिसने लोगों को आम जीवन में धार्मिक भावनाओं के प्रति उदासीन बना दिया।

तथापि, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आर.एस.एस.) की पैठ उसकी समाज-सेवा परियोजनाओं के माध्यम से जारी रही और उसने अपनी सैकड़ों-हजारों शाखाओं के एक बड़े ताने-बाने के माध्यम से हिन्दू राष्ट्रीय चेतना को फिर से जगा दिया, जो कि छात्र, श्रमिक, कृषि शिक्षा के क्षेत्र में व विशेष रूप से वनवासी क्षेत्रों में अपने विभिन्न उप-संगठनों द्वारा हाथ में लीं जा रही बहुविध सेवा परियोजनाओं में लिप्त थे।

12.5.1 हिन्दूकरण और शिक्षा-शास्त्रीय अन्तर्निवेशन

सामाजिक-आर्थिक एवं सांस्कृतिक सुधार, जो कि आर.एस.एस. ने स्वतंत्रता के बाद शुरू किए, व्यापक थे और उन्हें भारतीय जनता के बीच व्यापक रूप से ही मान्यता प्राप्त हुई। आर.एस.एस. ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु जन अकर्मण्यता की जड़ें टटोलीं। उसने शैक्षणिक कार्यक्रमों, प्राकृतिक आपदाओं के दौरान स्वैच्छिक सामाजिक कार्य तथा हिन्दुओं के लिए हिन्दू-राष्ट्र हेतु बार-बार माँग के माध्यम से सामाजिक संघटन को बदल डालने का प्रयास किया।

आर्य समाज अथवा रामकृष्ण मिशन जैसे अन्य सामाजिक सुधारवादी आन्दोलनों के साथ चलकर, आर.एस.एस. ने व्यापक रूप से फैली उन शैक्षिक संस्थाओं के माध्यम से व्यापन संबंधी अपनी कार्यावली शुरू कर दीं, जो कि शैक्षिक कार्यक्रमों को परंपरागत हिन्दू विचारधारा पर समझाते थे। इस आशय का आर.एस.एस. ने सर्वप्रथम सरस्वती शिशु मंदिर 1952 में गोरखपुर (उत्तर प्रदेश) में शुरू किया।

विभिन्न राज्यों में विद्यालयों की संख्या चूँकि बढ़ गई थी, दिल्ली में उसके मुख्यालय के पास 'विद्या भारती' नामक एक अखिल-भारतीय समन्वय समिति स्थापित की गई। विद्या भारती शिक्षा-मिशन की स्थापना का उद्देश्य था – बच्चों को इस प्रकार प्रशिक्षित करना कि वे स्वयं को एक हिन्दू राष्ट्र के संरक्षक के रूप में देखें।

आर.एस.एस. की पद्धतियों को व्यापक ईसाई मिशनरी शिक्षा-पद्धतियों के प्रति एक अनुक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। पूर्व संस्कृति को फिर से जीवित करने संबंधी उनके प्रयासों में, अध्यापकों को संबोधित करने के लिए संस्कृत शब्द प्रयोग किए जाते हैं (आचार्य)। सम्मान प्रकट करने के लिए उनके पैर छूने और कक्षाओं के नाम हिन्दू ऋषियों के नाम पर रखने की प्रथा ('वसिष्ठ कक्ष', 'विश्वमित्र कक्ष') भी विद्यालय का एक ऐसा स्थान के रूप में संकेत करती है जहाँ हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कारों की अधिकार-माँग गर्व के साथ की जाती है, जहाँ परम्परा को बचाकर रखा जाता है और कॉन्वेंट मिशनरियों के माध्यम से 'अपसंस्कृतीकरण' अथवा 'ईसाइयत के प्रभाव' के विरुद्ध आगे बढ़ाया जाता है।

यही नहीं, हिन्दू संस्कृति वाली अपनी पहचान के और अधिक प्रसार के लिए, विश्व भारती स्कूल विशेष दिवसों संबंधी अपनी ही कार्यक्रमावली को मनाते हैं, जैसे शिवाजी व जीजाबाई, विवेकानन्द, दीनदयाल उपाध्याय और सावरकर आदि के जन्मदिवस। अभिव्यंजक रूप से, गाँधी जयन्ती नहीं मनायी जाती है। शिक्षक दिवस या टीचर्स' डे (जो शेष भारत में भूतपूर्व राष्ट्रपति और शिक्षाशास्त्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन के जन्म-दिवस 5 सितम्बर को मनाया जाता है) ऋषि व्यास के माने गए जन्म-दिवस पर मनाया जाता है, जबकि कृष्ण जन्माष्टमी के दिन का मतलब है बाल-दिवस, जो कि सामान्यतया भारत में नेहरू के जन्म-दिन 14 नवम्बर को मनाया जाता है। असली ऐतिहासिक विभूतियों और उनके जो पौराणिक चरित्र हैं, मिथक व इतिहास, जन्म-दिवस व निर्वाण-दिवस, तदनुसार, महिमामण्डन बच्चों की चेतना में वार्षिक अवकाशों, समारोहों, प्रातः प्रार्थना के साथ-साथ इतिहास की विषयवस्तु व पाठ्यपुस्तकों के सांस्कृतिक ज्ञान के माध्यम से भी किया जाता है। स्कूल की कार्यप्रणाली मुख्य तौर पर आरंभ से ही बच्चों के मस्तिष्क में एक धार्मिक पहचान को जीवित रखने वाली है।

आर.एस.एस./भाजपा ने राज्य शिक्षा-संस्थाओं में अपनी विचारधाराओं को भरकर राज्य सत्ता तथा 'नागरिक समाज' के साधन, दोनों के प्रयोग के माध्यम से वर्तमान शिक्षा-प्रकृति में एक क्रांतिक विचलन पैदा करने का प्रयास किया है, जहाँ उसने स्कूलों में अपना ही तानाबाना तैयार किया है ताकि अपने संगठनों के सुविकसित संवर्ग प्राधार का पोषण कर सके।

अनिवार्यतः, आर.एस.एस. की शैक्षिक एवं राजनीतिक कार्यावली में ये दोनों बातें शामिल हैं : 'अल्पसंख्यकों' के समूहों को समाहित करना और वर्तमान सामाजिक-व्यवस्था में हिन्दू प्रभुत्व को चिरस्थाई बनाने के लिए इन समूहों के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करना। अपने अन्तर्निवेश को न्यायसंगत ठहराने और तर्कसंगत बनाने के लिए संघ परिवार ने उन ऐतिहासिक घटनाओं को फिर से लिखे जाने का सहारा लिया जिन्होंने भारत के भाग्य को रचा।

12.5.2 विहिप का उदय और धर्मांतरण का मुद्दा

धर्मान्तरण की प्रक्रिया ने शताब्दी भर संघ परिवार के सदस्यों के बीच गहरी चिन्ताओं को जन्म दिया

जो कि इस क्षति को 'देशभक्तिपूर्ण' और 'राष्ट्रीय' रंग देकर और अधिक तीव्र कर दी गई और इसे अधिकाधिक उचित प्रमाणित करवाया गया। यह दृश्यघटना विशेष रूप से 1947 के बाद हिन्दू बहुमतवाद की कार्यवाही का एक मुख्य बिंदु थी ईसाइयों के विरुद्ध हाल के अनुचित बल-प्रयोगों संबंधी संघ परिवार का औचित्य प्रतिपादन इस प्रकार के समानीकरण की घटनाओं के अनुरूप्य में ही है।

यह व्यापक रूप से माना जाता है कि हिन्दू धर्म ग़ैर-धर्मान्तरवादी होने में धार्मिक परम्पराओं के बीच अद्वितीय है। अन्य धर्मों में अंतरण, इसी कारण, एक ऐसी क्षति है जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती। यह तर्क यकायक अधिकांश व्यक्तियों के हृदय को प्रतिध्वनित करता है। सामान्य बोध जो यहाँ लागू होता है, यह है कि कोई व्यक्ति केवल जन्म से ही हिन्दू बन सकता है क्योंकि जाति (वर्ण के अर्थ में हो या फिर जाति के) हिन्दू धर्म के लिए निर्णायक होती है और जाति-प्रस्थिति वंशानुक्रमित होती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के बाद से उपांतिक समूहों व जनजातियों की दिशा में विस्तारण अधिक सुव्यवस्थित हो गया, 'उद्धारीकरण', 'शुद्धिकरण', 'पुनर्धर्मान्तरण' (परिवर्तन, 'वापस लौटना' – यह शब्द विहिप द्वारा आजकल पसंद किया जाता है) अधिक प्रचण्ड हो गए। ये सभी शब्द लोगों को उनकी 'प्राकृत' अवस्था में वापस लाने के लिए गढ़े गए हैं, यह मानते हुए कि सभी अभिलक्षित समूह कमोबेश सुसंस्कृत ढंग से हिन्दू ही हैं।

यदि हम शुरुआती दिनों में उच्च रूप से सुसंस्कृत हिन्दी और गौ-रक्षा को प्रोत्साहन के साथ जनसंघ की कारगुजारियों का विश्लेषण करें, ईसाई मिशनरियों के विरुद्ध लड़ाई को उसकी गतिविधियों का मुख्य मोरचा बना दिया गया। जनसंघ ने नवम्बर 1954 में मध्य प्रदेश में एक विदेशी मिशनरी-विरोधी सप्ताह का आयोजन किया था।

हाल के ईसाई-विरोधी अभियान तक विहिप जो मुख्य रूप से 'रामजन्मभूमि' और 1964 व उसके बाद के दशक में उसकी स्थापना के समय मुसलमानों पर घातक आक्रमण से जुड़ी रही है, उसका मुख्य संकेन्द्रण बुनियादी रूप से जनजातीय क्षेत्रों में ईसाई धर्मान्तरण के विरुद्ध ही निर्दिष्ट रहा (यथा उत्तर-पूर्व, मध्य प्रदेश, व दक्षिण बिहार)। 1968 में विहिप द्वारा बनाई गई 'आचार-संहिता' में हिन्दू धर्म के मूल संस्कारों के बीच परिवर्तन (वापस लौटना, यथा पुनर्धर्मांतरण) भी शामिल था। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि इस प्रकार का परिवर्तन 'शुद्धि' सम्बन्धी अपने ऐतिहासिक रूप से उल्लिखित आन्दोलन से भिन्न था, जो कि अपने प्रसंग में अधिक सुधारवादी और सामाजिक था, परन्तु इस प्रकार के प्रयास अपने दृष्टिकोण में अधिक साम्प्रदायिक थे और अनिवार्यत: रूढ़िवादी उद्देश्य रखते थे। फरवरी 1981 में हज़ारों दलितों को मुसलमान बनाने वाला मीनाक्षीपुरम (तिरुनेलवली) जन धर्मान्तरण ने एक ऐसे युग का सूत्रपात किया जिसमें मुसलमानों को एक दशक से भी अधिक तक निशाना बनाया जाता रहा। हाल के दिनों में ईसाई जन उनकी कार्यसूची का हिस्सा रहे हैं, खास तौर पर केन्द्र में भाजपा के नेतृत्व वाला गठबंधन बनने के बाद।

पोखरण विस्फोटों ओर द्रुत गति से होते 'उदारीकरण' के अलावा, केन्द्र में भाजपा के प्रभुत्व वाले गठबंधन को ईसाइयों के विरुद्ध संयुक्त अभियान के लिए याद किया जा सकता है। 23 जनवरी 1999 को स्टीन्स परिवार की हत्या के निपट भय द्वारा उत्पन्न व्यापक घोर प्रतिक्रिया ने अल्पकालिक सन्नाटा ला दिया, परन्तु तदोपरांत आक्रमण फिर शुरू हो गए और अधिकाधिक व्यापक रूप से फैल गए। अगस्त 2000

तक वे देश के एक बड़े हिस्से तक फैल चुके थे : उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु और गोवा। एक ताज़ा ईसाई अनुमान 1998 से हमलों की दर्ज़ संख्या 184 बताता है, जबकि अकेले सन् 2000 के पूर्वार्ध में 35 घटनाएँ हुईं।

12.5.3 बाबरी मस्जिद – रामजन्मभूमि मुद्दा

हिन्दू साम्प्रदायिक अभिकथन की पुनरुत्थानशील मनोवृत्ति को अन्ततः अयोध्या आन्दोलन में एक ऐतिहासिक अभिव्यक्ति मिल गई जिसे श्री गिरिलाल जैन ने स्वतंत्रतापश्चात् सबसे महत्त्वपूर्ण घटना बताया।

आर.एस.एस. का मत है कि अयोध्या, मथुरा और काशी कोई राजनीतिक नहीं बल्कि एक राष्ट्रीय विषय है।

इस मुद्दे ने स्थिति को और अधिक गंभीर बना दिया। 1986-92 के बीच की घटनाओं का प्रस्तुतार्थ एक दिलचस्प लेखा-जोखा है। यद्यपि रामजन्मभूमि का विवाद का इतिहास एक सदी पुराना है, फिर भी यह अयोध्या की चारदीवारी में ही रहा। यहाँ तक कि 28 दिसम्बर 1949 को भी, जब रातोंरात रामलला की मूर्ति अचानक स्थापित किए जाने के कारण दंगे भड़क उठे, इस घटना ने अधिक तूल नहीं पकड़ा क्योंकि मस्ज़िद के दरवाज़े दोनों ही समुदायों के लिए फ़ौरन बंद कर दिए गए थे और 1985 में तब तक यथापूर्व स्थिति में सुरक्षा के अन्तर्गत रखा गया जब तक कि राजीव गाँधी ने हिन्दुओं द्वारा पूजा के लिए विवादित बाबरी मस्ज़िद का दरवाज़ा खोले जाने का आदेश नहीं दे दिया। इसके अलावा, दूरदर्शन धारावाहिक 'रामायण' ने इस विवाद में एक उत्प्रेरक का काम किया। संघ परिवार ने 1989 के चुनावों में समर्थन जुटाने के लिए इस धारावाहिक के अभिनेताओं का प्रयोग किया। यह अभियान एक हिन्दू अभिकथन हेतु सशक्त ललक का संकेत करते हुए, फैज़ाबाद ज़िले से शुरू किया गया जहाँ पर अयोध्या स्थित है।

राजीव गाँधी भी इस मुद्दे को भुनाना चाहते थे, हालाँकि एक विलक्षण तरीके से। उन्होंने बड़ी कुशलता से प्रस्तावित राम मंदिर हेतु आधारशिला को मस्ज़िद के सन्निकट रखे जाने के लिए अनुमति दे दी। राजीव गाँधी इस घटना को महात्मा गाँधी के रामराज्य के स्वप्न जैसा बताने में कतई नहीं हिचकिचाए। तथापि, आन्दोलन के साथ सीधे जुड़े लोग ही वास्तविक हिताधिकारी रहे। विहिप को विश्वास था कि बाबरी मस्ज़िद विवाद हर पार्टी को दो-फाड़ कर देगा। विहिप के हाव-भाव काफी हद तक सच्चे साबित हुए क्योंकि भाजपा का चुनावी लाभ गौरतलब था। 1984 के संसदीय चुनावों में उसने 7.5 प्रतिशत वोटों के मात्र दो सीटें जीती थीं परन्तु 1989 में 11.5 प्रतिशत वोटों के साथ 85 सीटें जीत लीं। भाजपा की उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण और भारतीय जनसंघ के दिनों से अपने इतिहास में अभूतपूर्व थीं। उसकी इस सफलता का श्रेय मिला अन्य पार्टियों से अपनी अलग पहचान प्रस्तुत करने में उसकी क्षमता को। इस घटना के बाद भाजपा अपनी हिन्दू पहचान के विषय में अधिक मुखर हो गई। अयोध्या आंदोलन ने 6 दिसम्बर 1992 में बाबरी मस्ज़िद तोड़ दिए जाने की ओर प्रवृत्त किया।

1992 के पश्चात् अपनी बार-बार धमकियों के बावज़ूद विहिप व अन्य हिन्दू संगठन स्थूलतः राज्य के सीधे-सीधे टक्कर लेने से कतराते रहे। अब उन्होंने अपनी कार्यसूची में किंचित फेरबदल कर दिया है,

यथा मुद्दे को न्यायालय के माध्यम से सुलझाया जाना, यद्यपि समय-समय पर राज्य के प्रति उनकी नाराज़गी भरी धमकियों में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं।

मार्च 2003 में विहिप ने घोषणा की कि वह उन 30,000 हिन्दू मंदिरों पर 'फिर से दावा करने' के लिए एक राष्ट्रव्यापी अभियान छेड़ेगी जो मस्ज़िदों में बदल दिए गए थे। कुछ मुसलमानों को भय है कि इस अभियान के तहत हिन्दूजन वाराणसी में ज्ञानवापी मस्ज़िद, मथुरा में ईदगाह मस्ज़िद, और अयोध्या में पूर्व बाबरी मस्ज़िद की ज़मीन में राम मंदिर भूमि पर अधिकार करने का प्रयास करेंगे।

जनता को धारदार हथियारों के वितरण के विरुद्ध दंड संहिता के तहत प्रतिबंध होने के बावजूद उस अवधि में विहिप ने अपना 'त्रिशूल' वितरण कार्यक्रम जारी रखा। त्रिशूल हिन्दू धार्मिक प्रतीक है, परन्तु त्रिशूलों का प्रयोग हथियारों के रूप में भी किया गया है, उदाहरणतः 2002 के गुजरात दंगों में।

12.6 मुस्लिम धार्मिक एवं साम्प्रदायिक आन्दोलन

इस्लाम भारत में सबसे बड़े अल्पसंख्यक धर्मों में से एक हैं और संघ परिवार द्वारा एक सर्व-इस्लामिक विचारधारा में सक्रिय रूप से लिप्त है ताकि अतीत के गौरव को फिर से हासिल कर सके, और लगातार हिन्दू असुरक्षा भाव की वजह भी बना हुआ है।

उन्नीसवीं सदी में धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलनों के साथ-साथ मुस्लिम राजनीति का उठता ज्वार भी 20वीं सदी के प्रथम चतुर्थांश में बिल्कुल स्पष्ट हो गया, खासकर 1906 में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के गठन के बाद। मुस्लिम सम्प्रदायवाद ने, अन्य दक्षिणपंथी संगठनों की ही भाँति धार्मिक-राजनीतिक तर्ज पर रंग लेना शुरू कर दिया और भारतीय समाज में मुस्लिम समुदाय के एकीकरण एवं आत्मसातीकरण को रोका। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय ने उर्दू भाषा व मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्र जैसे मुद्दों को सम्प्रदायिक रंग देकर आग में घी का काम किया और धार्मिक भाईचारे के नाम पर साम्प्रदायिक राजनीति हेतु आन्दोलन को नियमितता के साथ गति प्रदान की। खिलाफत आन्दोलन, केरल में मोपला उपद्रव, दो-राष्ट्र सिद्धांत का मत-प्रचार, पाकिस्तान हेतु माँग और अन्त में देश का विभाजन आदि घटनाएँ धार्मिक आधार पर भड़काई गई राजनीति का ही परिणाम थीं।

धर्मनिरपेक्ष भारत बन जाने के बाद भी अनन्य पहचान कायम रखने हेतु माँगें संगत में रहीं। धार्मिक भाईचारे की अवधारणा को इस उद्देश्य से प्रयोग किया गया। 'इस्लाम ख़तरे में है' की पुकार ने मुस्लिम भ्रातत्व अथवा मुसलमानों की धार्मिक बंधुता की काल्पनिक अवधारणा को आकर्षित किया, जो भारत में मुस्लिम राजनीति की मुख्य घटक बन गई। कुछ मुस्लिम विद्वानों ने समुदाय में सामंती वर्ग के इस विभाजक साम्प्रदायिक प्रारूप को ही ठीक ही ध्यान दिलाया है : "प्रतीत होता है कि इस उप-महाद्वीप में मुहम्मद की 'उम्मा मुस्लिमा' (मुस्लिम समुदाय एक सजातीय इकाई स्वरूप) संबंधी संकल्पना केवल राजनीति में और एक रक्षात्मक भावभंगिमा के रूप में ही सफल है।''

धार्मिक भ्रातत्व का नारा विभाजनोपरांत भारत में भी मुसलमानों की राजनीतिक लड़ाई हेतु मुख्य हथियार रहा। मुस्लिम समाज के अभिजात वर्ग ने भी देश में मुस्लिम राजनीति हेतु स्वायत्त स्थान को विस्तार प्रदान करने के लिए ही इस्लामिक भ्रातत्व की आध्यात्मिक अवधारणा का शोषण किया। मुस्लिम राजनीति

का आभिजात्यवादी अभिलक्षण भारतीय मुसलमानों की आर्थिक व सामाजिक समस्याओं को समझ पाने और उन पर काम करने में विफल रहा। एक पृथक् धार्मिक पहचान हेतु बार-बार दोहराए जाने वाले नारे मूलतः मुस्लिमों की एक पृथक् राजनीतिक पहचान हेतु थे, जो कि विभाजनोपरांत भारत में लागू संयुक्त चुनाव प्रणाली की विचारधारा के प्रतिकूल है।

भारतीय समाज की बहुलता में किसी धार्मिक समूह को समांगीकृत करने के इस प्रकार के प्रयासों ने देश के दो प्रमुख धार्मिक समुदायों के बीच सदियों पुराने साम्प्रदायिक अविश्वास को बढ़ाया है। मुस्लिम नेतागण धर्मनिरपेक्ष संविधान का लाभ उठाते समय धार्मिक बंधुत्व संबंधी अपनी विभाजक अवधारणा के साथ अड़े रहे, जिसका मतलब था अल्पसंख्यक विशेषाधिकारों के नाम पर साम्प्रदायिक एकता। सामाजिक एकीकरण हेतु प्रयास का 'इस्लाम ख़तरे में' वाली पुरानी रट के रूप में विरोध किया गया। परिणामतः, साम्प्रदायिक आधार पर मुस्लिम भाईचारे संबंधी आत्माभिकथन ने मुस्लिम समुदाय को मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक दलित अल्पसंख्यकों की मलिन बस्तियों की ओर धकेल दिया।

कांग्रेस के एक विख्यात नेता ए. क्यू. अन्सारी ने यह माँग करते हुए कांग्रेस के भीतर ही एक मुस्लिम मोरचा बनाया कि कांग्रेस पार्टी मुसलमानों को चुनावी टिकट उनकी जनसंख्या के आधार पर दे। मुस्लिम जनसाधारण को आधुनिक युग की वास्तविकताओं से अनभिज्ञ रखते हुए, उनके नेतागण एक भिन्न सामुदायिक पहचान कायम करने के लिए आन्तरिक धार्मिक एकता की भावनाओं को भड़काते ही रहे। लोकतंत्र के एक व्यापक क्षेत्र में मुस्लिम भ्रातत्व की अवधारणा का जो ठीक-ठीक अर्थ था, सदा अनुत्तरित प्रश्न ही रहा। किसके विरुद्ध वे सामुदायिक बंधुता चाहते हैं, मुस्लिम विचारकों तक के लिए एक बड़ा प्रश्न-चिह्न है।

12.6.1 धार्मिक-भाषाई मुद्दे

पृथक् निर्वाचन क्षेत्र हेतु माँग के साथ ही, उर्दू भाषा को भी अपेक्षित धार्मिक रंग मिल गया है। मुसलमानों ने अपने धर्म और मातृभाषा पर ध्यान न देते हुए, अपनी धार्मिक-सांस्कृतिक विरासत के एक हिस्से के रूप में उर्दू का मुद्दा लगातार उठाया है।

भारत में मुसलमानों की एक आम धारणा है कि उर्दू भारत में एक कारगर भाषा के रूप में तभी जीवित रह सकती है और रहेगी जब उसे एक आधुनिक भारतीय भाषा के रूप में शैक्षिक पाठ्यक्रम में शामिल कर लिया जाएगा, जो कि 6 करोड़ से भी अधिक भारतीयों की मातृभाषा है। तथापि, तथाकथित धर्मनिरपेक्षवादियों और हिन्दू दक्षिणपंथी विचारकों के उपेक्षात्मक रवैये के कारण उर्दू अपना गौरव खोती जा रही है। यहाँ, वे आम तौर पर भूल जाते हैं कि संस्कृत जैसी समृद्ध भाषा भी राज्य संरक्षण प्राप्त कर लेने के बावज़ूद टिकी नहीं रह सकी।

भारत की विस्मयकारी भाषाओं में एक – उर्दू की जगमगाहट से कोई इंकार नहीं करता परन्तु यहाँ मुस्लिम धर्म से संबंध रखने वाले लोगों को इस लोक भाषा पर एकाधिकार हेतु दावा नहीं करना चाहिए जो कि उनके द्वारा भी बोली जाती है जो इस धर्म में विश्वास ही नहीं करते। इस प्रकार के साम्प्रदायिक रंग में जो इस भाषा के साथ जुड़ा है, उर्दू प्रायः मुस्लिम अल्पसंख्यक शिक्षा संस्थाओं व धार्मिक शिक्षालयों, यथा मदरसों तक ही सीमित रही है। यद्यपि इसने उत्तरजीविता बनाए रखी है, फिर भी अभी इसे सीखने

वाले मुस्लिम समुदाय के निम्न सामाजिक स्तर से सम्बन्ध रखते हैं जो कि आर्थिक रूप से पिछड़ा ही नहीं बल्कि सामाजिक रूप से भी विखण्डित है, जो बात परिणामत: उसे देश में एक शैक्षिक रूप से पिछड़ा और वंचित समुदाय बनाती है। इस प्रकार, राज्य समर्थन से इंकार या फिर जबकि उर्दू-भाषी समुदाय के संवैधानिक अधिकारों से इंकार कर दिए जाने के कारण, धार्मिक पहलू उर्दू के दिगन्त को परिभाषित करने लगा है। यही वो स्थिति है जिसने उर्दू विषयक स्वातंत्र्योत्तर संलाप को ग़लत दिशा प्रदान की है। कुछ हद तक उर्दू का संरक्षण मुस्लिम समुदाय के पिछड़े वर्गों के आर्थिक जीवन से जुड़ा है क्योंकि उत्तर भारत मुस्लिम अभिजात वर्ग इस भाषा को प्राय: छोड़ ही चुका है निस्संदेह, उर्दू ही मुस्लिम भारतीयों की धार्मिक विरासत का संग्रह है फिर भी, एक बोली जाने वाली भाषा के रूप में, यह अब भी भारत के आम आदमी की लोक भाषा है।

12.6.2 साम्प्रदायिक एवं आतंकवादी गतिविधियाँ और इस्लाम का इस्तेमाल

इन मुद्दों के अलावा जो प्राय: एक वृहद् स्तर तक भारत की मुस्लिम जनता के मानस पर हावी रहे हैं, साम्प्रदायिक हिंसा का इस्लामीकरण, अलगाववाद और आतंकवाद भी भारत में मुसलमानों के धार्मिक सम्प्रदायवाद के विशेष अभिलक्षण बन गए हैं, खासकर जम्मू-कश्मीर राज्य में।

सरकार ने 'साम्प्रदायिक तनाव को बढ़ावा देने' और 'भारत की सुरक्षा के प्रति हानिकारक' गतिविधियों के वासते 'अवैध गतिविधि प्रतिरक्षा अधिनियम' के तहत सितम्बर 2001 में भारतीय छात्र इस्लामिक आन्दोलन (सिमी–SIMI) पर औपचारिकत: प्रतिबंध लगा दिया। सरकार ने आरोप लगाया कि सिमी के लश्कर-ए-तय्यबा और हिज़्बुल मुजाहिदीन जैसे आतंकवादी गुटों से संबंध थे। तीन विभिन्न राज्यों में पुलिस ने इसके आठ सदस्यों को गिरफ़्तार किया, जिनमें सिमी भोपाल ज़िला इकाई का पूर्वाध्यक्ष खालिद नईम भी शामिल था।

3 मई 2001 को इसी प्रकार सरकार ने 'साम्प्रदायिक तनाव पैदा करने' और 'भारतीय सुरक्षा के प्रति हानिकारक' गतिविधियों के लिए मुस्लिम गुट्ट 'दीनदार अंजुमन' पर प्रतिबंध लगा दिया। राज्य अभियोजकों ने आरोप लगाया कि दीनदार चन्नाबसबेश्वेर सिद्दक़ी (DCS) नामक मुस्लिम गुट्ट और उसके मूल संगठन दीनदार अंजुमन के कुछ सदस्य ही सन् 2000 में कर्नाटक व आंध्र प्रदेश चर्च बमबारी के लिए जिम्मेदार थे।

दुनिया भर में आतंकवादी विद्रोह फैलाने वाले ये इस्लामी गुट्ट ही अधिकांश ग़ैर-इस्लामिक देशों में राज्य के खुले निशाने पर हैं।

12.7 ईसाई धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलन

आज ईसाई धर्म को आमतौर पर उस पश्चिमी शासन की बपौती से जुड़े हुए के रूप में लिया जाता है जिसने औपनिवेशिक काल में भारतीयों पर अपना धर्म थोपा। तथापि, यह तथ्य ग़ौरतलब है कि भारतीय ईसाई भी उतने ही पुराने हैं जितना कि स्वयं ईसाई धर्म। यीशू मसीह के साक्षात् शिष्य सन्त थॉमस भारत आये और यीशू की मृत्यु के तुरंत बाद यथा 52 ईस्वी सन् में यहाँ ईसाई धर्म का प्रचार किया। उसके बाद विश्व के विभिन्न भागों से आये अनेक धर्म-प्रचारकों ने भारत में ईसाई धर्म का प्रचार किया। अंग्रेज

मिशनरी भारत में बहुत बाद में आए। आम तौर पर यह माना जाता है कि 'मिशनरी दूसरों के लिए एक व्यक्ति है, वह जो न्याय के लिए खड़ा है, समानता और प्रेम का संदेश फैलाता है, और पददलितों का ध्यान रखता है।' परन्तु कुछ लेखकगण भारत में ईसाई धर्म का वर्णन अंग्रेजी शासन की एक प्रशाखा के रूप में करते हैं और उसका संबंध दमनकारी और व्यभिचारी श्वेतों के धर्म से जोड़ते हैं और ये मिशनरियाँ उन्हीं की प्रतिनिधि हैं। तथापि, ईसाई धर्म अपनी धर्मार्थ, शैक्षिक एवं चिकित्सा संस्थाओं के साथ जनसाधारण को काफ़ी हद तक अपनी ओर आकर्षित कर पाने में सक्षम रहा है। ईसाइयों व हिन्दुओं अथवा ईसाइयों व मुसलमानों के बीच मनमुटाव के मुद्दे पर धर्मान्तरण से जुड़े मुद्दे रहे हैं।

ईसाई हिन्दुत्व बलों द्वारा हमलों का निशाना रहे हैं, विशेष रूप से आर.एस.एस., विहिप और बजरंग दल द्वारा। उन्हें अपने आप "भारतीयकृत" होना है। मार्च 2001 में, आर.एस.एस. प्रमुख के.एस. सुदर्शन ने कहा कि मुसलमानों और ईसाइयों को 'मक्का और पोप के साथ अपने संबंध तोड़ लेने चाहिए और उसकी जगह स्वदेशी बन जाना चाहिए।' उन्होंने यह भी कहा कि ईसाइयों को 'अपने धर्मग्रंथों की पुनर्व्याख्या' करनी चाहिए ताकि वे हिन्दू सांस्कृतिक मानदण्डों के अधिक अनुरूप हों। कैथलिक लोगों ने इस प्रकार के वक्तव्यों के प्रति तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की, दिल्ली के प्रधान पादरी ने कहा कि भारतीय ईसाई वर्ग 2000 वर्ष पुराना है [परम्परागत रूप से अपॉसल (ईसा के द्वारा भेजे गए बारह में से एक शिष्य) थॉमस के समय से] और यद्यपि धार्मिक प्रमुख पोप है, ईसाई वर्ग का दैनिक प्रशासन पूरी तरह से भारतीय हाथों में ही है।

मनमुटाव के मुद्दों के साथ-साथ, हिन्दुत्व बलों और ईसाईयों के बीच मतभेदों को हल करने के लिए भी कुछ प्रयास किए गए हैं। 1 सितम्बर 2003 को 'टाइम्स ऑफ़ इण्डिया' ने आर.एस.एस. और भारतीय कैथलिक बिशप सम्मेलन के बीच हुई बातचीत की खबर छापी। 22 अगस्त 2003 को नागपुर में दोनों फिर मिले और आगे की बातचीत तय हुई। परन्तु ईसाइयों और आर.एस.एस. के बीच तनावों को कम करने के प्रयासों ने और बदतर रूप ले लिया जब आर.एस.एस. प्रमुख के.एस. सुदर्शन ने मुसलमानों और ईसाइयों से अपने धर्मग्रंथों की पुनर्व्याख्या और नेतृत्व परिवर्तन की बात की। कैथलिक बिशप सम्मेलन ने नागपुर में सुदर्शन द्वारा दिए गए वक्तव्य पर 'सदमा और आश्चर्य' व्यक्त किया, जैसा कि 'द हिन्दू' के 31 अक्टूबर 2003 के ऑन लाइन संस्करण में निकला। ईसाई वर्ग की भावनाओं को सुदर्शन के इस कथन से भी ठेस पहुँची कि ईसाई और मुस्लिम समुदायों का नेतृत्व 'विवाद बढ़ाने वालों' के हाथ में रहा है। बिशप सम्मेलन के महासचिव, आर्चबिशप ओस्वाल्ड ग्रेसिआ के मत में, इन टीका-टिप्पणियों ने सिर्फ़ बातचीत में विश्वास न रखने वाली ताकतों के हाथ मज़बूत किए हैं।

12.8 सिख धर्म और साम्प्रदायिक आन्दोलन

15वीं व 16वीं शताब्दियों के भक्ति आंदोलन की परम्पराओं पर आधारित सिख धर्म 20वीं शताब्दी में सिख समुदाय की लामबंदी का एक सशक्त स्रोत बन गया। शिरोमणि अकाली दल (SAD) और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी (SGPC) दो प्रमुख संगठन थे जिन्होंने 20वीं शताब्दी पूर्वार्ध में धार्मिक आधार पर सिखों को संगठित किया। शिरोमणि अकाली दल ने गुरुद्वारों को महन्तों और भूमिसम्पन्न अभिजात वर्ग के नियंत्रण से आज़ाद कराने के लिए 'बीस के दशक में सामाजिक-आर्थिक आन्दोलन छेड़ा। परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी को वैधानिक दर्ज़ा दे दिया।

स्वतंत्रताप्राप्ति के उपरांत भी अकाली दल राजनीति को धर्म के साथ मिलाता रहा। अलग सिख पहचान कायम करने और राजनीति के अखाड़े में अपने समुदाय को मज़बूत बनाने के लिए मास्टर तारासिंह जो 1962 तक अकाली दल के सबसे प्रमुख नेता थे, ने इसको अनन्य रूप से समुदाय के राजनीतिक हित के लिहाज से देखा। उन्होंने तत्कालीन स्थिति को सिख समुदाय के अस्तित्व के लिए एक गंभीर ख़तरा बताया। एक वक्तव्य में उन्होंने कहा, "अब हालात इतने बदल गए हैं कि हम मुस्लिम शासन से बच चुके हैं। परन्तु हम पूरी तरह हिन्दू शासन में फँस गए हैं। हम हिन्दू प्रभुत्व के तले जीवित नहीं रह सकते''।

1967 में, पंजाब के विधानसभा चुनावों में कांग्रेस हार गई और अकाली दल ने भारतीय जन संघ व कम्यूनिस्ट पार्टियों के साथ गठबंधन कर सरकार बनाई। परन्तु 1967-1971 के दौरान अकाली दल मंत्रिमण्डल तीन बार गिरा और दल के अन्दर भीतरी गुटबाज़ी के कारण लगातार अस्थिरता बनी रही।

दल में प्रचण्ड गुट संबंधी कुल वैर इस काल में धर्म और संस्कृति की राजनीति हेतु प्रत्यावर्तन के लिए बढ़ रहे दबाव में व्यक्त हुआ, परन्तु सत्तारूढ़ नेतागण तिस पर भी, राज्य के धर्मनिरपेक्ष अधिकारक्षेत्र में सत्ता के धर्मनिरपेक्ष भौतिक मतैक्य और तर्कों की प्रभाविता को कायम रखने में सफल रहे। इस प्रक्रिया में भी उसे तारासिंह गुट के साथ मेल-मिलाप करना पड़ा। 1968 का बटाला प्रस्ताव, और 1973 का आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव, जिसका यथार्थ मतलब था अकाली दल के लक्ष्य रूप में मास्टर तारासिंह के गुट वाले 'सिख गृहभूमि' दावे को अंगीकार करना, इसी बात को सिद्ध करते हैं। 1977 से 1980 तक अकाली दल ने शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी पर नियंत्रण रखते हुए राज्य के धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक क्षेत्राधिकार में प्रभावी सत्ता का उपभोग किया।

'सत्तर के दशक में अकाली दल ने पंजाब की राजनीति में कांग्रेस के प्रभुत्व को चुनौती दी। इस चुनौती से निबटने के लिए कांग्रेस ने सिख धार्मिक नेताओं की सेवाएँ प्राप्त कीं, जिनमें 1980 के विधानसभा चुनावों में सन्त जरनैल सिंह भिण्डराँवाले शामिल हैं। अपने राजनीतिक महत्त्व को महसूस करते हुए सिख धार्मिक नेताओं ने अपनी स्वायत्तता की अधिकार-माँग की और राजनीतिक सत्ता के रणक्षेत्र में अपना हिस्सा माँगा। इसने एक ओर धर्म के इस्तेमाल के लिए राजनीतिक दलों – कांग्रेस, अकाली तथा धार्मिक एवं खाड़कू नेताओं के बीच प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति को बढ़ावा दिया, तो दूसरी ओर, खालिस्तान – एक सिख गृहभूमि हेतु आन्दोलन को। बदलते धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक हालात और अन्य देशों में बसे लोगों की शिरकत ने इस आन्दोलन को प्रोत्साहन प्रदान किया। बड़े पैमाने पर हिंसा जिसमें आतंकवाद, ऑपरेशन ब्लू स्टार, राजनेताओं व सक्रियतावादियों की हत्या, 1984 में दिल्ली में सिख विरोधी दंगे शामिल रहे, राजनीति में सिख-धर्म के प्रयोग के कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव थे। इसने भारतीय राजनीति में एक नया रुझान पैदा किया।

12.9 सार-संक्षेप

संक्षिप्ततः, इस इकाई में की गई चर्चा स्पष्ट रूप से दर्शाती है कि भारत जो एक धर्मों का देश रहा है, धार्मिक प्रथाओं, आस्थाओं व कर्मकाण्डों द्वारा प्रभावित होने के लिए बाध्य रहा है। धर्म चूँकि आमतौर पर विश्व भर में और विशेष तौर पर भारत में संस्कृति का अभिन्न हिस्सा रहे हैं, वे काफ़ी हद तक

सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं को ढालने में कारगर रहे हैं। सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन 19वीं तथा 20वीं शती-आरम्भ में राष्ट्रीय चेतना जगाने के साधन सिद्ध हुए। तथापि, समय गुज़रने के साथ, किसी न किसी कारण से उन्होंने साम्प्रदायिक व राजनीतिक रंग ले ही लिया। समुदायों के भीतर व उनके बीच धार्मिक शत्रुताओं की जो जड़ें हैं वे सदियों पुरानी हैं, और ये तनाव प्राय: ग़रीबी, वर्ग, व नृजातीय मतभेदों द्वारा कटु बनाए गए हैं, जो देश के पूरे 57-वर्षीय इतिहास में आवधिक हिंसा में उद्भूत हुए। सरकार ने कुछ प्रयास किए हैं, हमेशा सफलतापूर्वक नहीं, ताकि इन घटनाओं को रोका जा सके और जब वे हों तो साम्प्रदायिक सामञ्जस्य फिर से कायम किया जा सके। तथापि, मुसलमानों व हिन्दुओं के बीच, और हिन्दुओं व ईसाइयों के बीच तनाव आज भी इन धर्मनिरपेक्षता, सहिष्णुता और विविधता संबंधी संकल्पनाओं के समक्ष चुनौती बना हुआ है जिन पर भारतीय राज्य की नींव रखी गई।

हिंसा और आपसी फूट की घटनाओं के बावज़ूद धार्मिक समूहों के बीच सम्बन्ध यथेष्ट जन-बहुमत में आम तौर पर सौहार्दपूर्ण ही हैं। भारतीय समाज की एकाधिकता के विषय में आम धारणा यह है कि यह धार्मिक नेताओं को एक स्थान पर लाती है ताकि धार्मिक तनाव शांत हो सकें। वार्षिक 'सर्वधर्म सम्मेलन' और समय-समय पर होने वाले मुशायरे (हिन्दू-उर्दू काव्य सत्र) कुछ ऐसे मौके होते हैं जो अन्तर-सामुदायिक संबंधों को सुधारने में मदद करते हैं। सभी धर्मों के प्रमुख धर्मनिरपेक्षवादी जन सार्वजनिक प्रयास करते हैं ताकि अन्य धर्मों के प्रति सम्मान दर्शा सकें, यथा उनके विशेष अवकाश मनाना और विवाह आदि सामाजिक अवसर व अन्य समारोहों में शामिल होना। अधिकारी-तंत्र व सेना जैसी संस्थाएँ सचेत रूप से निष्ठाओं को जन्म देती हैं जो धार्मिक विश्वासों से परे होती हैं। ईसाइयों के विरुद्ध हिंसा की घटनाओं के बाद, मुस्लिम गुटों ने हिन्दू अतिवादियों द्वारा ईसाइयों के साथ दुर्व्यवहार के खिलाफ़ विरोध-प्रदर्शन किया है और 2001 में प्रमुख कैथलिक जन कश्मीर में छह सिखों की हत्या के विरुद्ध बोले। ईसाई पादरी वर्ग और ईसाई संगठनों के प्रवक्ताओं ने गुजरात में हिंसा की निंदा करते हुए सार्वजनिक वक्तव्य जारी किए, और गुजरात की राजधानी गाँधीनगर के आर्चबिशप ने अप्रैल 2003 में एक शांति-मार्च में भाग लिया। साम्प्रदायिक सामञ्जस्य की ये छोटी-छोटी घटनाएँ स्पष्ट रूप से बताती हैं कि भारत इतना वैविध्यपूर्ण और किसी भी अतिवादी विचारधारा के लिए बहुवादी है कि वह लम्बे समय तक अपने आपको सुरक्षित रख सकता है। परन्तु नेताओं द्वारा धर्मों का प्रयोग ही है जो विभिन्न मतों को अपनाने वाले लोगों के बीच साम्प्रदायिक सामञ्जस्य को भंग करता है।

12.10 अभ्यास प्रश्न

1) सम्प्रदायवाद की दृश्य अवधारणा से आप क्या समझते हैं? भारत में धर्मों ने इसे बढ़ाने में कहाँ तक योगदान दिया है?

2) क्या आप मानते हैं कि धार्मिक और साम्प्रदायिक आन्दोलनों ने किसी भी प्रकार सामाजिक विकास में योगदान दिया है?

3) "बहुसंख्यक सम्प्रदायवाद अल्पसंख्यक सम्प्रदायवाद से कहीं अधिक ख़तरनाक है।" टिप्पणी करें।

4) "धार्मिक आन्दोलन राजनीतिक सत्ता हथियाने के लिए एक उछाल तख्ता है।" इस कथन के आलोक में अपने विचारों को प्रयत्न सिद्ध करें।

इकाई 13 कृषिक आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

13.1 प्रस्तावना

13.2 कृषिक आन्दोलन और कृषिक वर्ग क्या हैं?

- 13.2.1 इनका अर्थ क्या है?
- 13.2.2 कृषिक वर्गों का वर्गीकरण

13.3 कृषिक आन्दोलनों के अध्ययनार्थ दृष्टिकोण

13.4 स्वतंत्रतापूर्व काल में कृषिक आन्दोलन

13.5 स्वातंत्र्योत्तर काल में कृषिक आन्दोलन

- 13.5.1 ग्रामीण गरीब वर्ग: कृषि-श्रमिक तथा छोटे/गरीब/उपान्तिक किसान
- 13.5.2 ग्रामीण सम्पन्न वर्ग: कृषक/ मझले किसान/ कुलक/ धनी किसान
- 13.5.3 भूमण्डलीकरण और कृषक आन्दोलन

13.6 सार-संक्षेप

13.7 अभ्यास प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

स्वतंत्रतापूर्व एवं स्वातंत्र्योत्तर काल में आद्योपान्त विभिन्न कृषि-वर्गों ने सामूहिक कार्रवाई में हिस्सा लिया। उनकी भागीदारी का परिणाम, राज्य की प्रतिक्रिया और कृषिक आन्दोलनों की सफलता नेतृत्व की प्रकृति, मुद्दों, विचारधाराओं और लामबंदी प्रतिमानों पर निर्भर रही है। आजकल इन कृषिक आन्दोलनों का संदर्भ सामाजिक आन्दोलनों के रूप में लिया जाता है। इस इकाई में चर्चा के विषय रहेंगे – कृषिक आन्दोलन, उनके उत्थान और पतन के कारण एवं प्रसंग, उनके द्वारा उठाए गए मुद्दों की प्रकृति, नेतृत्व की प्रकृति और लामबंदी के प्रतिमान। प्रस्तुत इकाई का मूल ध्यान-केन्द्र उन कृषिक आन्दोलनों पर रहेगा जो स्वातंत्र्योत्तर काल में हुए। तथापि, छात्रों को इन आन्दोलनों की पृष्ठभूमि से अवगत कराने के लिए पाठांश 13.4 में, स्वतंत्रतापूर्व काल में ऐसे आन्दोलनों के अनिवार्य अभिलक्षणों पर भी चर्चा है।

13.2 कृषिक आन्दोलन और कृषिक वर्ग क्या हैं?

13.2.1 इनका अर्थ क्या है?

कृषिक आन्दोलनों में उन कृषिक वर्गों के आन्दोलन आते हैं जो भूमि से या भूमि में काम करने, भूमि

पर स्वामित्व रखने अथवा कृष्य भूमि पर काम करने व उसके स्वामित्व दोनों से संबंधित हों। दूसरे शब्दों में, ये कृषि-श्रमिकों, ग़रीब व छोटे किसान/काश्तकारों तथा कृषकों/कुलकों/धनी किसानों/ग्रामीण धनाढ्यों के आन्दोलन हैं। कृषक आन्दोलनों में उठाए गए मुद्दे प्राय: आर्थिक होते हैं। परन्तु कई मामलों में आर्थिक व और सामाजिक दोनों मुद्दे अधिव्याप्त होते हैं। ऐसे मामलों में वे आते हैं जहाँ कृषिक वर्ग आर्थिक और सामाजिक समूह दोनों होता है; उदाहरण के लिए दलितों और महिलाओं के मामले में आर्थिक और सामाजिक (आत्म-सम्मान, गरिमा एवं लिंग-आधारित भेदभाव) दोनों ही समूह शामिल हैं। चूँकि इकाई 7, 8 व 10 में क्रमश: आप दलितों, पिछड़े वर्गों और महिलाओं के आन्दोलनों के विषय में (सामाजिक मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए) पढ़ चुके हैं, यह इकाई मुख्य रूप से आर्थिक मुद्दों पर कृषिक वर्गों के लामबंद पर ध्यान केन्द्रित करती है। तथापि, जहाँ कहीं भी ज़रूरी हुआ ग़ैर-आर्थिक मुद्दों पर भी चर्चा की गई है।

13.2.2 कृषिक वर्गों का वर्गीकरण

कृषिक समाज कोई सजातीय इकाई नहीं है। यह आर्थिक और सामाजिक आधार पर विभाजित है। किसी कृषिक समूह की लामबंदी उससे जुड़े विशिष्ट मुद्दों पर निर्भर करती है। विभिन्न समूहों के बीच सहयोग अथवा उनमें संघर्ष इस समूह के हितों के एक ही ओर झुकाव पर निर्भर करता है। इसी कारण, विभिन्न कृषिक वर्गों के आन्दोलनों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उन मापदण्डों पर चर्चा की जाये जो किसी वर्ग-विशेष को निर्दिष्ट करते हैं। दो व्यापक प्राधार हैं जो विभिन्न कृषिक वर्गों में वर्गीकरण करने अथवा उन्हें पहचान प्रदान करते हेतु विद्वानों द्वारा व्यवहार में लाए जाते हैं, यथा ग़ैर-मार्क्सवादी और मार्क्सवादी। पूर्ववर्ती के पक्षधर कृषिक वर्गों के वर्गीकरण के लिए बहुविध कारकों को ध्यान में रखते हैं, जैसे जाति, भौगोलिक क्षेत्र तथा जोतों का आकार। ऐसे वर्ग जो निम्न जातियों से संबंध रखते हैं प्राय: कृषि-श्रमिक/ग़रीब व छोटे/उपान्तिक किसानों से संबंध रखने वालों के रूप में पहचाने जाते हैं और वे जो उच्च जातियों व मझली जातियों से ताल्लुक रखते हैं, उच्च वर्गों – धनी किसान/मध्यम किसान व ज़मींदारों से संबंध रखने वालों के रूप में पहचाने जाते हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुयायी ग़ैर-मार्क्सवादी दृष्टिकोण को अवैज्ञानिक मानते हैं और एक वैकल्पिक प्राधार देते हैं। उनका तर्क है कि कृषक वर्ग में भेद प्रकट करने के लिए एक वैज्ञानिक तरीका यह है कि पारिवारिक श्रम के अनुपात को उस बाहरी श्रम की तुलना में देखा जाए जो कि उस भू-स्वामित्व के साथ-साथ ज़मीन पर प्रयोग किया जाता है। यह मापदण्ड माओ से तुंग और वी. आई. लेनिन के लेखों पर आधारित है। उत्सा पटनायक ने अपनी पुस्तक *पैज़न्ट क्लास डिफ़रेन्शिएशन : ए स्टडी इन मैथड विद रैफ़रॅन्स टु हरियाणा* (ऑक्सफोर्ड, 1987) में माओ व लेनिन की कसौटी का संश्लेषण किया है। पटनायक मॉडल कुछ अन्य विद्वानों द्वारा भी प्रयोग किया गया है। इस प्राधार के अनुसार वे लोग जिनके पास अपनी ज़मीन नहीं है बल्कि दूसरों की बल्कि दूसरों की ज़मीन पर काम करते हैं अथवा उनकी अपनी छोटे आकार की जोत है और अपनी ज़मीन की अपेक्षा दूसरों की ज़मीन पर अधिक काम करते हैं, कृषिक-श्रमिकों और छोटे/गरीब/ उपान्तिक किसान वर्ग के सदस्य हैं; वे जिनके पास अपनी ज़मीन और अपने कृषि-संसाधन हैं, कृषि-श्रमिकों, ग़रीब व छोटे किसानों को रोज़गार देते हैं अथवा जिनके पास अपनी ज़मीन है और उस पर स्वयं काम नहीं करते (निरीक्षण को छोड़कर) बल्कि बाहरी श्रमिकों पर निर्भर करते हैं, ग्रामीण धनी

वर्ग (मझले किसान, धनी किसान व ज़मींदार) में रखे जाते हैं। उत्सा पटनायक मॉडल, तथापि, उन क्षेत्रों पर अधिक लागू होता है जहाँ पूँजीवाद देखा गया ब़निस्वत उन स्थानों के जहाँ उत्पादन का सामंती तरीका अभी तक प्रभावी है।

इस इकाई में हमने कृषिक समूहों को निम्नलिखित वर्गों में समूहीकृत किया है :

i) ग्रामीण ग़रीब वर्ग : कृषि-श्रमिक और छोटे/ ग़रीब/ उपान्तिक किसान – कृषि-श्रमिकों के पास अपनी ज़मीन नहीं होती बल्कि वेतन/ पगार पर दूसरों की ज़मीन पर काम करते हैं, या तो कृषि-श्रमिकों के रूप में या फिर काश्तकारों के रूप में। छोटे/ ग़रीब/ उपान्तिक किसानों के पास अपनी ज़मीन तो होती है परन्तु वह ज़मीन उनकी बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं होती। उनको दूसरों की ज़मीन पर भी काम करना पड़ता है; तथा

ii) ग्रामीण सम्पन्न वर्ग : कृषक/ कुलक/ धनी किसान – इन वर्गों के पास अपनी ज़मीन होती है और कृषि में ज़रूरी दूसरा साजो सामान भी। वे अपनी ज़मीन पर ही काम करते हैं अथवा कृषि-श्रमिकों को काम पर रखकर स्वयं निरीक्षण कार्य के सिवा कोई काम नहीं करते हैं।

जैसा कि आप पाठांश 15.5.2 में पढ़ेंगे गत बीसवीं शताब्दी के तीन दशकों में कृषिक वर्ग-समूह के आन्दोलन देखे गए, जिनमें बहुत से साझा अभिलक्षण थे। इन शब्दों के प्रयोग विषयक शंकाओं के होने के बावज़ूद इस श्रेणी को कुलकों, मझले किसानों अथवा खेतिहरों के रूप में संबोधित किया गया है।

13.3 कृषिक आन्दोलनों के अध्ययनार्थ दृष्टिकोण

पारंपरिक रूप से कृषिक आन्दोलनों के अध्ययनार्थ दो दृष्टिकोण देखे गए हैं – मार्क्सवादी और ग़ैर-मार्क्सवादी। पूर्ववर्ती इन आन्दोलनों का अध्ययन उत्पादन के सामाजिक एवं आर्थिक संबंधों को ध्यान में रखकर करता है, यथा ग़रीब कृषिक वर्ग शोषणकारी वर्गों द्वारा अपने शोषण के विरुद्ध किस प्रकार संघटित हो जाते हैं। ग़ैर-मार्क्सवादी दृष्टिकोण सांस्कृतिक एवं ग़ैर-आर्थिक कारकों पर अधिक ज़ोर देते हैं। 'अस्सी के दशकारंभ में मार्क्सवादी दृष्टिकोण में एक और बात जुड़ गई। ग्राम्सी के लेखों से प्रभावित हो इस दृष्टिकोण को 'सबाल्टर्न अभिगम' (subaltern approach) के रूप में प्रसिद्धी मिल गई। आधीन विचारशाखा का कृषिक आन्दोलनों के अध्ययन पर सबसे गहरा प्रभाव पड़ा। इसको आधीन अध्ययन श्रृंखला में रणजीत गुहा द्वारा प्रचलन में लाया गया। यह सबाल्टर्न दृष्टिकोण अथवा क्लासिक मार्क्सवाद का आलोचक है, जो अन्य कारकों के मुकाबले आर्थिक कारकों को प्रमुखता देता है। सबाल्टर्न दृष्टिकोण का तर्क है कि कृषि-वर्ग की अपनी चेतना, नेतृत्व व अन्य सांस्कृतिक कारण होते हैं जो वर्ग की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सबाल्टर्न स्कूल की सैद्धान्तिक मार्क्सवादियों द्वारा भी आलोचना की जाती है, यथा वह चेतना व संस्कृति को आर्थिक प्राधार से अलग रखती है और तदनुसार वास्तविकता की सही तस्वीर प्रस्तुत नहीं करती। राजेन्द्र सिंह अपनी पुस्तक *सोशल मूवमॅण्ट्स, ओल्ड एण्ड न्यू : पोस्ट-मॉडर्निस्ट क्रिटीक* में उत्तर-आधुनिक परिप्रेक्ष्य (post-modern perspective) में सामाजिक आन्दोलनों के हिस्सों के रूप में कृषिक आन्दोलनों पर द्वितीयक साहित्य का विश्लेषण करते हैं।

13.4 स्वतंत्रतापूर्व काल में कृषिक आन्दोलन

घनश्याम शाह अपनी पुस्तक *सोशल मूवमॅण्ट्स इन इण्डिया : ए रिव्यु ऑफ़ लिटरेचर* में भारत में सामाजिक आन्दोलनों की समीक्षा करते समय बताते हैं कि राजनीति-विज्ञान राजनीति और आन्दोलनों में जन-भागीदारी के प्रति विमुख रही है। इसी ढंग से साहित्य के वर्ग में किसानों को दब्बू प्रकृति वाले और आज्ञापरायण नागरिकों के रूप में श्रेणीबद्ध किया गया है, जो कि आन्दोलनों में भाग लेने में रुचि नहीं रखते। बैरिंग्टन मूर जूनियर इसी परिप्रेक्ष्य के प्रतिनिधि है। अनेक विद्वत्जन इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है, जिनमें प्रमुख हैं – कैथलीन गुफ़, ए.आर. देसाई, डी.एन. धनाग्रे और रणजीत गुहा। वस्तुत: कैथलीन गुफ़ ने 19वीं व 20वीं शताब्दियों के दौरान 77 विप्लवों की पहचान की।

स्वतंत्रतापूर्व काल में देश के लगभग सभी क्षेत्रों में कृषिक आन्दोलन देखे गए। किसान आन्दोलनों के नाम से मशहूर इन आन्दोलनों में सभी शोषित वर्ग शामिल थे – काश्तकार, कृषि-श्रमिक, कारीगर/शिल्पकार आदि। रणजीत गुहा वस्तुत: उन ज़मींदारों को भी शोषित वर्गों में गिनते हैं जिन पर साहूकारों का कर्ज़ था। इन आन्दोलनों में सबसे प्रमुख थे – उत्तर प्रदेश में अवध किसान आन्दोलन, गुजरात में खेड़ा आन्दोलन, मालाबार (केरल) में मोपिला आन्दोलन, बिहार में चम्पारण किसान आन्दोलन, बंगाल में वहाबी, फैराबी व तिभागा आन्दोलन और मद्रास महाप्रान्तों (वर्तमान आन्ध्र प्रदेश के क्षेत्र का निर्माण करने वाले) में तेलंगाना आन्दोलन।

जब इन आन्दोलनों के अभिलक्षणों की तुलना स्वातंत्र्योत्तर काल के आन्दोलनों के अभिलक्षणों की जाती है, जिनकी चर्चा इस इकाई के पाठांश 13.5 में की जाएगी, तो हम पाते हैं कि इन दोनों ही दौरों – पूर्व और उत्तर-स्वतंत्रता के कृषिक आन्दोलनों में मुद्दों, नेतृत्व की प्रवृत्ति, विचारधाराओं एवं संघटन-प्रतिमान में अनेक अंतर हैं। पूर्व स्वतंत्रता काल के आन्दोलनों में मुद्दों, नेतृत्व की प्रवृत्ति, विचारधाराओं एवं संघटन-प्रतिमान में अनेक अंतर हैं। स्वतंत्रतापूर्व काल के आन्दोलनों को उपनिवेश-विरोधी आन्दोलन भी कहा जाता है, क्योंकि ये आन्दोलन उन वर्गों के विरुद्ध थे जो ब्रिटिश साम्राज्य के हिमायती थे – ज़मींदार, साहूकार व अन्य शोषक वर्ग। इन आन्दोलनों में उठाए गए मुद्दे कृषिक संबंधों की प्रकृति से जुड़े थे। ये संबंध कृषिक वर्गों के शोषण पर बने थे – काश्तकार/किसान/कृषि-श्रमिक, कारीगर/शिल्पकार, आदि। औपनिवेशिक ताकतों की अपेक्षाओं को पूरा करने और अपनी सामन्ती आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ये ज़मींदार अनेक तरीकों से उनका शोषण करते थे। इन शोषणों में शामिल थे – लगान में अनुचित वृद्धि, बलात् उपहार (नज़राना), बेगार (बलात् श्रम), शारीरिक यंत्रणा, असुरक्षित धारणाधिकार (बेदख़ली)। ये समस्याएँ सूखों और बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाओं से तथा फसलों के व्यवसायीकरण, ऋणग्रस्तता से और बढ़ जाती थीं। ज़मींदारों की आर्थिक और ग़ैर-आर्थिक अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए ग़रीब कृषिक वर्गों को न सिर्फ़ उस ज़मीन से बेदख़ल कर दिया जाता था जिस पर वे खेती करते थे, बल्कि उन्हें यंत्रणा भी दी जाती थी।

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया, कृषिक वर्ग मूक कष्टभोगी नहीं रहे। उन्होंने शोषणकारी व्यवस्था का विभिन्न तरीकों से प्रतिरोध जताया। इनमें दोनों ही तरीके शामिल थे – एक वे जिन्हें जेम्स स्कॉट "आये दिन के विरोध'' (everyday forms of resistence) कहते हैं और दूसरे वे जो संगठित किसान आन्दोलनों के रूप में थे। स्वतंत्रतापूर्व काल हुए किसान आन्दोलनों के नेताओं ने किसानों की समस्याओं

को सामने रखा और उन्हें ज़मींदारों, साहूकारों व अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध सामूहिक कार्रवाइयों में संगठित किया। तमाम अध्ययनों से व्यापक तथ्य जो सामने आता है वो यह है कि इन आन्दोलनों के नेतागण ग़ैर-कृषक वर्गों के थे। कपिल कुमार अपनी पुस्तक *पैजण्ट्स इन रिवोल्ट : टैनन्ट्स, लैण्डलैस, कांग्रेस एण्ड द राज इन अवध* में इंगित करते हैं कि यद्यपि अवध के ये नेतागण ऐसे किसी कृषि-वर्ग से सम्बन्ध नहीं रखते थे, वे राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं के समांतर ही चलते थे। तदन्तर में इस आन्दोलन के राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ विलय हो जाने के बाद, कृषक आन्दोलन का नेतृत्व राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने ही सँभाल लिया। यही बात चम्पारण किसान आन्दोलन के विषय में देखी जाती है। धर्म, जाति, राष्ट्रवाद और मार्क्सवाद ने इस दौर में किसानों को विचारिक आधार प्रदान किया। धर्म और जाति अवध, मोपिला, वहाबी और फैरोबी बग़ावतों में किसानों के एकजुट हो खड़े होने के आधार बन गए। धर्म के प्रयोग ने विद्वानों के बीच एक बहस छेड़ दी; उनमें से एक समूह ऐसे संघटन को साम्प्रदायिक की श्रेणी में रखता था जबकि दूसरा, धर्म को किसानों की आर्थिक समस्याओं से जोड़ता था। भारतीय शोषणकारी वर्गों – ज़मींदारों व साहूकारों पर हमला और भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के झंडे तले तेलंगाना में सशस्त्र विद्रोह में किसानों का भाग लेना इस बात के उदाहरण हैं कि किसानों के संघटन हेतु उनके आन्दोलनों में राष्ट्रवाद और मार्क्सवाद की विचारधाराओं ने किस प्रकार योगदान दिया। इन आन्दोलनों ने विभिन्न रूप लिए – प्रदर्शन, ज़मींदारों व साहूकारों की सम्पत्ति नष्ट करना, ज़मींदारों को नाई व धोबी की सेवाएँ बंद किया जाना, आदि। अनेक अवसरों पर ये आन्दोलन ज़मींदारों के आदमियों और पुलिस के बीच हिंसक मुठभेड़ में परिणत हुए।

स्वतंत्रतापूर्व काल के किसान आन्दोलनों का प्रभाव भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यक्रमों पर भी पड़ा। कांग्रेस के भीतर कांग्रेस समाजवादी गुट जिसमें समाजवादियों की उत्तर पीढ़ी, साम्यवादी जन तथा भारत के भावी प्रधानमंत्री शामिल थे, वे कड़े भूमि-सुधारों की आवश्यकता का समर्थन किया। कृषिक वर्गों की व्यथा पर ध्यान देने और उनकी दशाएँ सुधारने हेतु सुझाव देने के लिए कांग्रेस ने एक समिति गठित की। इसने देश आज़ाद होने के बाद उसकी कृषिक नीतियों पर अपना प्रभाव छोड़ा। चूँकि भूमि-सुधार राज्य का विषय बन गए थे जो कि नेताओं की सहयोगशीलता और राजनीतिक इच्छा पर निर्भर था, भूमि-सुधार भारत के विभिन्न राज्यों की पहचान बन गए।

13.5 स्वातंत्र्योत्तर काल में कृषिक आन्दोलन

स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था में कुछ घटनाएँ कृषिक आन्दोलनों के उत्थान और पतन के दृष्टिकोण से ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। यही वो नीतिगत उपाय हैं जो 'पचास के दशक में राष्ट्रीय व प्रांतीय दोनों स्तरों पर राज्य द्वारा लागू किए गए ताकि कृषि-संबंधी परिवर्तन लाए जा सकें – भूमि-सुधारों के माध्यम से समुदाय विकास कार्यक्रम व कृषि विस्तार योजनाएँ; 'साठ के दशक में देश के चुनिंदा इलाकों में हरित क्रांति; और 'नब्बे के दशक से भूमण्डलीकरण के नवीनतम दौर से गुज़रते हुए विश्व बाज़ार हेतु कृषि क्षेत्र का खुलना। इस घटनाक्रम के परिणामस्वरूप नए-नए मुद्दे उठ खड़े हुए हैं, नए कृषिक वर्गों का उत्थान व तत्कालीन वर्गों का पतन हुआ है और नए प्रकार के संगठन और राजनीतिक संघटन संबंधी प्रतिमान सामने आये हैं। इस इकाई के प्रस्तुत पाठांश में स्वातंत्र्योत्तर काल में विभिन्न कृषिक वर्गों के आन्दोलनों पर ही चर्चा की गई है। ये वर्ग हैं : कृषि-श्रमिक, ग़रीब व छोटे किसान तथा खेतिहर/मझले किसान/कुलक/धनी किसान/ग्रामीण सम्पन्न वर्ग।

13.5.1 ग्रामीण गरीब वर्ग: कृषि-श्रमिक तथा छोटे/ग़रीब/उपान्तिक किसान

ग्रामीण गरीब वर्ग दरिद्र वर्गों का एक जमघट है – भूमिहीन कृषि-श्रमिक/काश्तकार तथा ग़रीब, छोटे अथवा उपान्तिक किसान जिनके पास अपनी अनार्थिक जोतें हैं और अपनी आयकी अनुपूर्ति कृषिक अथवा अनौपचारिक ग़ैर-कृषिक क्षेत्रों में वेतनभोगी श्रमिकों के रूप में काम करके करते हैं। उनमें से अधिकांश निम्न जातियों अथवा निम्न पिछड़े वर्गों एवं दलितों से सम्बन्ध रखते हैं। कुलकों/मध्यम/धनी किसानों से भिन्न उनके सामने दोहरी समस्याएँ हैं – सामाजिक भेदभाव और आर्थिक शोषण। इसी कारण, सम्पन्न कृषिक वर्गों का संघटन आर्थिक मुद्दे को लेकर है, ग्रामीण विपन्न वर्गों के संघटन ने सामाजिक व आर्थिक दोनों मुद्दों को सामने रखा है। कभी-कभी वे अनन्य रूप से सामाजिक एवं सांस्कृतिक मुद्दों पर संघटित होते हैं, तो कभी वे आर्थिक मुद्दों पर भी मुख्य रूप से संघटित होते हैं। दलित पहचान संबंधी अधिकार-माँग, खासकर दलितों के विभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक संगठनों के माध्यम से अम्बेडकरवाद के प्रभाव के चलते, धर्मान्तरण समेत विभिन्न तरीकों में अभिव्यक्ति तलाशना सामाजिक व सांस्कृतिक मुद्दे पर संघटन के ही उदाहरण हैं। हम इसके विषय में इकाई 7 में पढ़ चुके हैं, जिसमें भारत में दलित आन्दोलन विषयक चर्चा है। प्रस्तुत पाठांश स्वयं को आर्थिक मुद्दों पर ग्रामीण विपन्न वर्ग के संगठन तक ही सीमित रखता है। परन्तु चूँकि आर्थिक समस्याएँ उनकी सामाजिक प्रस्थिति के साथ ही अन्तर्ग्रथित होती हैं, उनके सामाजिक एवं आर्थिक मुद्दों को आदतन अलग नहीं किया जा सकता है।

कृषि-श्रमिकों तथा ग़रीब/ छोटे किसानों को पूरे स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत के विभिन्न राज्यों में विभिन्न प्रकार के संगठनों द्वारा सामूहिक कार्रवाई में संघटित किया गया है। परवर्ती में समाजवादी व साम्यवादी पार्टियाँ, गाँधीवादी, स्वैच्छिक संगठन/ ग़ैर-सरकारी संगठन, स्वतंत्र व्यक्तिजन व नक्सलवादी शामिल थे। इस पाठांश में उन कृषिक वर्गों के आन्दोलनों से संबंधित कुछ उदाहरण हैं जो ग्रामीण विपन्न वर्ग का निर्माण करते हैं।

स्वतंत्रता पश्चात् प्रथम दो दशकों में, उत्तर प्रदेश में एक ओर राज्य के पश्चिमी क्षेत्र में समाजवादियों और साम्यवादियों द्वारा चलाए गए ग्रामीण विपन्न वर्ग के आन्दोलन देखे गए तो दूसरी ओर देश के पूर्वी क्षेत्र में नक्सलवादियों और भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा चलाए गए आन्दोलन। वे मुद्दे जिन पर वे पश्चिमी उत्तर प्रदेश में संगठित हुए, में शामिल थे – ग्राम समाज की ज़मीन का पुनर्वितरण, बेगार उन्मूलन, बेहतर वेतन दिए जाना, सम्पन्न वर्ग के खेतों से चारे आदि के लिए आवश्यक घास काटने के रूप में विपन्न वर्गों पर थोपे गए प्रतिबंध उठाना, सम्पन्न वर्गों के आदमियों के शोषण से विपन्न वर्गों की महिलाओं की रक्षा। विरोध-प्रदर्शन के रूपों में शामिल थे – भूख-हड़तालें और प्रदर्शन। 'साठ के दशक में भी भारतीय रिपब्लिकन पार्टी द्वारा दलितों की संघटन प्रक्रिया देखी गई, जिसने तदन्तर काल की बसपा से भिन्न, आर्थिक समस्याओं से जुड़े सांस्कृतिक मुद्दे उठाये। इनके अलावा कृषि-श्रमिकों और ग़रीब/ छोटे किसानों के विरोध-प्रदर्शन के असंख्य उदाहरण अनौपचारिक समूह संगठनों अथवा "आये दिन के विरोध प्रदर्शन'' (everyday forms of resistence) के रूप में पाये जाते हैं (जगपाल सिंह कृत *कैपिटलिज्म एण्ड डिपैण्डॅन्स*, अध्याय "डिपैण्डॅन्स, रिज़िस्टन्स एण्ड सैंक्शन्स'')। उत्तर प्रदेश के बस्ती ज़िले में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (भाकपा – CPI) ने 'साठ के दशक में "भूमि हथियाओ'' (Land Grab) आन्दोलन चलाया ताकि फालतू ज़मीन ग़रीब वर्गों को दी जा सके। तथापि, पारंपरिक वामपंथी और समाजवादी जन देश के अनेक भागों में दलितों को संघटित करने में असफल हुए, जैसे

बिहार, आंध्र प्रदेश, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ और उड़ीसा। ऐसा दलित समस्या के प्रति उनके उपेक्षाभाव की वजह से था; यद्यपि समाजवादियों ने जाति से अपना सरोकार दर्शाया, उनका ध्यानाकर्षण केन्द्र पिछड़ी जाति वर्ग ही रहा, न कि दलित वर्ग। परंपरावादी वामपंथ की यह कमी आंध्र प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में नक्सलवादियों द्वारा दुरुस्त की गई। जातियों की अक्षमताओं के साथ आर्थिक मुद्दों को जोड़ सकने वाली उनकी क्षमता ने उन्हें इस योग्य बनाया कि वे निम्न जाति के कृषि-श्रमिकों व ग़रीब किसानों को संघटित कर सकें। भूमि-सुधारों को लागू करवाने और जातीय भेदभाव को मिटाने संबंधी उनके संकल्प ने उन्हें इन वर्गों के बीच प्रसिद्ध कर दिया। वे "वर्ग शत्रुओं" को मिटा डालने के लिए हिंसा से भी गुरेज़ नहीं करते, जिनमें आते हैं – पुलिसकर्मी, ज़मींदार और कुछ राजनेतागण। अभी हाल तक सभी नक्सलवादी संगठन चुनावों में भाग नहीं लिया करते थे; अब उनमें से कुछ भाग लेने आये हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण नक्सल गुटों में हैं – आन्ध्र प्रदेश में 'जनशक्ति' और पीपॅल्स वॉर ग्रुप (PWG) और बिहार में बिहार प्रदेश किसान सभा (BPKS) और मार्क्सवादी समन्वयन समिति (MCC)।

हाल के दशकों में उन ग़रीब किसानों का आन्दोलन देखा गया है जो राज्य द्वारा क्रियान्वित विकास कार्यों के नकारात्मक असर द्वारा प्रभावित रहे हैं, खासकर वे विकास कार्य जिनके लिए पैसा विश्व बैंक द्वारा दिया गया है। गाँधीवादी विरोध-प्रदर्शन का सहारा लेकर ये आन्दोलन आन्दोलनों के वैकल्पिक तरीके के रूप में उभरे हैं। सम्बद्ध व्यक्तिजन, नागरिक समाज संगठन, स्वैच्छिक संगठन और ग़ैर-सरकारी संगठन ऐसे आन्दोलनों में महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभा रहे हैं। मेधा पाटकर के नेतृत्व वाला नर्मदा बचाओ आन्दोलन ऐसे ही आन्दोलनों के उदाहरणों में सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

13.5.2 ग्रामीण सम्पन्न वर्ग: कृषक/मझले किसान/कुलक/धनी किसान

गत शताब्दी के दो दशक – 'सत्तर और 'अस्सी के दशकों में एक वर्ग विशेष के आन्दोलन देखे गए, जिसको विभिन्न नामों से जाना जाता है – खेतिहर, मझले किसान, कुलक, धनी किसान अथवा ग्रामीण सम्पन्न वर्ग। इन आन्दोलनों के अपने ही संगठन और नेतागण थे। ये आन्दोलन थे : एक ही नाम के दो भिन्न संगठन – एक पंजाब में भूपेन्द्र सिंह मान के नेतृत्व वाला और दूसरा उत्तर प्रदेश में महेन्द्र सिंह टिकैत वाला – भारतीय किसान यूनियन (भा.कि.यू.); महाराष्ट्र में शरद जोशी के नेतृत्व वाला शेतकारी संगठन; कर्नाटक में प्रो० नंडुजास्वामी के नेतृत्व वाला कर्नाटक राज्य रैयत संघ; गुजरात में खेद्युत समाज; तमिलनाडु में नारायणस्वामी नायडु के नेतृत्व वाला विवासायीगल संगम।

अभिलक्षण

इन आन्दोलनों के कुछ साझा अभिलक्षण थे : वे देश के सम्पन्न क्षेत्रों में उद्भूत हुए थे, जो हरित क्रांति से लाभान्वित हुए थे; वे ग्रामीण सम्पन्न वर्ग के आन्दोलन थे जिनमें शामिल थे धनी किसान, ज़मींदार एवं स्वयं-कृषिकारी मध्यम किसान जहाँ मध्यम किसानों ही प्रधानता थी; ये समूह भूमि-सुधारों से लाभान्वित हुए थे जिनमें ज़मींदारी प्रथा का उन्मूलन भी शामिल था; सामाजिक रूप से मझली अथवा मध्यवर्ती जातियाँ (उत्तर प्रदेश में जाट, गुज्जर, यादव, मुस्लिम उच्च जातियाँ; महाराष्ट्र में मराठा; कर्नाटक में वोकलिग्रा व लिंगायत; गुजरात में पटेल) उनके सबसे बड़े हिस्से का निर्माण करती थीं; स्वतंत्रतापूर्व काल के किसान आन्दोलनों से भिन्न उनके मुद्दे और माँगें बाज़ार अर्थव्यवस्था से जुड़े हैं, जैसे कृषि-उत्पादों के लाभकारी मूल्य, परिदान प्राप्त निवेश, बिजली के बिल में कटौती, बिजली

उपलब्धता वे समय में वृद्धि; उनके ''अराजनैतिक'' अथवा ग़ैर-राजनीतिक अभिलक्षण; इस दलील पर कि भारत का शोषण 'इण्डिया' द्वारा किया जा रहा है, उन्होंने शहरी (इण्डिया) के विरुद्ध ग्रामीण (भारत) के हितों का प्रतिनिधित्व करने का दावा किया; उन्होंने ग्रामीण समाज में विभाजन को अनदेखा किया और अपने आपको समग्र ग्रामीण समाज के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत किया; उनका नेतृत्व एक नए प्रकार के नेताओं द्वारा किया जा रहा था, आदि।

इन आन्दोलनों में से तीन – महाराष्ट्र में शेतकारी संगठन, कर्नाटक में कर्नाटक राज्य रैयत संघ और उत्तर प्रदेश में भा.कि.यू. आन्दोलन पर विभिन्न कारणों से विशेष चर्चा की आवश्यकता है। शरद जोशी की ''भारत बनाम इण्डिया'' धारणा ही थी जिसने ग्रामीण-शहरी विभाजन पर अधिक प्रमुखता से ज़ोर दिया। इसके अलावा, जैसा कि हम इस इकाई में आगे देखेंगे, शरद जोशी ही एकमात्र नेता हैं जिन्होंने राज्य उदारीकरण नीति का समर्थन किया है, और जिसने वी. पी. सिंह के शासन काल में भारत सरकार के सलाहकार के रूप में भी काम किया है। कर्नाटक में दि कर्नाटक राज्य रैयत संघ को उसके नेता प्रो० नंडुजास्वामी की समाजवादी पृष्ठभूमि के कारण विशेष स्थान प्राप्त है। सर्वाधिक प्रभावशाली उत्तर प्रदेश में भा.कि.यू. के नेतृत्व की प्रकृति और किसानों को संघटित करने में खाप (जाति परिषद्) की पारम्परिक संस्था की भूमिका रही है।

कृषक आन्दोलनों के अभिलक्षणों एवं प्रकृति के संबंध में विद्वानों के बीच एक बहस छिड़ी है। गेल ओमवेट उनको इस बात के लिए नए सामाजिक आन्दोलनों की श्रेणियों में रखती हैं कि उन्होंने नई परिस्थितियों में नए मुद्दे उठाए हैं और उनका नेतृत्व नए प्रकार के नेताओं के हाथ में है। दूसरों की भाँति वह भी उन्हें अराजनैतिक/ ग़ैर-राजनीतिक और सजातीय आन्दोलनों की संज्ञा देती हैं, जो औपचारिक राजनीति से विमुखता रखते हैं और ग़रीबों के साथ-साथ मझले किसानों के हितों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। टॉम ब्रास अपनी पुस्तक *पैजण्ट्स, पॉपुलिज़्म एण्ड पोस्टमॉर्डनिज़्म : द रिटर्न ऑफ़ द एग्रैरियन मिथ* में कुछ अभिलक्षणों पर सवाल करते हैं जिनका श्रेय इन आन्दोलनों को ही दिया जाता है। उनके अनुसार ये आन्दोलन न तो नए हैं और न ही सजातीय। इन आन्दोलनों द्वारा उठाए गए मुद्दे, जैसे कृषि-उत्पादों का लाभकारी मूल्य, पहले भी उठाए गए थे। यह तर्क कि वे सजातीय हैं, मझले किसानों के आदर्श घर-बाड़ी वाली चयनोवादी श्रेणी की भाँति है। इन आन्दोलनों की ऐसी प्रकल्पना किसी कृषिक मिथक के चिरस्थायीकरण के समतुल्य ही है। इस प्रकार का दृष्टिकोण इस तथ्य को अनदेखा करता है कि कृषि-वर्ग अनेक बाह्य एवं आन्तरिक कारकों की वजह से विभेदीकरण प्रक्रिया से गुज़रता है। न तो ये आन्दोलन ''अराजनैतिक'' हैं और न ही ''ग़ैर-राजनीतिक'' हैं। इस प्रकार की श्रेणियों में रखना वर्ग की भूमिका की उपेक्षा करना और सांस्कृतिक अथवा ग़ैर-आर्थिक कारकों वाले मिथक को चिरस्थायी बनाना ही है। उत्तर प्रदेश के भा.कि.यू. आन्दोलन संबंधी जगपाल सिंह का उनकी पुस्तक *कैपिटलिज़्म एण्ड डिपैन्डॅन्स : एग्रैरियन पॉलिरिक्स इन वैस्टर्न उत्तर प्रदेश* में विश्लेषण दर्शाता है कि वह न केवल ग्रामीण सम्पन्न वर्ग की समस्याओं से जुड़ा था बल्कि आन्दोलन में शामिल होने के लिए वह ग़रीब तबके पर दबाव भी डालता था। इस प्रकार की दमनकारी प्रथा के खिलाफ़ दलितों ने एक प्रति-आन्दोलन शुरू कर दिया – भारतीय मज़दूर यूनियन (BMU), जिसने दो यूनियनों के समर्थकों के बीच हिंसक झड़पों और कुछ गाँवों में सशस्त्र बल तैनात किए जाने की ओर प्रवृत्त किया। पुन:, इनमें से कुछ आन्दोलन ऐसे अधिनियमों को रद्द किए जाने की माँग कर रहे थे जो जोतों पर सीमा-निर्धारण और कृषि-श्रमिकों हेतु न्यूनतम वेतनों से जुड़े थे। इसके अतिरिक्त, ये आन्दोलन अराजनैतिक नहीं रह सके। इन

आन्दोलनों के लगभग सभी नेताओं ने या तो अपनी राजनीतिक पार्टियों बना लीं, किसी भी अन्य पार्टी को समर्थन दे दिया अथवा विधायक बन गए। शरद जोशी तो वी.पी. सिंह सरकार के सलाहकार ही बन गए। दिपांकर गुप्ता अपनी पुस्तक *राइवलरि एण्ड ब्रदरहुड : पॉलिटिक्स इन द लाइफ़ ऑफ फार्मर्स इन नॉर्दर्न इण्डिया* में इस धारणा पर संदेह करते हैं कि प्रथाएँ स्वभावत: नागरिक संबंधी अथवा लोकतांत्रिक हैं। खापों (जाति परिषदों) की संस्था के विश्लेषण के साथ, जो कि उत्तर प्रदेश में खेतिहारों को संघटित करने के लिए भा.कि.यू. द्वारा प्रयोग की गई थी, वह दर्शाते हैं कि खप जैसी प्रथाएँ अलोकतांत्रिक भूमिकाएँ निभाती हैं। उनके मत में प्रथाएँ नागरिक समाज के अस्तित्व की सूचक नहीं हो सकतीं, जो कि एक रजनी कोठारी, डी.एल. सेठ व आशीष नन्दी जैसे कुछ विद्वानों के मत से भिन्न मत है।

कृषक आन्दोलनों की उत्पत्ति

चूँकि कृषक आन्दोलन ही हरित क्रांति-उपरांत आन्दोलन हैं और प्राय: हरित क्रांति क्षेत्र में ही हुए, उन्होंने व्यापार शर्तें कृषक क्षेत्र के विरुद्ध पायीं। कृषि में बढ़ती निवेश लागत को उत्पाद आय से पूरा नहीं किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त, जन-संस्थाओं के प्रति बढ़ती ऋणग्रस्तता के साथ-साथ बिजली प्रदान करने में व्यवस्था की अक्षमता ने, खासकर लागत एवं आधारिक संरचना संबंधी आवश्यकता को पूरा करने में, कृषकों की नई प्रकार की समस्याओं को जन्म दिया। ग्रामीण दरिद्र वर्ग के बड़े हिस्से में उच्चतर स्थिति पर रखे जाने के बावज़ूद इस तबके ने अपने आपको राज्य द्वारा उपेक्षित पाया। राजनेताओं द्वारा जनवादी वायदे और ग्रामीण वोट-बैंक पर इस वर्ग की पकड़ ने राजनीतिक वर्ग द्वारा छले जाने की अनुभूति में योगदान दिया। व्यवस्था से उनकी आशाएँ 'सत्तर के दशक में जनता पार्टी सरकार के समय से ही केन्द्र व राज्य में उनके बीच से बढ़ते विधायकों के हिस्से के साथ और बढ़ीं। यह तब हुआ जब लोगों ने आमतौर पर राजनीति में आस्था खो दी, जिसका उनके लिए अर्थ था – औपचारिक राजनीतिक संस्थाएँ – मुख्य रूप से नेतागण, राजनीतिक दल एवं चुनाव।

ऐसी परिस्थितियों में कृषकों ने संघटन के वैकल्पिक तरीके के प्रति सकारात्मक प्रतिक्रिया दर्शायी, जिसकी पहचान थी "अराजनैतिक" अथवा "ग़ैर-राजनीतिक" घोषणा-पत्र पर संघटन, और ग्रामीण क्षेत्रों को एक सजातीय इकाई के रूप में प्रस्तुत किया, जिसका शहरी निहित स्वार्थों द्वारा शोषण किया गया। नेतागण जो परंपरागत तरीके से सम्बद्ध नहीं थे, उन्होंने इन आन्दोलनों के नेतृत्व को आसान पाया। उत्तर प्रदेश में भा.कि.यू. आन्दोलन का उद्धाहरण इस संदर्भ में सटीक उदाहरण हो सकता है। इन आन्दोलनों में यही अन्तिम था; जबकि अन्य कृषक आन्दोलन 'सत्तर के दशक और 'अस्सी के दशकारम्भ में हुए, उत्तर प्रदेश का यह आन्दोलन – भा.कि.यू. आन्दोलन मुख्य रूप से 1988-89 में हुआ। यह एक ऐसा वक्त था जब 29 मई 1987 को चरण सिंह की मृत्यु और 1967 में राममनोहर लोहिया की मृत्यु-उपरांत उत्तर प्रदेश में कृषक आन्दोलन के पहले के विघटन से पैदा हुई कृषक-नेता संबंधी पूर्ण शून्यता व्याप्त थी।

यह रिक्तता चरण सिंह की पार्टी द्वारा उसकी नामावली में बारंबार परिवर्तनों के साथ भरी गई। पहले कांग्रेस में रहते, चरण सिंह आन्दोलनकारी राजनीति के विरुद्ध थे, यद्यपि उन्होंने पिछड़े वर्गों और मध्यम/धनी किसान वर्ग के बीच अपना राजनीतिक निर्वाचक वर्ग तैयार करने के लिए एक रणनीति सफलतापूर्वक ईज़ाद की। परन्तु उनकी पार्टी द्वारा राजनीतिक आन्दोलन में सामूहिक लामबंदी इतना

सुव्यवस्थित अथवा संगठित नहीं था जितनी कि समाजवादियों और साम्यवादियों की थी। ग़ैर-पार्टी राजनीतिक संगठन द्वारा व्यापक राजनीतिक संघटन टिकैत की भा.कि.यू. द्वारा था। पहली बार खाप (जाति परिषद्) की पारंपरिक संस्था कृषकों के संघटन में सक्रिय हुई थी। खाप (जाति परिषद्) के परंपरागत नेताओं, जिसका नेतृत्व जाटों के एक खप नेता, महेन्द्र सिंह टिकैत के पास था, में कई अन्य जातियों के खप नेता भी शामिल थे।

भा.कि.यू. से पहले के कृषक आन्दोलन

'अस्सी के दशक में भा.कि.यू. द्वारा लामबंदी से पूर्व, उत्तर प्रदेश के कृषक प्रायः वामपंथी ताकतों द्वारा लामबंद किए जाते थे जिनमें समाजवादी और साम्यवादी जन दोनों ही शामिल थे। परन्तु उनकी लामबंदी मुख्य रूप से 'पचास व 'साठ के दशकों में हुई। समाजवादियों और साम्यवादियों से परे, चरण सिंह ने भी इस काल में उत्तर प्रदेश के कृषकों को लामबंद करने का प्रयास किया। परन्तु उन्होंने उन्हें किसी सामूहिक कार्रवाई में लामबंद नहीं किया। वह, कार्यतः, आन्दोलनों के खिलाफ़ थे। उनका कृषकों को लामबंद करना मझले व पिछड़ी जाति के किसानों के बीच से अपने लिए एक चुनावी आधार गढ़ निकालने के रूप में था, जैसे उत्तर प्रदेश के जाट, यादव, कुर्मी, कोएरी, लोध, आदि। उन्होंने ऐसा कांग्रेस का सदस्य रहते हुए किया। उन्होंने इस उद्देश्य से एक दो-फलक नीति अख्तियार की : प्रथम, उन्होंने किसान मालिकों के हितों को सामने रखा; दूसरे, उन्होंने अपनी पहचान पिछड़ी जाति के किसान-वर्ग के साथ स्थापित की। मोटे तौर पर ये दोनों ही समूह पिछड़ी जातियों और किसानों से एक साथ संबंध रखते थे। इसने चरण सिंह के प्रयास के विषय में कांग्रेस के भीतर बेचैनी पैदा कर दी कि वह कांग्रेस की सदस्यता रखने के बावज़ूद अपने लिए एक अलग आधार तैयार कर रहे हैं। अवसर मिलने पर, जब 1967 में नौ राज्यों में कांग्रेस की हार हुई, चरण सिंह ने अपनी अलग पार्टी बनाने के लिए कांग्रेस छोड़ दी, यथा भारतीय क्रांति दल (BKD)। समाजवादियों और साम्यवादियों द्वारा संघटन के पतन के बाद, जैसा कि पहले भी कहा गया, कांग्रेस में उनके रहते समय को छोड़कर, चरण सिंह की पार्टी ने भी कृषकों को आन्दोलनकारी राजनीति में संघटित किया। परन्तु यह इतना सुव्यवस्थित और संगठित नहीं था जितना कि समाजवादियों और साम्यवादियों द्वारा किया गया संघटन। मझली जाति के किसानों के बीच अपना आधार मज़बूत करके चरण सिंह ने अपना ध्यान राज्य और राष्ट्र की राजनीति की ओर मोड़ दिया जिसने उन्हें 1980 में प्रधानमंत्री के पद तक पहुँचा दिया।

'पचास व 'साठ के दशक भर साम्यवादियों व समाजवादियों द्वारा संघटन का मुख्य मुद्दा गन्ने के मूल्य से जुड़ा रहा, यद्यपि अन्य मुद्दे भी प्रभावी थे। इसी कारण, उत्तर प्रदेश में किसान आन्दोलन मूल रूप से गन्ना उत्पादकों का आन्दोलन था (जगपाल सिंह, पृ. 87-92)। तदन्तर काल के कृषक आन्दोलनों द्वारा उठाए गए मुद्दों के साथ इस काल के मुद्दों की तुलना यह दर्शाती है कि वे लगभग एक से ही थे। तथापि, उनमें अन्तर था; समाजवादी व साम्यवादी लोगों ने उन्हें हरित क्रांति का असर महसूस होने से पूर्व ही उठा दिया था, जबकि भा.कि.यू. ने उन्हें हरित क्रांति का प्रभाव महसूस होने के बाद उठाया। 'तीस के दशक में उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों में चीनी मिलें खोले जाने से न केवल फसल उगाने के तरीकों के वाणिज्यीकरण को प्रोत्साहन मिला, बल्कि इससे नए मुद्दे भी उभरकर आये, जैसे गन्ना उत्पादकों की समस्याएँ। इन मुद्दों पर किसान संघटन स्वतंत्रतापूर्व काल में भी हुआ था, परन्तु यह 'पचास-'साठ के दशक में ही हुआ कि समाजवादियों और साम्यवादियों ने उन्हें सुव्यवस्थित ढंग से संघटित किया।

गन्ना उत्पादकों की समस्याएँ, जिनमें से कुछ आज भी व्याप्त हैं, निम्नलिखित थीं : गन्ना उत्पादक गन्ना चीनी मिलों को देते थे जिसका भुगतान बाद में होता था; चीनी मिलें गन्ने का दाम किसानों से गन्ना प्राप्त होने के समय नहीं बताती थीं; जहाँ गन्ना संभरण किया जाता था, मिलों से जुड़े दूरस्थ स्थान थे, "बीच" में बेहिसाब भ्रष्टाचार था। यह समस्या इस कारण से और जटिल हो गई कि गन्ने का मूल्य किसानों को समय पर नहीं मिलता था। एक तो यह पूरा भी नहीं दिया जाता था; दूसरे यह किश्तों में दिया जाता था। इसी कारण 'पचास-'साठ के दशकों के दौरान हुए किसान आन्दोलनों की मुख्य माँगों में शामिल था – गन्ना उत्पादकों को गन्ने का नियमित, समय पर और पूरा (किश्तों में नहीं) भुगतान किया जाना।

'पचास व 'साठ के दशक भर गन्ना उत्पादकों को दिसम्बर व मार्च माहों के दौरान समाजवादियों व साम्यवादियों द्वारा 'हिन्द किसान पंचायत' और 'किसान सभा' जैसे संगठनों के झण्डे तले लामबंद किया जाता रहा, कारण – ये माह गन्ने की फसल लेने का सर्वोत्तम समय होता था। उन्होंने रैलियों, मिल के दरवाजे पर धरनों, किसान सम्मेलनों आदि का सहारा लिया। स्थानीय नेताओं से परे, राष्ट्रीय व राज्य स्तर के नेताओं, जैसे आचार्य जे.बी. कृपलानी, ए.के. गोपालन, ई.एम.एस. नम्बूरपाद, जैड.ए. अहमद, गैंदा सिंह व दादा धर्माधिकारी ने उत्तर प्रदेश का भ्रमण किया ताकि गन्ना उत्पादकों को संघटित किया जा सके। प्रायः यह आन्दोलन गन्ना उत्पादकों व चीनी मिल मालिकों के "एजेण्टों" के बीच हाथापाई, और आन्दोलन के नेताओं की गिरफ्तारी व उन पर आरोप लगाए जाने में परिणत हुआ। 'साठ के दशकांत तक आते-आते इन आन्दोलनों के नेतागण या तो कांग्रेस में, या फिर चरणसिंह की पार्टी में शामिल हो गए अथवा निष्क्रिय हो गए और किसान आन्दोलन में एक और दौर का पटाक्षेप हो गया। जैसा कि हमने इस इकाई में देखा, आने वाले दशकों में किसान-संघटन कार्य चरण सिंह की पार्टी द्वारा और टिकैत के नेतृत्व वाली भा.कि.यू. द्वारा किया गया।

13.5.3 भूमण्डलीकरण और कृषक आन्दोलन

पहले के आन्दोलनों से भिन्न, उन्होंने जो भूमण्डलीकरण दौर में कृषकों के थे, भूमण्डलीकरण से जुड़े मुद्दों के प्रति सक्रियता दर्शायी। पश्चिमी देशों का प्रयास, विशेष रूप से देश की कृषिक अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप करने का, खासकर डंकल प्रस्ताव और गैट (GATT) ने कृषक आन्दोलन की ओर से विभिन्न प्रतिक्रियाओं की ओर प्रेरित किया। जबकि महाराष्ट्र से उभरे शेतकारी संगठन के नेता शरद जोशी ने भूमण्डलीकरण का समर्थन किया, दो नेताओं – कर्नाटक राज्य रैयत संघ के प्रो. नंडुंजास्वामी और उत्तर प्रदेश में भा.कि.यू. नेता महेन्द्र सिंह टिकैत ने इसका विरोध किया। शरद जोशी ने तर्क दिया कि विश्व प्रतिस्पर्धा के लिए भारतीय कृषि को खोल देने से भारतीय किसानों को लाभ पहुँचेगा। उनके संदर्श ने उन्हें वी.पी. सिंह के शासनकाल में भारत सरकार के एक सलाहकार नियुक्त किए जाने में मदद की। भूमण्डलीकरण के विरोधियों – प्रो० नंडुंजास्वामी और टिकैत को शिक्षा-क्षेत्र के सक्रियतावादियों, जैसे वंदना शिवा और बड़ी संख्या में समाजवादियों व गाँधीवादियों का समर्थन मिला। उनका तर्क था कि भूमण्डलीकरण भारतीय किसानों को यूरोपीय किसानों के साथ केवल असमान प्रतिस्पर्धा में ही ला खड़ा करेगा, बीजों के विषय में एकस्वाधिकार (Patent) नियमों को बदलने का प्रयास उन्हें बीजों को संरक्षण एवं प्रजनन संबंधी उनके परंपरागत अधिकार से वंचित करेगा। उन्होंने इन नियमों को बदलने के लिए सरकार के प्रयास का विरोध किया और यूरोपीय सरकार द्वारा अपने किसानों को परिदान दिए जाने की

प्रथा समाप्त किए जाने की माँग की। उन्होंने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का भी विरोध किया, जो भारत के प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग करती थीं, जैसे शीतल पेय बनाने के लिए पानी। वास्तव में, वंदना शिवा जैसे बुद्धिजीवियों का तर्क है कि हरित क्रांति में लोकप्रिय हुई आधुनिक प्रौद्योगिकी ने भूमि की उर्वरता को बढ़ाने की बजाय उसे नुकसान ही पहुँचाया है। भूमण्डलीकरण के विरोधकर्त्ता अपना विरोध दर्ज कराने के लिए रैलियाँ, प्रदर्शन व सेमिनार आदि आयोजित करते हैं। प्रो॰ नंडुंजास्वामी की मृत्यु के पश्चात् भूमण्डलीकरण के विरुद्ध कृषक विरोध-प्रदर्शन कमज़ोर पड़ गए हैं।

13.6 सार-संक्षेप

संक्षेप में, पूरे स्वतंत्रतापूर्व और स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत में कृषक वर्गों के आन्दोलन दिखाई पड़ते हैं। विभिन्न कृषक वर्ग अपने-अपने नेताओं व संगठनों के माध्यम से अपने-अपने मुद्दों को लेकर सामूहिक कार्रवाइयों में संघटित होते रहे हैं। हरितक्रांति-पूर्व काल में परंपरावादी मार्क्सवादियों (भाकपा और माकपा), समाजवादियों और नक्सवादियों ने देश के विभिन्न भागों में कृषक आन्दोलन छेड़े। इस काल में छाये रहे मुद्दों में शामिल थे – भूमि-सुधार, ग़रीब वर्गों के लिए वेतन/पगार, उत्पाद का मूल्य और कृषि में आधारिक संरचना को उपलब्ध कराना। अन्य राजनीतिक संगठनों से भिन्न, नक्सलवादी जन आर्थिक शोषण को सामाजिक न्याय से जोड़ पाने में सक्षम थे। उत्तर-हरितक्रांति काल में, देश में समृद्ध क्षेत्रों में कुलक अथवा धनी किसानों के आन्दोलनों का उद्‌गमन देखा गया, जिसने हरित क्रांति से लाभ उठाया था। कुछ विद्वत्जन उन्हें नव सामाजिक आन्दोलन कहते हैं। उनके अभिलक्षण थे : ग्रामीण-शहरी विभाजन पर आधारित उनकी "अराजनैतिक/ग़ैर-राजनीतिक" प्रकृति, जो संघटन के नए तरीके और नए प्रकार के नेतृत्व के साथ, कृषि में वाणिज्यिक अर्थव्यवस्था के मुद्दों से जुड़ी थी। तथापि, कुछ विद्वान इन आन्दोलनों का श्रेय उक्त अभिलक्षणों को दिए जाने से सहमत नहीं है। यहाँ तक कि भूमण्डलीकरण ने भी इन संगठनों के नेताओं की ओर से विवादास्पद प्रतिक्रियाओं को उकसाया। इस काल में नागरिक समाज संगठनों ओर बुद्धिजीवी सक्रियतावादियों के साथ-साथ ग्रामीण विभिन्न वर्ग के वैकल्पिक संगठन का उदय भी देखा गया।

13.7 अभ्यास प्रश्न

1) कृषिक समाज का वर्गीकरण किस प्रकार किया जाता है?
2) स्वतंत्रतापूर्व काल में किसान आन्दोलनों पर एक टिप्पणी लिखें।
3) ग्रामीण ग़रीब वर्ग के आन्दोलनों के अभिलक्षणों की तुलना सम्पन्न वर्ग के आन्दोलनों के अभिलक्षणों से करें।
4) स्वातंत्र्योत्तर काल में कृषक आन्दोलनों पर एक टिप्पणी लिखें।
5) भूमण्डलीकरण के प्रति कृषक आन्दोलनों ने किस प्रकार प्रतिक्रिया की? चर्चा करें।

इकाई 14 मज़दूर आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

14.1 प्रस्तावना

14.2 मज़दूर-वर्ग आन्दोलन क्या है?

14.3 पूँजीवादी उद्यमों का विकास

14.4 श्रमजीवी संघों के उदयपूर्व मज़दूर आन्दोलन

14.5 श्रमजीवी संघों का उद्‌भव और विकास

 14.5.1 श्रमजीवी संघों का जन्म

 14.5.2 ऐटक का गठन और तदंतर घटनाक्रम

 14.5.3 विभाजन और राजनीतिक संबंधन

14.6 स्वातंत्र्योत्तर काल में आन्दोलन का स्वरूप

14.7 सार-संक्षेप

14.8 अभ्यास प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

भारत में आधुनिक श्रमिक वर्ग का उदय उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। इस नई घटना के कारण थे – आधुनिक कारखाने, रेलपथ, गोदीबाड़े तथा सड़कों व भवनों से जुड़े निर्माण कार्य। अपेक्षाकृत आधुनिक श्रम-संगठन तथा श्रमिकों के लिए एक आपेक्षिक रूप से मुक्त बाज़ार के लिहाज से यह एक आधुनिक श्रमिक वर्ग था। इस नियम के कुछ महत्त्वपूर्ण अपवाद भी थे। बाग़ान मजदूर, जो पूँजीवादी नियोक्ताओं के लिए भी काम करते थे और ऐसी वस्तुएँ उत्पादित करते थे जो अन्तरराष्ट्रीय बाज़ारों में बेची जाती थीं, उन्हें प्रतिबद्ध शर्तों के तहत ही भर्ती किया जाता था और काम पर लगाया जाता था। वस्तुत: उपनिवेशित भारत में श्रमिक बाहुल्य के लिए भर्ती और कार्य-परिस्थितियाँ इतनी सहज नहीं थीं जितनी कि कुछ अन्य देशों में हुआ करती थीं जो पूँजीवादी रूप से अधिक विकसित थे। जैसे-जैसे वर्ष-दर-वर्ष यह श्रमिक आन्दोलन विकसित होता रहा, इस स्थिति ने उस पर अपना प्रभाव छोड़ा। अल्प-विकसित अर्थव्यवस्था के अलावा, औपनिवेशिक दशा ने अपना असर श्रमिक आन्दोलन पर भी दिखाया। इस इकाई में भारत में श्रमिक आन्दोलन पर एक सामाजिक आन्दोलन के रूप में चर्चा है।

14.2 मज़दूर-वर्ग आन्दोलन क्या है?

प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना उचित रहेगा कि मज़दूर आन्दोलन तथा श्रमिक संघ (ट्रेड यूनियन) यथार्थत: एक ही चीज नहीं हैं। वे इस अर्थ में भिन्न हैं कि मज़दूर आन्दोलन एक अधिक विस्तृत

दृश्यघटना है और कामगारों को लेकर चलने वाले सभी प्रकार के आन्दोलनों को अपने में समाविष्ट करता है। इसकी परिधि में आते हैं – मूक विरोध-प्रदर्शन, निष्क्रिय प्रतिरोध, वैयक्तिक विरोध तथा हड़तालें, और साथ ही कल्याणकारी गतिविधियों के अधिक संगठित रूप तथा आम हड़तालों के स्तर पर पहुँचते वृहत्तर विरोध-प्रदर्शन एवं हड़तालें। इसमें औद्योगिक व्यवस्था के प्रति श्रमिकों की विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ एवं प्रत्युत्तर शामिल होते हैं। ये प्रतिक्रियाएँ औद्योगिक व्यवस्था के भीतर कार्य एवं जीवन-दशाएँ सुधारने के लिए हो सकती हैं, किन्तु क्रांतिक रूप से स्वयं औद्योगिक व्यवस्था के विरुद्ध भी हो सकती हैं। तदनुसार श्रमिक आन्दोलन कामगारों के आये दिन के संघर्ष से लेकर आम हड़तालों तक हो सकते हैं जिनमें समग्र उद्योग अथवा अनेक उद्योग समाविष्ट हो सकते हैं। इसमें पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर कामगारों की गतिविधियाँ व आन्दोलन के साथ-साथ वे भी आते हैं जो इसका विरोध करते हैं।

श्रमिक-संघ (ट्रेड यूनियन) आन्दोलन, दूसरी ओर, औद्योगिक व्यवस्था को प्रदत्त रूप में ही स्वीकार करता है, परन्तु उसे अधिक परहितेच्छु, कर्मचारियों की आवश्यकताओं के प्रति अधिक उत्तरदायी बनाने का प्रयास करता है। वह औद्योगिक व्यवस्था के भीतर कर्मचारियों की कार्य एवं जीवन-दशाओं को सुधारने का प्रयास करता है। उच्चतर वेतनों, उपयुक्त कार्य-दशाओं, स्थिर आवास एवं युक्तियुक्त ऋण प्रणाली हेतु आन्दोलन करते समय श्रमिक संघों की अल्पावधि व दीर्घावधि कार्यवाही औद्योगिक कार्य के प्रति कर्मचारियों के अधिक प्रतिबद्ध बनाने संबंधी श्रमिक संघों की सैद्धान्तिक परिभाषा जो अब तक कारगार है, सिडनी एवं बीटराइस वैब द्वारा प्रतिपादित की गई है :

> "एक श्रमिक संघ (ट्रेड यूनियन), जैसा कि हम इसको समझते हैं, वेतनभोगियों की एक अनवरत संस्था है जिसका उद्‌देश्य है उनके रोज़गार की दशाएँ कायम रखना अथवा सुधारना।''

जबकि श्रमिक आन्दोलन में विभिन्न प्रकार के प्राधार – प्रकृति में पूर्व-औद्योगिक अथवा आधुनिक, आते हैं जो कर्मचारियों की विरोध-गतिविधियों को समन्वित करते हैं, श्रमिक संघ आमतौर पर पदानुक्रमित और कर्मचारी तंत्र-संबंधी होते हैं, जो सुपरिभाषित भूमिकाओं वाले नानाविध कार्यकर्त्ताओं पर भरोसा करते हैं। श्रमिक संघ कर्मचारियों की अनवरत सदस्यता और उनके नियमित योगदान के आधार पर काम करते हैं। यद्यपि श्रमिक संघ पदानुक्रमित होते हैं, ये पदानुक्रम निर्धारित नहीं हैं बल्कि समानता के लोकतांत्रिक सिद्धांतों की स्वीकृति और चुनावों पर आधारित हैं। सिद्धांततः, श्रमिक संघ पदानुक्रम में कोई भी व्यक्ति किसी भी पद पर आसीन हो सकता है, चाहे उसकी जाति, उसका मत, धर्म अथवा आर्थिक प्रस्थिति कुछ भी हो।

इस प्रकार, यह स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि श्रमिक वर्ग आन्दोलन कहीं अधिक बड़ी दृश्य घटना है जिसमें श्रमिक संघ भी शामिल होते हैं। तथापि, यह कहा जा सकता है कि श्रमिक संघ ही श्रमिक आन्दोलन की सर्वाधिक संगठित एवं आधुनिक अभिव्यक्ति हैं।

14.3 पूँजीवादी उद्यमों का विकास

श्रमिक वर्ग पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का एक अभिन्न अंग है। पूँजीवाद के अस्तित्व चिह्न औपनिवेशिक विसर्जन के अन्तर्गत 19वीं शताब्दी में भारत में दिखाई पड़ने लगे। यह एक विडम्बनापूर्ण स्थिति ही थी जहाँ उत्पादन-व्यवस्था पूँजीवादी थी जबकि श्रम बाज़ार पर रोक-टोक थी। बाग़ान और रेल-व्यवस्था

ही प्रारम्भिक उद्यम थे जिन्होंने भारतीय उप-महाद्वीप में औपनिवेशिक पूँजीवाद के युगागमन की घोषणा की। असम में चाय बाग़ान लगाने के लिए 1839 में एक ब्रिटिश कम्पनी – आसान टी कम्पनी की स्थापना की गई; 1840 तक दक्षिण भारत में कॉफ़ी बाग़ान भी शुरू हो गए। ऐसी कम्पनियाँ जो पूँजीवादी विचारधारा पर संगठित थीं। और अन्तरराष्ट्रीय बाज़ारों के लिए उत्पादन करती थीं, ने ही इन बाग़ानों को स्थापित किया। तथापि, श्रमिकों को भर्ती करने के लिए बल-छल का प्रयोग किया जाता था, जिन्हें फिर बधुआ बनाकर रखा जाता था। रेल-व्यवस्था के विस्तार ने, विशेषत: 1857 के विद्रोह के बाद, भारत में पूँजीवादी उद्यमों के विकास हेतु उपयुक्त दशाएँ प्रदान कीं। बंधुआ मज़दूरों का देशान्तरण तथा कच्चे माल व तैयार माल को देश के भीतर-बाहर लाना-ले जाना पहले से आसान हो गया। बंदरगाहयुक्त नगर – बम्बई, कलकत्ता व मद्रास पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के केन्द्र बन गए। बम्बई में सूत मिलें, कलकत्ता में पटसन मिलें, और मद्रास में अनेक मिलें 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही स्थापित हुईं। इसी प्रकार की घटनाएँ कुछ अन्य शहरों में भी हुईं, यथा अहमदाबाद, कानपुर, शोलापुर और नागपुर। इनके स्वामी अधिकांशत: भारतीय ही थे। 1854 में स्कॉटलैण्ड के एक उद्यमी ने कलकत्ता में पहली पटसन मिल लगाई। इसने भी अगले पचास वर्षों में तेजी से विस्तार किया। एक लम्बे समय तक सूत मिलों का स्वामित्व भारतीय उद्यमियों के पास ही रहा, जबकि पटसन मिलों का विदेशियों के पास। 1914 तक भारत में कुल 264 सूत मिलें थीं जिनमें 2,60,000 श्रमिक काम करते थे, 60 पटसन मिलें थीं जिनमें 2,00,000 श्रमिक काम करते थे, रेल-व्यवस्था 6,00,000 लोगों को रोज़गार देती थी, बाग़ान 7,00,000 श्रमिकों को और खदान 1,50,000 श्रमिकों को।

14.4 श्रमजीवी संघों के उदयपूर्व मज़दूर आन्दोलन

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् श्रमिक संघों के उद्गमन से पहले भी कम वेतन, लम्बे कार्य समय, कार्य की अमानवीय दशाएँ व अन्य कई मुद्दों को लेकर श्रमिक आन्दोलनों एवं विरोध-प्रदर्शन के विभिन्न रूप दिखाई पड़ते थे। वस्तुत:, श्रमिक संघों को अपनी माँगें मनवाने के लिए इन पूर्ववर्ती श्रमिक संघर्षों के परिणामस्वरूप ही जन्मा माना जा सकता है। श्रमिक संघ, तथापि, अपने उद्गमन के समय सर्वाधिक संगठित और श्रमिक संगठन का उन्नत रूप थे। इस पाठांश में हम श्रमिक संघों के उद्गमन पूर्व काल में श्रमिक आन्दोलनों से अवगत होंगे।

यद्यपि बाग़ानों और खदानों में काफ़ी बड़ी संख्या में श्रमिक काम करते थे जिनका बेहद शोषण होता था, उनकी दशाएँ आरम्भिक काल में अधिक ध्यान आकृष्ट नहीं कर पायीं क्योंकि वे शहरी क्षेत्रों से दूर होते थे, यथा शुरुआती समाज सुधारकों, पत्रकारों व जन सक्रियतावादियों की नज़र से काफी दूर। परन्तु, इस पार्थक्य के बावज़ूद बाग़ान मज़दूरों ने अपने आप बाग़ान मालिकों और प्रबंधकों द्वारा किए जाने वाले शोषण और दमन के विरुद्ध अपना विरोध दर्ज़ कराया। ऐसे प्रतिरोध संबंधी रिपोर्टें 1884 से लेकर अब तक उपलब्ध हैं। काम से वैयक्तिक एवं सामूहिक परिवर्जन और चाय बागानों का परित्याग श्रमिकों द्वारा किए जाने वाले निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीके थे। विरोध-प्रदर्शनों के अधिक सक्रिय रूप बाग़ान प्राधिकारियों द्वारा मारपीट के विरुद्ध वैयक्तिक एवं सामूहिक हिंसा में व्यक्त होते थे। ये सभी विरोध-प्रदर्शन औपनिवेशिक पुलिस बल की मदद से बाग़ान मालिकों के मुस्टंडों द्वारा सख्ती से दबा दिए जाते थे।

सूत व पटसन उद्योगों में और रेल-व्यवस्था में श्रमिक, दूसरी ओर, आम आदमी की नज़र में अधिक थे।

शुरुआती सामाजिक कार्यकर्त्ता एवं लोकोपकारी जन भी उनमें शामिल थे। इसने बेहतर संगठनात्मक कार्य के साथ-साथ बेहतर सम्वादन एवं जन-समर्थन भी सुलभ कराया। खुले प्रतिरोध की घटनाओं संबंधी लिखित विवरण बम्बई में 1870 के दशक से लेकर अब तक उपलब्ध हैं। 1884 में बम्बई सूत मिल के श्रमिकों ने एक बड़ी सभा आयोजित की और काम के कम घंटों के लिए सरकार को अपनी माँगें पेश कीं। मिलकर्मियों के बीच हड़तालों की भी खबरें मिलीं। 1890 के दशक तक ये हड़तालें इतनी बारंबार हो गयीं कि अधिकारी लोग कहने लगे कि मज़दूरों को 'हड़ताल की एक सनक' सवार है। इन हड़तालों और विरोध-प्रदर्शनों में उत्तरोत्तर अधिक से अधिक मज़दूर शामिल होने लगे। हड़तालों की बढ़ती अवधि और बड़ी संख्या में कर्मचारियों की शिरकत ने बम्बई मिलमालिक संघ को मज़बूर कर दिया कि देश में 1913 में एक 'श्रमिक आन्दोलन' के अस्तित्व की ओर कदम बढ़ाये। वेतन व अन्य मुद्दों को लेकर हड़तालों की बढ़ती प्रचण्डता और प्रायिकता ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि जहाँ एक व्यापक स्तर पर जुड़ना संभव था। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान बढ़ते मूल्यों, गिरते वास्तविक वेतनों, और खाद्य पदार्थों की कमी ने किसी बड़ी कार्रवाई हेतु स्थिति पैदा कर दी और यह 1919 में आम हड़ताल में भी परिणत हुई जिसमें बम्बई स्थित सभी सूत मिलें शामिल थीं। वेतनों और बोनस के मुद्दे को लेकर 1920 में एक और आम हड़ताल हुई। ये दोनों ही हड़तालें बम्बई मिलों में किसी भी श्रमिक संघ के अस्तित्व से पूर्व हुईं।

कलकत्ता, अहमदाबाद, कानपुर, मद्रास, नागपुर व सूरत जैसे अंन्य औद्योगिक केन्द्रों में स्थिति लगभग ऐसी ही थी। अपनी शिकायतों के प्रतिकार हेतु विरोध-प्रदर्शन करना और एकजुट होना ये श्रमिक धीरे-धीरे सीख रहे थे। इस एकजुटता का आकार अधिक संख्या में श्रमिकों को शामिल करता हुआ उत्तरोत्तर बढ़ता गया। युद्धकाल, जिसने उद्योगपतियों को खूब लाभ कमाने की छूट दे दी जबकि श्रमिकों के वास्तविक वेतनों में गिरावट आयी, ने श्रमिकों को उनकी दशाओं के प्रति अत्यधिक असंतुष्ट बना दिया और, इसी कारण, एक व्यापक एकता हेतु वातावरण तैयार कर दिया जो अनेक औद्योगिक केन्द्रों में वृहत्तर हड़तालों की ओर ले गया। हड़ताल की लहर अन्य स्थानों पर भी फैल गयी और ग़ैर-कारखाना संस्थाओं को भी अपने में समेट लिया, यथा रेल-व्यवस्था, बाग़ान, खदान, पत्तन व गोदीबाड़े, अभियांत्रिकी कार्यशालाएँ, तेल यंत्रादि-स्थापन, सरकारी टकसाल व मुद्रणालय, ट्राम-व्यवस्था, गैस व बिजली आपूर्ति उपक्रम और यहाँ तक कि नगर-निगम/ पालिका कर्मचारी भी।

इन कर्मचारियों से अनेक लोग और संगठन भी जुड़े हुए थे। बंगाल में, शशिपदा बनर्जी ने 1870 के दशकारंभ से ही श्रमिकों के बीच कल्याणकारी गतिविधियाँ शुरू कर दी थीं। उन्होंने श्रमिकों को शिक्षित करने और उनकी शिकायतों को मुखर का प्रयास किया। इस उद्देश्य से उन्होंने 1870 में 'वर्किंग मैन'स क्लब' की स्थापना की और 1874 में 'भारत श्रमजीवी' के नाम से बांग्ला भाषा में एक मासिक पत्र भी निकाला। 1878 में बंगाल में ब्रह्म समाज ने 'वर्किंग मैन'स मिशन' बनाया ताकि कर्मचारियों को नैतिक शिक्षा प्रदान की जा सके। उसने 1905 में 'वर्किंग मैन'स इन्स्टीट्यूशन' की भी स्थापना की। बम्बई में, एन.एम. लोखण्डे 1880 के दशक से ही सूत मिल कर्मियों के बीच कल्याणकारी एवं संगठनात्मक गतिविधियों में सक्रिय रूप से शामिल थे। 1890 में उन्होंने 'बॉम्बे मिलहैण्ड्स एसोशिएशन' की स्थापना की और 1898 में उन्होंने मराठी में 'दीनबंधु' नाम से एक पत्र भी निकालना शुरू कर दिया। उनके अलावा, एस.एस. बंगाली भी 1878 से श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए सक्रिय रूप से प्रचार करते रहे थे। बम्बई के कर्मचारियों के बीच अन्य महत्त्वपूर्ण संगठन थे – 1908 में बालगंगाधर तिलक द्वारा गठित

'बॉम्बे मिलहैण्ड्स डिफ़ैन्स एसोशिएशन', 1909 में गठित 'कामगार हितवर्धक सभा', और 1911 में स्थापित 'सोशल सर्विस लीग'। तथापि, ये मुख्य रूप से कल्याणकारी गतिविधियों में रुचि रखते थे और श्रमिकों के बीच कोई बड़ा संगठनात्मक आधार नहीं रखते थे। इस काल में कर्मचारियों के विरोध-प्रदर्शन मूल रूप से दलालों, सरदारों व ऐसे ही अन्य अनौपचारिक नेताओं अथवा स्वयं-श्रमिकों के बीच से ही मुखर और सक्रिय वर्गों द्वारा आयोजित किए जाते थे।

इस काल में कुछ ऐसे संगठन भी थे जो श्रमिक संघों के अनुसार थे। 1897 में गठित 'भारत-बर्मा रेल सेवक समामेलित संघ', कलकत्ता में 'प्रिंटर्स यूनियन', और बम्बई में 'पोस्ट यूनियन' इनमें ही आते हैं। परन्तु वे अपनी कार्यवाही में कोई निरन्तरता कायम नहीं रख सके और केवल एक अल्पावधि के लिए ही अस्तित्व में रहे।

14.5 श्रमजीवी संघों का उद्भव और विकास

भारतीय श्रमिक संघों ने उपनिवेशवाद और एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के विशिष्ट संदर्भ में ही विकास किया है। विकासशील अर्थव्यवस्था की समस्याएँ स्वातंत्र्योत्तर काल में अभी तक जारी हैं। शिक्षा के निम्न स्तरों, बेरोज़गारी व अल्परोज़गारी के ऊँचे स्तरों, और निम्न वेतनों के साथ भारत में श्रमिकों के सामने कई समस्याएँ हैं जो कि संघ वृद्धि में भी प्रकट होती है। इस पाठांश में हम भारतीय श्रमिक संघों व उनसे जुड़े विभिन्न अभिलक्षणों के उत्थान एवं वृद्धि पर चर्चा करेंगे।

14.5.1 श्रमजीवी संघों का जन्म

भारत में श्रमजीवी संघ प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उद्भूत हुए। जैसा कि हम पाठांश 14.4 में पहले ही पढ़ चुके हैं, प्रथम विश्वयुद्धोपरांत काल श्रमजीवी संघों के उद्गमन से भी पहले भारत में श्रमिक जन आन्दोलन में शामिल रहे थे। इसने उनकी चेतना को बढ़ाया। इसके अतिरिक्त, अनिवार्य उपभोक्ता वस्तुओं के बढ़ते दाम, श्रमिकों के वास्तविक वेतनों में गिरावट, भारतीय उद्योगों के विस्तार में परिणत होते औद्योगिक उत्पादों हेतु माँग में वृद्धि, असहयोग आन्दोलन हेतु गाँधीजी का आह्वान, रूसी क्रांति, आदि मुख्य कारक थे जिन्होंने भारत में युद्धोपरांत काल में श्रमजीवी संघों के उद्गमन की ओर प्रवृत्त किया।

अप्रैल 1918 में गठित 'मद्रास लेबर यूनियन' को आम तौर पर भारत में सर्वप्रथम श्रमजीवी संघ माना जाता है। एक राष्ट्रवादी नेता और एनी बेसेंट के एक सहयोगी – बी.पी. वाडिया ने इसके संगठन के लिए बड़ा काम किया। यह मुख्य रूप से एक ऐसा संगठन था जो मद्रास में 'कर्नाटिक एण्ड बकिंघम मिल्ज़' के कर्मचारियों पर आधारित था। परन्तु शुरुआती दौर में इस संघ में ट्राम वाले, रिक्शाचालक, आदि अन्य व्यवसाय के लोग भी शामिल हुए। भारत में पहली बार यहाँ नियमित सदस्यता देखी गयी और सदस्यों को मासिक शुल्क के रूप में एक आना देना होता था।

इसी दौरान, अहमदाबाद में श्रमिक आन्दोलन शुरू हो चुका था, जिसका उद्देश्य था श्रमिक संगठन के एक पूरी तरह से भिन्न प्रतिमान की ओर ले जाना। अहमदाबाद में कर्मचारी जन मूल्यों में वृद्धि के एवज में मुआवज़ा बतौर बोनस दिए जाने को लेकर आन्दोलन कर रहे थे। अनसुइयाबेन साराबाई, जो इस

आन्दोलन से जुड़ी थीं, गाँधीजी के सम्पर्क में आयीं और उनसे निवेदन किया कि अहमदाबाद आयें। गाँधी श्रमिकों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर खड़े हुए और माँग की कि कर्मचारियों को 35 प्रतिशत बोनस दिया जाए। मिलमालिकों द्वारा इन्कार किए जाने पर उन्होंने हड़ताल का आह्वान किया और दृढ़तापूर्वक कहा कि विवाचन या मध्यस्थता का सिद्धांत स्वीकार किया जाना चाहिए। ये मिलमालिकों को मनाने के लिए अनशन पर भी गए। अन्ततः, मिलमालिकों ने मध्यस्थता स्वीकार कर ली और समझौते के रूप में, मध्यस्थ ने वेतनों में 27.5 प्रतिशत वृद्धि की सिफ़ारिश की। इस संघर्ष के आधार पर और मध्यस्थता के सिद्धांत पर, 1920 में वहाँ 'टैक्सटाइल लेबर ऐसोशिएशन' जिसे 'मजूर महाजन' भी कहा जाता था, की स्थापना की गई। इस संघ ने गाँधी जी की विचारधारा पर काम किया और आने वाले सालों में वह बहुत मज़बूत बन गया।

श्रमिक संघ आन्दोलन ने अब गति पकड़ ली और अनेक केन्द्रों में कई और संघ बनाए गए। 1920 तक, एक अनुमान के अनुसार, 125 श्रमिक संघ थे जिनमें 2,50,000 सदस्य थे। किसी भी मानक से यह एक अच्छी प्रभावशाली वृद्धि थी। परन्तु यदि हम इन संघों के टिकाऊपन और गाढ़ेपन पर विचार करें तो हम पाते हैं कि इनमें से अधिकांश स्वभावतः बहुत अस्थायी थे और हड़ताल समितियों से कुछ ही बढ़कर थे। मूल रूप से वे हड़तालें करवाने के लिए ही गठित होते थे और हड़ताल समाप्त होते ही विसर्जित हो जाते थे। उनमें कोई नियमित सदस्यता नहीं होती थी, न ही सदस्यों से कोई नियमित शुल्क लिया जाता था। तथापि, श्रमिक संघों द्वारा दी गई प्रेरणा ऐसी थी कि जल्द ही श्रमिक वर्गों का एक राष्ट्रीय संगठन स्थापित हो गया।

14.5.2 ऐटक का गठन और तदंतर घटनाक्रम

1920 में सम्पूर्ण भारत में संघ निर्माण की ओर उक्त रुझानों के विकसन स्वरूप अखिल भारतीय श्रमजीवी संघ कांग्रेस (ऐटक – AITUC) का गठन हुआ। श्रम से जुड़े अनेक लोगों ने महसूस किया कि भारत भर में श्रमजीवी संघों की कार्यवाहियों को समन्वित करने के लिए श्रमिकों के एक केन्द्रीय संगठन की आवश्यकता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बालगंगाधर तिलक, एन.एम. जोशी, बी.पी. वाडिया, दीवान चमनलाल, लाला लाजपतराय, ज़ोसफ बापतिस्ता व अन्य कई गणमान्य व्यक्ति प्रयासरत थे। 1919 में अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO) के गठन ने इसमें उत्प्रेरक का काम किया। यह महसूस किया गया कि श्रमजीवी संघों का एक राष्ट्रीय संगठन होना चाहिए जिसके मनोनीत व्यक्ति अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन में भारतीय मज़दूरों का प्रतिनिधित्व करने के लिए चुने जा सकें।

लाला लाजपतराय ऐटक के सर्वप्रथम अध्यक्ष बने और ज़ोसफ बापतिस्ता इसके उपाध्यक्ष। मोतीलाल नेहरू और वल्लभभाई पटेल भी उसमें विद्यमान थे। ऐटक को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से भारी समर्थन मिला। लगभग 107 श्रमिक संघ ऐसे थे जो ऐटक से सम्बद्ध अथवा उसके हमदर्द थे। इनमें से 64 संघों के कुल, 1,40,854 सदस्य थे। एक उल्लखेनीय अभाव अहमदाबाद के गाँधीवादी श्रमजीवी संघ – टैक्स्टाइल लेबर यूनियन का था।

यह एक आशाजनक शुरुआत थी और 1929 में अपने विभाजन तक ऐटक अनवरत विकसित होता रहा। प्रथम विश्वयुद्धोपरांत देश भर में श्रमिकों द्वारा अनेक हड़तालें हुईं। जैसी कि उम्मीद थी, इन संघों में से अधिकांश औद्योगिक केन्द्रों में विद्यमान थे, यथा बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, अहमदाबाद और मद्रास।

मुख्य उद्योग जहाँ ये संघ गठित हुए, सूत व पटसन, वस्त्रोद्योग, रेल-व्यवस्था, जहाजरानी, लौह एवं इस्पात तथा डाक व तार थे।

राजनीति के लिहाज से, भारत में श्रमिक आन्दोलन के क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण दृश्यघटना थी -- साम्यवादियों का उद्‌गमन। मार्क्स और लेनिन के सिद्धांतों से व्युत्पन्न साम्यवादी विचारधारा कामगार वर्ग को मुख्य स्थान देती है। यह, इसीलिए, स्वाभाविक ही था कि साम्यवादी जन भारत में श्रमिक आन्दोलन के साथ गहरे जुड़ जायें।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (भाकपा – CPI) का जन्म देश से बाहर सोवियत संघ में अक्तूबर 1920 में हुआ। एम.एन. रॉय ही इसके पीछे प्रेरक शक्ति थे। भाकपा के गठन पश्चात् शीघ्र ही साम्यवादी जन श्रमिक आन्दोलनों में सक्रिय हो गए। बम्बई और कलकत्ता में श्रमिक संकेन्द्रण और पहले के श्रमिक संघर्षों के कारण इन शहरों ने विशेष ध्यान आकर्षित किया। साम्यवादियों ने अन्य कई उद्योगों के अलावा, बम्बई में सूत मिलों और कलकत्ता में पटसन मिलों में मज़दूरों को संगठित किया और युद्धमान संघर्षों की ओर प्रवृत्त किया। श्रमिकों के हित के लिए अपनी प्रतिबद्धता और संगठनात्मक कार्य हेतु अपने समर्पण भाव के कारण वे शीघ्र ही नए संघों को गठित करने में सफल रहे और पुराने संघों में उत्कर्ष प्राप्त किया। 1928-29 तक वे ऐटक में एक उपान्तिक बहुमत हासिल करने में सफल हुए। जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में नागपुर में हुए ऐटक के दसवें अधिवेशन में साम्यवादी जन 'रॉयल कमीशन ऑन लेबर' के बहिष्कार हेतु आह्वान करने, अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन से अलग होने और 'लीग अगेन्स्ट इम्पिरिअलिज़्म' के साथ जुड़ने की माँग करने संबंधी प्रस्तावों को पारित कराने में सक्षम थे। एन.एम. जोशी, दीवान चमनलाल, वी.वी. गिरि व बी. शिवा राव के नेतृत्व वाला नरमपंथी और सुधारवादी समूह इन हरकतों को हज़म नहीं कर पा रहा था। उन्होंने 30 संघों और 95,639 सदस्यों को लेकर ऐटक को छोड़ दिया और भारतीय श्रमजीवी महासंघ (इफ्टू – IFTU) बना लिया, जबकि ऐटक के पास केवल 21 श्रमिक संघ और 92, 797 सदस्य ही शेष रहे। इस अखिल भारतीय श्रमजीवी संगठन में यह प्राय एक उदग्र विभाजन था।

एक अन्य विभाजन 1931 में देखा गया, जो कि राष्ट्रवादी और साम्यवादी मतों के बीच विभेद की वजह से हुआ। साम्यवादियों ने गाँधी जी की कड़ी आलोचना की और गोलमेज सम्मेलन की निन्दा की जिसमें कांग्रेस भाग ले रही थी। वे इस आशय का एक प्रस्ताव पारित करना चाहते थे। इस काम के लिए बहुमत जुटा सकने में विफल रहने पर वे विरोध में उठकर बाहर चले गए और फिर श्रमजीवी संघों का एक और महासंघ बना लिया, जिसे रैड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (RTUC) कहा गया। इस प्रकार, 1931 तक श्रमजीवी संघों के तीन राष्ट्रीय महासंघ उभरकर आ गए -- ऐटक (AITUC)] इफ्टू (IFTU) और रटक (RTUC)।

अनेक श्रमजीवी संघ के नेताओं द्वारा यह महसूस किया गया कि उनके साधारण सैनिक गण में विभाजन उनके राजनीतिक एवं आर्थिक संघर्षों के लिए समस्या पैदा कर रहा है। इसी वजह से विभाजनों के तुरंत बाद एकता हेतु प्रयास किए गए। शुरुआत में रेलवे यूनियनें और कुछ असंबद्ध श्रमिक संघ इटू से जुड़े और 1993 में राष्ट्रीय श्रमजीवी महासंघ (नफ्टू – NFTU) बनाया। इसमें 47 श्रमिक संघ और 1,35,000 सदस्य थे। एक अन्य स्तर पर भी एकता की दिशा में कार्रवाई हुई। साम्यवादियों के नेतृत्व

वाली रैड ट्रेड यूनियन कांग्रेस और उग्रपंथी राष्ट्रवादियों के नेतृत्व वाली ऐटक करीब आते जा रहे थे। 1935 में वे एकीकृत हो गए और इस एकीकृत संगठन के लिए ऐटक नाम बरकरार रखा गया।

श्रमजीवी संघों के सामान्यजन के बीच एकता हेतु उत्कट इच्छा थी। ऐसा प्रबलित राष्ट्रवादी एवं साम्राज्य-विरोधी चेतना की वजह से था। साम्राज्य-विरोधी ताकतों के बीच एकता लाने के लिए ऐटक और नफ्टू दोनों कड़े प्रयास कर रहे थे। यह एकता 1940 में तब आयी जब नफ्टू का ऐटक में विलय हो गया और नफ्टू के एन.एम. जोशी उसके महासचिव बन गए।

14.5.3 विभाजन और राजनीतिक संबंधन

जैसे ही श्रमिक संघों में एकता कायम हुई, इन श्रमिक-संघ नेताओं की विविध रूप राजनीति के परिणामस्वरूप संगठन में विभाजन फिर उभर आए। यह दरार द्वितीय विश्वयुद्ध ने पैदा की। एम.एन. रॉय के नेतृत्व वाले कुछ श्रमिक-संघ नेताओं का मानना था कि फासीवादी देश मुख्य शत्रु हैं और लोकतांत्रिक देशों को उनके विरुद्ध समर्थन दिया जाना चाहिए। परन्तु शुरुआती दौर में राष्ट्रवादियों और साम्यवादियों समेत अधिकांश संघ नेताओं ने सिद्धांततः इस मत से सहमत होते हुए, तटस्थ रहने का फैसला किया क्योंकि ब्रिटेन जो भारत पर नियंत्रक रखे था, देश को स्वतंत्रता का वचन देने का इच्छुक नहीं था। यह राय ग्रुप जुलाई 1941 में ऐटक से अलग हो गया और ब्रिटिश भारत सरकार को उसके युद्ध प्रयासों में समर्थन करने का उसने फैसला कर लिया, जो कि हड़तालों को समर्थन न देकर और कर्मचारियों को उत्पादकता बढ़ाने के लिए राजी करने का प्रयास करके किया जाना था। इस ग्रुप ने इंडियन फेडरेशन ऑफ लेबर (IFL) बनाया और 182 श्रमिक संघों के संबंधन और दो लाख श्रमिकों से भी अधिक की सदस्यता होने का दावा किया। उसने सरकार के युद्ध प्रयासों को सक्रिय समर्थन देना जारी रखा और जबकि ऐटक ने तटस्थता की अवस्थिति बनाए रखी।

युद्धोपरांत काल में, जब एक राष्ट्रीय सरकार की परिसीमाएँ नज़र आने लगीं, श्रमजीवी संघों के बीच राजनीतिक शत्रुता और भी प्रखर हो गई। कांग्रेस ने ऐटक और उसके श्रमिक संघों पर प्रभाव डालने का प्रयास किया ताकि वे गाँधीवादी विचारधारा और कांग्रेस के समर्थन में काम करें। परन्तु तब तक साम्यवादी प्रभाव बहुत पक्का हो गया था। कांग्रेस ने, इसी कारण, तय किया कि वह अपना अलग श्रमिक-संघ संगठन बनायेगी। मई 1947 में भारतीय राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ कांग्रेस (इंटक – INTUC) की स्थापना इसी प्रयास का परिणाम थीं। 1948 में कांग्रेस समाजवादियों के प्रभाव वाले श्रमिक संघ ऐटक से बाहर हो गए और हिन्द मज़दूर पंचायत (HMP) बना ली। 1949 में, प्रसिद्ध श्रमिक-संघ नेता मृणाल कांति बोस के नियंत्रण में संयुक्त श्रमजीवी संघ कांग्रेस (यूटक – UTUC) नामक एक और संगठन बनाया गया। इसी वर्ष, हिन्द मज़दूर पंचायत (HMP) और इंडियन फेडरेशन ऑफ लेबर (IFL) ने मिलकर हिन्द मज़दूर सभा (HMS) बना ली। इस प्रकार, 1949 में चार मुख्य श्रमजीवी महासंघ देखने में आये – ऐटक (AITUC)] इंटक (INTUC), हिन्द मज़दूर सभा (HMS) और यूटक (UTUC)।

14.6 स्वातंत्र्योत्तर काल में आन्दोलन का स्वरूप

स्वातंत्र्योत्तर काल में, 1955 में एक संघटन भारतीय मज़दूर संघ (BMS) दिखाई दिया जो कि 1952

में गठित हुए जनसंघ से सम्बद्ध था। 1964 में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी में विभाजन उपरांत, 1970 में ऐटक में भी विभाजन हो गया जो कि भारतीय श्रमजीवी संघ केन्द्र (सीटू – CITU) के गठन की ओर ले गया। सीटू नव-गठित भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) अर्थात् माकपा (CPM) से संबद्ध रहा। इस प्रकार, हम पाते हैं कि श्रमजीवी संघ आन्दोलन जो 1920 में एक केन्द्रीय संगठन (ऐटक) के साथ शुरू हुआ, 1970 तक पाँच प्रमुख केन्द्रीय संगठनों में बँट चुका था।

इसी काल में, सरकार उद्योग और श्रमिक वर्ग के बीच संबंधों में अनन्य मध्यस्थ बन गयी। इस दौरान सरकार का मुख्य चिन्त्य विषय रहा – विकास लाना, औद्योगिक शान्ति, और श्रमिकों व प्रबंधकों के बीच विवाद पर उचित नियंत्रण। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सरकार ने औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 जैसे कानून बनाए, और 1949 में उसके द्वारा श्रम संबंध विधेयक (Labour Relations Bill) एवं श्रमिक संघ विधेयक (Trade Union Bills) लागू किए गए।

'साठ के दशकोत्तर में आर्थिक मंदी ने बम्बई में श्रमिकों के लिए आर्थिक संकट पैदा कर दिया। यह बढ़ती बेरोज़गारी और श्रमिकों पर वित्तीय बोझ में प्रकट हुआ। श्रमिक वर्ग की समस्याएँ हल करने में पारंपरिक श्रमजीवी संघों की अक्षमता नज़र आयी। इसने शिव सेना के जन्म और विकास के लिए परिपूर्ण आधार प्रदान किया। शिव सेना ने 'भारतीय कामगार सेना' नामक एक श्रमजीवी संघ की स्थापना की। यह पारंपरिक श्रमजीवी संघों के एक विकल्प के रूप में सामने आया। परन्तु भारतीय कामगार सेना ने श्रमिक वर्ग को नृजातीय आधार पर विभाजित कर दिया। उसने कहा श्रमिक वर्ग की समस्याएँ बड़ी संख्या में उन श्रमिकों के कारण पैदा हुई हैं जो देश के अन्य भागों से आये हैं, खासकर दक्षिण भारत से। शिव सेना का तर्क था कि यदि बाहरी व्यक्ति बम्बई छोड़ जाएँ तो वे श्रमिक जो महाराष्ट्र के मूल निवासी हैं, रोज़गार पा सकते हैं और बेहतर जीवन व्यतीत कर सकते हैं। आने वाले समय में शिव सेना ने अपनी तीखी आलोचना का रुख साम्यवादियों की ओर कर दिया। शिव सेना के आन्दोलन ने श्रमिक वर्ग को नृजातीय आधार पर बाँट दिया और उसे बम्बई में श्रमिक वर्ग की एकता का रूप दे दिया। एक बार यह दरार पड़ने के बाद वह आने वाले वक़्त में भी कायम रही। कुछ लोगों का कहना है कि शिव सेना ने श्रमिक वर्ग का विभाजन उद्योगपतियों के कहने से किया। तथापि, भारतीय कामगार सेना श्रमिकों को संतुष्ट नहीं कर पायी। उसने न केवल ग़ैर-महाराष्ट्रवासियों के बीच असुरक्षा की भावना पैदा कर दी अपितु उन्हें नृजातीय और साम्प्रदायिक आधार पर विभाजित भी कर दिया।

'सत्तर के दशक-मध्य तक देश के विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच संगठित पारंपरिक राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं के विरुद्ध के एक आम भावना थी, यथा राजनीतिक दलों और उनसे संबद्ध संगठनों, जैसे श्रमजीवी संघों, चुनाव, पेशेवर राजनेताओं के विरुद्ध। इसने राजनीति के ऐसे द्योतन के विरुद्ध मनोमालिन्य पैदा कर दिया। ऐसी राजनीति का कोई भी विकल्प अथवा कुछ "राजनैतिक" जो लोगों को उपलब्ध हो सके, ने उनका समर्थन एक उल्लेखनीय सीमा तक प्राप्त किया। 'सत्तर-'अस्सी के दशकों में इस प्रकार के विकल्प किसी भी पारंपरिक राजनीति पार्टी/ किसी भी पार्टी/ "अराजनैतिक" अथवा संगठनों से असंबद्ध, स्वतंत्र नेताओं के रूप में उभर आए। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण हैं : दत्ता सामन्त, ए.के. रॉय व शंकर गुहा नियोगी, इला भट्ट; कामकाजी महिला मंच (चेन्नई), स्वयं रोज़गारप्राप्त महिला मंच (गुजरात), प्रौद्योगिकी एवं विकास समिति (हिमाचल प्रदेश), अमा संगठना (उड़ीसा), केरल दिनेश बीड़ी (केरल) और कागद कच पत्र काश्तकारी पंचायत (महाराष्ट्र)। ये नेतागण और संगठन (इस

लिहाज से स्वतंत्र थे कि वे किसी भी पार्टी से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संबद्ध नहीं हैं) कम अधिक्रमिक और अधिकारीतंत्रीय हैं, परन्तु अधिकतर आमूलचूल परिवर्तनों में विश्वास नहीं करते हैं। ये संगठन अपने सदस्यों को अपनी दशा सुधारने में मदद करते हैं। तथापि, वे श्रमजीवी संघों के एवजी नहीं हैं। 'सत्तर और 'अस्सी के दशकों में हुई वस्त्रोद्योग और रेल-व्यवस्था में कर्मचारियों की हड़तालों को स्वातंत्र्योत्तर काल में श्रमिक-वर्ग आन्दोलन के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण घटनाएँ माना जाता है।

1982-83 में बम्बई के वस्त्रोद्योग कर्मियों को हड़ताल के लिए तैयार कर लिया गया जिसे देश में जारी श्रमिक आन्दोलन में "कतिपय समकक्ष'' रखने वाला माना गया। परंपरागत नेतृत्व और श्रमजीवी आन्दोलनों से असंतुष्ट, बम्बई के इन वस्त्रोद्योगकर्मियों ने एक नए नेता और संगठन के आह्वान का प्रत्युत्तर दिया। महाराष्ट्र गिरनी कामगार यूनियन (MGKU) के अध्यक्ष, दत्ता सामन्त बम्बई के वस्त्रोद्योगकर्मियों के एक बड़े हिस्से को संघटित करने में सक्षम थे। उनके संघटन का मुख्य केन्द्र था – आर्थिक मुद्दे। सलीम लाकड़ा लिखते हैं कि आर्थिक मुद्दों पर उनके ज़ोर दिए जाने ने उन्हें "अर्थवाद'' के दोषारोपण और वर्गाधारित राजनीतिक मुद्दों की उपेक्षा के प्रति मुखर बना दिया। दत्ता सामन्त ने अन्य श्रमजीवी संघों के नेताओं को खुली चुनौती दी, विशेष रूप से शिव सेना संबद्ध भारतीय कामगार सेना और इंटक (भारतीय राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ कांग्रेस) संबद्ध राष्ट्रीय मिल मज़दूर संघ (RMMS) को। यद्यपि यह हड़ताल अपने लक्ष्य हासिल नहीं कर सकी, उसने "श्रमिकों के बीच दत्ता सामन्त की छवि को कतई नुकसान नहीं पहुँचाया''।

1974 में कांग्रेस सम्बद्ध इंटक को छोड़कर, मुख्य श्रमजीवी संघों से जुड़े रेल कर्मचारियों ने एक राष्ट्रव्यापी हड़ताल का आयोजन किया। हड़ताल के दौरान रेल संचालन में रुकावट आयी। सरकार ने सख्त श्रमिक विरोधी रुख अपनाते हुए प्रत्युत्तर दिया और हड़ताल को भंग करने का प्रयास किया। सरकार के अड़ियल रवैये की सूरत में हड़ताल झेल पाने में अक्षम मज़दूर हड़ताल ज़ारी नहीं रख सके। दरअसल, जैसा कि ई.ए. रामास्वामी लिखते हैं सरकार ने प्रबंधन और हड़ताली मज़दूरों के बीच समझौतों में प्रायः प्रबंधन का ही साथ दिया है।

कुछ अपवादों के साथ ये अध्ययन आमतौर पर संगठित और औपचारिक क्षेत्रों के आन्दोलनों पर ही ध्यान केन्द्रित करते हैं। जबकि राजनीतिक दलों ने, खासकर उन्होंने जो वामपंथ से जुड़े हैं, कृषि-श्रमिकों को संगठित किया है, यदा-कदा कृषिक श्रमिकों ने अनेक मुद्दों पर श्रमजीवी संगठनों के नेतृत्व के बग़ैर ही आन्दोलन छेड़े हैं, यथा वेतनों, उन पर ग़ैर-आर्थिक अवपीड़न, कार्य-घण्टों में कमी किए जाने, आदि से जुड़े मुद्दे। उदाहरण के लिए, 'अस्सी के दशकारंभ में पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एक गाँव में निचली जातियों से सम्बद्ध कृषि मज़दूर हड़ताल पर चले गए। उन्होंने वेतन के साथ-साथ नाश्ते में उन्हें परोसी जाने वाली रोटियों की संख्या में भी बढ़ोत्तरी की माँग की; साथ ही गेहूँ की फसल कटाई के लिए पूलियों/गठ्ठों की संख्या बढ़ाने की माँग भी। इस आन्दोलन में हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही समुदायों से संबद्ध रखने वाले कृषि मज़दूरों ने एक उल्लेखनीय एकता दर्शायी। चार दिनों तक चली यह हड़ताल अप्रैल माह में फसल कटाई के खास मौसम में ही की गई। आन्दोलनकारी कृषि मज़दूरों पर जाट भूस्वामियों द्वारा थोपे गए दण्डात्मक आदेश उन्हें निरुत्साहित नहीं कर पाए। अन्ततोगत्वा हड़ताल सफलता में बदल गयी। कृषि-श्रमिकों द्वारा उन्हीं की पहल पर ऐसे विरोध-प्रदर्शनों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अनेक दृष्टांतों में विरोध-प्रदर्शन ने वो रूप भी लिया जिसे जेम्स स्कॉट "रोज़ाना के विरोध

तरीके'' कहते हैं। जॉन ब्रेमन ने अपनी पुस्तक *फुटलूज़ लेबर : वर्किंग इन दि इण्डिया'ज़ इन्फॉर्मल इकॉन्मी* मौसमी देशान्तरगामी श्रमिकों की सामूहिक कार्रवाइयों पर चर्चा की है, जो कि 1983 में गुजरात में बड़ोदरा के निकट ईंट की चिनाई करते हुए दृष्टिगत हुईं। स्थानीय सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की पहल पर वहाँ एक श्रमजीवी संघ की स्थापना की गई। तथापि, उनके आन्दोलन को सफलता नहीं मिली।

भारत में श्रमिक-वर्ग आन्दोलन अनेक कारणों से अवरुद्ध है। एच.आई. रुडोल्फ एवं एस.एच. रुडोल्फ का तर्क है कि संगठित श्रमिक वर्ग भारत में श्रमिक जनसंख्या का मात्र एक छोटा-सा हिस्सा है। इसी कारण, देश में कोई वर्ग राजनीति नहीं है। इसकी बजाय, भारतीय राजनीति एक केन्द्रवादी राजनीति है। इस प्रकार का कथन बड़ी सख्या में श्रमजीवी संघों और उनके द्वारा समय-समय पर श्रमिक वर्ग के संघटन की विद्यमानता को अनदेखा करता है। इस बात में कोई शक नहीं कि जाति, भाषा, धर्म, जनजाति, क्षेत्र, आदि पर आधारित एकात्म्य राजनीति का उदय, विशेष रूप से बीसवीं सदी के अन्तिम दो दशकों से, श्रमिक वर्ग को अपने मुद्दों को लेकर संगठित होने के समक्ष गंभीर चुनौतियाँ पेश कर रहा है। भूमण्डलीकरण की कार्यावली के हिस्से के रूप में राज्य की भूमिका में कमी के साथ-साथ बाज़ार को प्रोत्साहन दिए जाने ने श्रमिक वर्ग के मुद्दों को और पीछे धकेल दिया है।

14.7 सार-संक्षेप

भारत में आधुनिक श्रमिक-वर्ग आन्दोलन औपनिवेशिक सरकार द्वारा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था लागू किए जाने का परिणाम है। बाग़ान, रेल-व्यवस्था, सूत व जूट मिलें, कोयला खनन व अन्य कई उद्योगों का प्रकटन उपनिवेशित भारत में ही हुआ। प्रारम्भत: अधिकांश पूँजी ब्रिटिश थी जबकि कुछ उद्योग, जैसे सूत वस्त्रोद्योग तथा लौह-इस्पात, भारतीयों के स्वामित्व में ही थे। इन संस्थाओं को चलाने के लिए लाखों कर्मचारी भर्ती किए जाते थे। आरम्भिक दशकों में कार्य व आवास की निकृष्ट दशाओं ने विरोध-प्रदर्शनों को बढ़ावा दिया और अन्तत: कर्मचारियों को आन्दोलनों की ओर प्रेरित किया। श्रमजीवी संघ जो बाद में सामने आये, उन्होंने इन शुरुआती विरोध-प्रदर्शनों और आन्दोलनों को संगठित छवि प्रदान की। श्रमिक वर्ग के संगठित संघर्ष उनकी दशा की बेहतरी में फलित हुए। तथापि, इन संघों के साथ अनेक समस्याएँ रहीं, क्योंकि वे श्रमिकों के बहुमत को अपने दायरे में नहीं लेते थे, न ही ले सकते थे। इस प्रकार श्रमिक वर्ग के ऐसे कई अन्य संगठन उभरकर आये जो कि इन संघों का हिस्सा नहीं थे।

14.8 अभ्यास प्रश्न

1) ''मज़दूर आन्दोलन'' से क्या तात्पर्य है? स्वतंत्रतापूर्व काल में श्रमिक-वर्ग आन्दोलन की प्रकृति पर चर्चा करें।

2) भारत में श्रमजीवी संघों के उद्भव और विकास पर एक टिप्पणी लिखें।

3) स्वतंत्र्योत्तर काल में, भारत में श्रमिक-वर्ग आन्दोलन के मुख्य अभिलक्षणों पर चर्चा करें।

इकाई 15 मछुआरा आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

15.1 प्रस्तावना

15.2 सामाजिक-आर्थिक स्थिति

- 15.2.1 विषमताएँ
- 15.2.2 दूसरों पर निर्भरता
- 15.2.3 प्राकृतिक आपदा के शिकार
- 15.2.4 यंत्रीकरण, भूमण्डलीकरण एवं मछुआरे

15.3 मुद्दे, नेतृत्व और संगठन

15.4 मछुआरों की सामूहिक कार्रवाई: कुछ उदाहरण

- 15.4.1 केरल में मछुआरा आन्दोलन
- 15.4.2 चिलिका झील का मछुआरा आन्दोलन: झींगा संवर्धन-विरुद्ध (Anti-Prawn Culture) आन्दोलन

15.5 सार-संक्षेप

15.6 अभ्यास प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

अन्य सामाजिक समूहों के विपरीत, मछुआरों की सामूहिक कार्रवाई पर आमतौर पर शैक्षिक वार्तालापों में ध्यान नहीं दिया गया है। ऐसा शायद इसके कारण है कि स्वयं मछुआरों द्वारा ही ये सामूहिक कार्रवाइयाँ अन्य समूहों की कार्रवाइयों के मुकाबले गिनती में कम ही रही हैं। तथापि, उनकी समस्याएँ राजनीतिक दलों, नागरिक समाज संगठनों एवं चर्च नेताओं द्वारा उठायी गई हैं। परन्तु यह मुख्य रूप से उन मछुआरों के लिए राहत माँगने के अर्थ में ही रहा जो सुनामी (tsunami) जैसी प्राकृतिक आपदा के कारण पीड़ित हुए थे। तिस पर भी, मछुआरों की सामूहिक कार्रवाई संबंधी अनेक उदाहरण हैं जिन्हें मछुआरों के सामाजिक आन्दोलनों की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस इकाई में हम उनके सामाजिक आन्दोलनों पर ही चर्चा करेंगे। प्रस्तुत इकाई विशेष रूप से मछुआरों की सामाजिक-आर्थिक दशाओं, उनके मुद्दों/समस्याओं तथा सामूहिक कार्रवाइयों पर ध्यान केन्द्रित करेंगे और संदर्भ लेंगे दो उदाहरणों का, यथा केरल और उड़ीसा में मछुआरों के आन्दोलनों का।

15.2 सामाजिक-आर्थिक स्थिति

15.2.1 विषमताएँ

मछुआरे (लगभग 1.2 करोड़) भारत की जनसंख्या का बड़ा हिस्सा हैं। वे देश की अर्थव्यवस्था में वृहद

रूप से योगदान देते हैं, खासकर तटरेखाओं के सहारे बसे राज्य, यथा तमिलनाडु, केरल, आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, गोवा, अण्डमान निकोबार, पांडिचेरी, महाराष्ट्र, गुजरात, आदि में। सदियों से मत्स्य उद्योगों, यथा मछली पकड़ना, बेचना, प्रसंस्करण एवं विपणन, में लगे ये मछुआरे मछली का माँस उपलब्ध कराते हैं जो कि तटीय राज्यों में रहने वाले लोगों, और तटीय क्षेत्रों के अलावा भी अन्य राज्यों में रहने वाले मांसाहारी लोगों का मुख्य खाद्य पदार्थ है। वे समुद्रीय उत्पादों के निर्यात के माध्यम से भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़ते हैं। मछुआरे समांगी समूह नहीं हैं। वे एकाधिक धर्म अपनाते हैं, उनमें से बड़ी संख्या निम्न जातियों की है। तटीय क्षेत्रों के अलावा, मत्स्य क्षेत्रों, तालाबों व बड़े जलाशयों में वे पाये जाते हैं। बहुत हद तक मछुआरे समाज के अति कमज़ोर समूहों से संबंध रखते हैं। प्रो. जॉन कुरियन का कहना है कि तमिलनाडु के कुछ क्षेत्र जैसे नागापट्टिनम में मछुवारों के समुदाय ग़रीब नहीं है और वे अन्य सामाजिक समूहों की अपेक्षा अधिक समृद्ध हैं; गत शताब्दी के तीन दशकों में उनकी आर्थिक दशा में उल्लेखनीय सुधार आया है। परन्तु वे "संस्कृति, सामाजिक एवं राजनीतिक लिहाज से अपनों से/अपने स्थान से अलग ही बने हुए हैं''।

धार्मिक एवं जाति आधार पर अपने बीच विभाजन के अलावा, नौकाओं के स्वामित्व एवं श्रमिकों के रोज़गार के आधार पर इन लोगों में विभिन्न स्तर हैं। इन आधारों पर मछुआ जाति को तीन समूहों में बाँटा जा सकता है :

1) वे मछुआरे जिनके पास अपनी नौकाएँ हैं और अपने-अपने परिवारों के साथ काम करते हैं;

2) वे लोग जो इनके मालिक हैं और अन्य मछुआरों को रोज़गार देते हैं; इनमें शामिल हैं – सिनेमा कलाकार, राजनीतिज्ञ व अन्य धनी लोग।

3) वे लोग जिनके पास यह सब अपना नहीं है पर वे दूसरों के वाहनों पर काम करते हैं।

ऐसे मछुआरों की संख्या जिनके पास अपने साधन हैं, बहुत कम है। इसके अलावा, उनमें से अधिकांश के पास साधारण नौकाएँ हैं जो कि परम्परागत और घटिया किस्म की हैं। वे लोग जो दूसरों को काम पर रखते हैं उनके पास अपने जलपोत व बड़ी नावें, बेहतर किस्म की और आधुनिक नौकाएँ होती हैं।

मछुआरों की गतिविधियाँ मौसम की दशाओं पर निर्भर करती हैं, जो कि अधिकतर प्रतिकूल होती हैं। प्रतिकूल मौसम दशाओं की अवधि में ये मछुआरे बंदरगाह पर छुटपुट कामों में लग जाते हैं।

15.2.1 दूसरों पर निर्भरता

मछुआरे बहुत सारे लोगों पर निर्भर हैं। इन लोगों में बिचौलिए शामिल हैं जो व्यापारियों, साहूकारों, जलपोतों व बड़ी नौकाओं के ग़ैर-मछुआरा मालिकों के एजेन्टों के रूप में काम करते हैं। इन मछुआरों की मंडी तक सीधी पहुँच नहीं है। वे अपनी पकड़ी मछलियाँ बिचौलियों (या एजेन्टों) को बेचते हैं जो बदले में उन्हें व्यापारियों को बेचते हैं। ये बिचौलिए अपनी दलाली (कमीशन) लेते हैं और इन मछुआरों को अपने सौदे का उचित मूल्य नहीं मिल पाता है। उनकी आमदनी उनकी बुनियादी, ज़रूरतों को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं होती, जिसमें शामिल हैं – दैनिक ज़रूरतों की वस्तुएँ तथा नावों, बेड़ों, यांत्रिक नौकाओं, जालों, मोटरयुक्त बेड़ों, आदि की खरीद। इससे वे प्रतिकूल शर्तों-समझौतों पर बिचौलियों,

व्यापारियों व अपने नियोक्ताओं से उधार लेने पर मजबूर हो जाते हैं। इस प्रकार बिचौलिए, व्यापारीगण, ग़ैर-मछुआरे व अपेक्षाकृत धनी मछुआरे, बड़ी नौकाओं के स्वामी भी साहूकारों के रूप में काम करते हैं। आमतौर पर ये मछुआरे साहूकारों से अग्रिम ऋण ले लेते हैं। शर्तों में एक शर्त यह भी होती है कि पकड़ या सौदा व्यापारी-सह-साहूकारों को परवर्ती द्वारा तय किए गए मूल्यों पर ही बेचा जायेगा। साथ ही, ये व्यापारीगण नौकाओं से ही पकड़ी गई मछलियों को बलपूर्वक ले लेते हैं और माल बिक जाने पर ही मूल्य तय करते हैं। यद्यपि मछुआरों का पूरा परिवार ही मछली पकड़ने के व्यवसाय में लगा होता है, अमीर सौदागरों व व्यापारियों के हस्तक्षेप से महिलाएँ ही सर्वाधिक दुष्प्रभावित होती हैं।

15.2.3 प्राकृतिक आपदा के शिकार

सीमित प्राकृतिक वास एवं मत्स्य उद्योग हेतु समुद्र पर उनकी निर्भरता मछुआरों को भीषण जल-प्रवाह, भीषण आँधी तथा सुनामी जैसी प्राकृतिक आपदाओं के आगे निराश्रित बना देती है। ये प्राकृतिक विपदाएँ मछुआरों को ही सबसे अधिक प्रभावित करती हैं। वे अपने घरों, नावों और जीवन से हाथ धो बैठते हैं। वर्ष 1999 में उड़ीसा में आये महासमुद्री तूफान (Super Cyclone) ने वहाँ के मछुआरों को काफी प्रभावित किया था। 26 दिसम्बर, 2004 का सुनामी जिसने दक्षिण एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया के तटीय क्षेत्रों को प्रभावित किया, उसके इन भूभागों में रहने वाले लोगों व पर्यटकों पर विध्वंसकारी प्रभाव हुए। परन्तु एकमात्र समूह के रूप से मछुआरे ही थे जो सुनामी से प्रभावित हुए। इसने न केवल उनमें से अनेकों को मार डाला और उनकी नौकाओं व घरों को बर्बाद कर दिया, उसने सदियों पुरानी समुद्र में उनकी आस्था को भी भंग कर दिया। इसने मछुआरों के बीच समुद्र विषयक भय-मनोविकृतियों को जन्म दिया।

15.2.4 यंत्रीकरण, भूमण्डलीकरण एवं मछुआरे

परंपरागत रूप से मत्स्य उद्योग छोटी, मोटररहित नाव से किया जाता था और वह उथले समुद्र तक ही सीमित रहता था। मशीनीकरण 1953 में भारत-नार्वे परियोजना के साथ शुरू हुआ, जिसके द्वारा अंधाधुंध मछली पकड़ने की अनुमति दे दी गई; उद्देश्य था – मछली पकड़ में संख्यात्मक वृद्धि तथा झींगा मछली का उत्पादन बढ़ाना। जापान व अमेरिका जैसे उन्नत देशों से झींगा मछली हेतु बढ़ती माँग ने तल जलपोतों के प्रयोग से मछली पकड़ने के काम को तेज़ करने हेतु और प्रेरणा प्रदान की। इसने न सिर्फ मत्स्य भण्डार को क्रमश: घटते जाने की ओर प्रवृत्त किया, अपितु परंपरागत मछुआरे भी, जो मशीनीकृत मछुवाही उपकरणों को खरीदने में असमर्थ थे, जीविकोपार्जन की समस्याओं से जूझने लगे क्योंकि तटीय मछुवाही कटिबंध पर ताकतवर ग़ैर-मछुआरों ने कब्ज़ा जमा लिया था। सरकार ने भी रियायती ऋण योजनाओं के माध्यम से निजी उद्योगों को सक्रिय समर्थन दिया। इन नई योजनाओं के लाभग्राही थे – सुसंपन्न परंपरागत मछुआरे, जो ठेकेदार या नियोक्ता बन चुके थे, और संसाधन संपन्न ग़ैर-मछुआरे। एक पहले से ही नाजुक परिस्थितिकी कटिबंध में प्रौद्योगिकीय परिवर्तन का प्रभाव मत्स्य भण्डार में गिरावट और तदोपरांत परंपरागत मछुआरों की आय में कमी में परिणत हुआ।

भूमण्डलीकरण के परिप्रेक्ष्य में, 'नब्बे के दशक में मत्स्य क्षेत्रों पर प्रभुत्व जमाने के लिए ग़ैर-मछुआ वर्ग और अधिक प्रेरित हुए। जैसा कि हम उपखण्ड 15.4.2 में पढ़ेंगे, टाटा हाउस ने उड़ीसा स्थित चिलिका

झील में झींगा मछली की खेती शुरू करने का प्रयास किया था, जिसने न केवल मछुआ जाति को विस्थापित कर दिया, अपितु पर्यावरण-संबंधी खतरे भी पैदा कर दिए। पुनः, पी.वी. नरसिम्हा राव सरकार ने उदारीकरण नीति के एक भाग के रूप में मत्स्य उद्योगों में आधुनिक प्रौद्योगिकी की शुरुआत की।

15.3 मुद्दे, नेतृत्व और संगठन

मुद्दे

वे मुख्य मुद्दे जिन पर मछुआरों की सामूहिक कार्रवाइयाँ आयोजित की जाती हैं –

1) मत्स्य उद्योगों और उद्योग प्रबंधन में मछुआरों की भागीदारी; पकड़ी गई मछलियों की बिक्री एवं प्रसंस्करण;
2) जलपोतों को लाए जाने का विरोध;
3) संसाधन आबंटन तथा मत्स्य उद्योगों का प्रबंधन;
4) बेड़े, नौकाएँ, ऋण/अनुदान प्रदान किया जाना;
5) पुनर्वास (प्राकृतिक आपदा के मामले में);
6) एजेण्टों, व्यापारियों व साहुकारों द्वारा शोषण
7) अन्य : पड़ोसी देशों – श्रीलंका, बांग्लादेश व पाकिस्तान के बीच द्विपक्षीय संबंधों से उठने वाली समस्याएँ, जिनमें मछली पकड़ने के दौरान मछुआरों को पकड़ लिया जाना भी शामिल है (क्योंकि वे भारत व इन देशों के बीच समुद्री रेखा के सीमा-निर्धारण को पहचान नहीं पाते हैं)।

नेतृत्व

दक्षिण भारत में मछुआरा आन्दोलनों को नेतृत्व चर्च पादरियों, ननों, बुद्धिजीवी-शिक्षाप्राप्त सामाजिक कार्यकर्त्ताओं, छात्र-सामाजिक कार्यकर्त्ताओं, पेशेवर सामाजिक कार्यकर्त्ताओं, समुदाय संगठनकर्त्ताओं, सामाजिक व भौतिक वैज्ञानिकों आदि द्वारा प्रदान किया जाता है। उनमें से अनेक मछुआरों समुदायों से संबंध रखते हैं। वे सामाजिक-आर्थिक व पारिस्थितिकीय मुद्दों से जुड़े ग़ैर-सरकारी संगठनों के साथ मिलकर काम करते हैं। इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं : फ़ादर थॉमस कोचरी, फ़ादर पुत्थेनवीड़, फ़ादर पॉल अराक्कल, फ़ादर अलबर्ट फारिसाविला, फ़ादर पीटर डी'क्रूस आदि। इन्होंने केरल में अनेक अवसरों पर मछुआरों को संगठित किया है। प्रो. जॉन कुरियन इसलिए प्रसिद्ध हैं कि उन्होंने एक बुद्धिजीवी-शिक्षाप्राप्त सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूप में मछुआरों को नेतृत्व प्रदान किया। यह नेतृत्व दो स्तरों पर कार्य करता है – स्थानीय एवं राष्ट्रीय स्तर। क्षेत्रीय स्तर के कुछ नेतागण मछुआरों के राष्ट्रीय स्तर की पदस्थिति तक पहुँच गए हैं। उदाहरण के लिए, फ़ादर थॉमस कोचरी, एक मुक्तिवादी पादरी और 'अस्सी के दशक के मछुआरा आन्दोलन के सबसे कद्दावर नेता, ने त्रिवेन्द्रम ज़िले में अपनी राजनीतिक गतिविधियाँ आरम्भ कीं और 'नब्बे के दशक में अखिल भारतीय स्तर के नेता की स्थिति तक पहुँचे। आन्दोलन में शामिल रहते हुए कोचरी ने नेशनल फिशरमेन्स फोरम (एन.एफ.एफ.) की कमान संभाली। इससे पादरी

वर्ग व बिशपों की पूर्व पीढ़ी की आशा भंग हुई। उन्होंने कोट्टायम में 'केरल कैथॅलिक बिशप सम्मेलन' आयोजित किया। कोचरी "उग्र" नेतृत्व से जुड़े थे और उनके अखिल केरल स्वतंत्र मल्सिया थोझिलाली फ़ेडरेशन (AKSMTF) यानी 'ऑल केरल फिशरमेन्स फेडरेशन' में शामिल हो जाने के बाद 1983 में यह संगठन विखण्डित हो गया। इस संघ के दो दलों को नेतृत्व फ़ादर कोचरी तथा फ़ादर फारिसाविला ने अलग-अलग प्रदान किया। फ़ादर कोचरी के दल के द्वारा फ़ादर फारिसाविला के दल को कांग्रेस के प्रति "वफ़ादार" माना जाता था : उसका कहना था कि फ़ादर फ़ारिसाविला का दल कांग्रेस के अनुरोध पर ही बना, जो कि के. करुणाकरण के नेतृत्व वाले संयुक्त लोकतांत्रिक मोर्चे में भागीदार था। उक्त मछुआरा संघ में विभाजन का असर चर्च के मामलों पर भी पड़ा; फ़ादर कोचरी को तबादला कर उनके पैरिश से उन्हें केरल भेज दिया गया। पुरानी पीढ़ी ने फ़ादर कोचरी पर आरेप लगाया कि वह साम्यवादियों से मिले हुए हैं और उस "उदारवादी धर्मशास्त्र" (Liberation Theology) की तीखी आलोचना की जिससे वह जुड़े हुए थे।

बड़ी संख्या में मछुआ जाति के नेताओं पर "उदारवादी धर्मशास्त्र" (Liberation Theology) का प्रभाव था जिसने मार्क्सवाद और ईसाइयत के बीच गठजोड़ करने का प्रयास किया ताकि मानवजाति को जीवन की दुर्दशाओं से मुक्त कराया जा सके।

संगठन

भारत में ग्राम, राज्य व राष्ट्रीय स्तर पर मछुआरा संघ गठित किए जाने संबंधी अग्रिम प्रयास 'साठ व 'सत्तर के दशक में किए गए। सबसे पहला संघ केरल के क्वीलोन ज़िले में 1963 में बनाया गया। 'अस्सी के दशक तक अलेप्पी, कोचीन, त्रिवेन्द्रम व मालाबार ज़िलों में संघ बनाए जा चुके थे। केरल में रोमन कैथॅलिक चर्च और इन संगठनों के नेताओं के बीच एक सीधा संबंध था, परन्तु ये संगठन मछुआरों को एक आन्दोलन में लामबंद 'अस्सी व 'नब्बे के दशक में ही कर पाये। अन्य तटीय राज्यों में भी मछुआरा संघ थे, जैसे – तमिलनाडु, गुजरात, आन्ध्र प्रदेश व पश्चिम बंगाल। परन्तु केरल ही था जहाँ वे सर्वाधिक सक्रिय और सुस्पष्ट रहे।

केरल में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मछुआरा संघ था – केरल स्वतंत्र मल्सिया थोझिलाली फेडरेशन (KSMTF) अथवा 'केरला इंडिपेंडेण्ट फिशर वर्कर्स फेडरेशन। यह संघ इस बात में एक अराजनैतिक संगठन था कि वह किसी भी राजनीतिक दल से नहीं जुड़ा था। 1977 में अनेक ज़िला स्तरीय संघ इसमें मिल गए और केरल लथीन कैथोलिका मल्सिया थोझिलाली फेडरेशन (KLCFF) का जन्म हुआ। इसका राज्य स्तरीय नेतृत्व मुख्य रूप से एक पादरी नेतृत्व था, हालाँकि उसमें ग़ैर-पादरी नेतागण भी थे। मुस्लिम और हिन्दू मछुआरों से समर्थन पाने के लिए उसने अपना नाम अखिल-केरल स्वतंत्र मल्सिया थोझिलाली फेडरेशन (AKSMTF) अर्थात् 'ऑल केरला स्वतंत्र मल्सिया थोझिलाली फेडरेशन।

1978 में गोवा, तमिलनाडु, केरल व अन्य राज्यों के मछुआरा संघों ने एक महासंघ बनाया, जिसको नेशनल फिशरमेंस फॉरमं (NFF) कहा जाने लगा।

15.4 मछुआरों के सामूहिक कार्रवाई: कुछ उदाहरण

’साठ के दशक से ही कुछ मुद्दों पर देश के तटीय राज्यों में विभिन्न रूपों और श्रेणियों में मछुआरों के आन्दोलन होते रहे हैं, जिन पर इस इकाई के पाठांश 15.3 में चर्चा की गई है। परन्तु ’अस्सी के दशकोपरांत ही मछुआरा आन्दोलन कोई ठोस आकार ले सका। प्रो. कुरियन बताते हैं कि ये मछुआरा संगठन मध्यमवर्गियों, व्यापारियों व साहूकारों द्वारा अपना शोषण से संबंधित न होकर संसाधनों के आबंटन एवं मत्स्य क्षेत्रों के प्रबंधन विषय अधिक थे। वे आगे बताते हैं कि ये सरकार द्वारा मछुआरों के बीच विकास कार्य “परियोजना-उन्मुखी है, न कि जनता- अथवा समुदाय-उन्मुखी”। इस पाठांश में हम दो उदाहरणों, यथा केरल तथा उड़ीसा में उनकी सामूहिक कार्रवाई की मदद से मछुआरों की सामूहिक कार्रवाई अथवा सामाजिक आन्दोलनों के विषय में पढ़ेंगे।

15.4.1 केरल में मछुआरा आन्दोलन

केरल में मछुआरों का प्रथम वृहद् संघटित आन्दोलन जलपोतों को लाये जाने के विरुद्ध विरोध-प्रदर्शन के रूप में था, जो ’सत्तर के दशकोत्तर में हुआ। यह उन परिवर्तनों का अनुवर्ती था जो ’साठ के दशकारंभ में मत्स्य-उद्योग अर्थव्यवस्था में “ग़ैर-मछुआरा” निवेशकों के हस्तक्षेप के परिणाम थे। झींगा मछली, जिसका केरल सबसे बड़ा उत्पादक है, परंपरागत रूप से केरल में ही उपभोग कर लिए जाने की बजाय, दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में अधिक उपभोग की जाती है। झींगा मछली की माँग ’साठ के दशकारंभ में अंतरराष्ट्रीय बाज़ार, खासकर अमेरिका, में बढ़ी। इस प्रसंग में नार्वे सरकार द्वारा सहायताप्राप्त एक मत्स्य-उद्योग सहायता परियोजना ने अतिशीलन प्रौद्योगिकी (freezing technology) और एक छोटी किस्म के जलपोतों (ट्रॉलर्स) को लोकप्रिय बनाया। इसने मत्स्य उद्योग में ग़ैर-मछुआरा व्यापारियों के प्रवेश को प्रोत्साहन दिया, जिनका मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना ही था। यह भी अतिशीलन प्रौद्योगिकी (freezing technology) तथा जलपोतों (ट्रॉलर्स) की संख्या तेजी से बढ़ी। इन ग़ैर-मछुआरा निवेशकों ने मत्स्य क्षेत्र को गहरे से उथले जल की ओर फैला लिया। उथले जल में उनके प्रवेश से मछुआरों और लाभग्राही निवेशकों के बीच सीधी होड़ पैदा हो गई। उथले जल में मछली पकड़ने से अपने विलुप्त होते जाने और गहरे जल में मछली पकड़ने में असमर्थ रहने की सूरत में मछुआरों ने विरोध जताया। ’सत्तर के दशक में केरल के मछुआरों के स्थानीकृत उपद्रवों/विरोध-प्रदर्शनों की अनेक घटनाएँ देखने में आयीं। ’सत्तर के दशकांत तक उनके विरोध-प्रदर्शन ने एक संगठित रूप ले लिया।

वह संगठन जिसने मछुआरों को उनके विरोध-प्रदर्शन में सुव्यवस्थिति रूप प्रदान किया, वो था – केरल स्वतंत्र मल्सिया थोझिलाली फेडरेशन (KSMTF) अर्थात् ‘केरल स्वतंत्र फिशर वर्कर्स फेडरेशन’। इस संघ को नेतृत्व प्रदान करने वाले थे – “समुदाय संगठनकर्त्ताओं का एक छोटा मगर प्रभावशाली अल्पसंख्यक वर्ग, उग्र ईसाई पादरी वर्ग व ननें तथा समाजशास्त्रीगण इस संघ की इकाइयाँ ग्राम व ज़िला स्तरों पर सक्रिय थीं। इन मछुआरा आन्दोलनों ने त्रिवेन्द्रम में जिला मुख्यालय में तथा सचिवालय के बाहर रैलियों, जुलूसों, प्रदर्शनों, भूख-हड़तालों व धरनों का रूप ले लिया। उन्होंने गुटबाजी का भी सहारा लिया। आन्दोलनकर्त्ताओं ने जलपोतों को भी क्षति पहुँचाई, जिसके परिणामस्वरूप पुलिस ने उन पर गोली चलाई और लाठी-चार्ज किया।

पुनः 1981 में, उक्त संघ ने नीति-निर्माताओं व योजनाकारों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए 600 किमी. तटीय रेखाओं के मुख्य स्थानों पर प्रदर्शन आयोजित किए। प्रदर्शन में सभी आयु-वर्ग के लोगों की भागीदारी देखी गई, जिनमें बड़ी संख्या में महिलाएँ थीं। आन्दोलनकर्त्ताओं की मुख्य माँगों में शामिल थे :

1) छोटे स्तर के मछुआरों के लिए अनन्य मत्स्य क्षेत्र;
2) "जून से जुलाई तक के मानसून महीनों के दौरान" जलपोत संचलन हेतु वर्जित काल;
3) बटुआ-जाल कारबारों (purse-seiner operations) पर पूर्ण प्रतिबंध; और
4) मछुआरों के लिए बेहतर-कल्याणकारी उपायों हेतु अन्य माँगें।

चूँकि समुद्र में उनके पारम्परिक अधिकार, मूल्य पद्धति एवं प्रौद्योगिकियाँ उनके लिए अहितकर परिवर्तन आये हैं, और स्वतंत्र्योत्तर काल में बाज़ार में मछली बेचने, दाम तय करने तथा वितरित करने के अधिकारकों से उन्हें वंचित किया गया है, मछुआरा संगठनों ने यह भी माँग की कि उनके पारम्परिक मूल्यों, प्रौद्योगिकी और अधिकारों को फिर से सुरक्षित किया जाए।

इस आन्दोलन को निवेशकों, विचौलियों व 'जलपोत नौका मालिक संघ' के समर्थन-समूहों के प्रतिरोध का सामना करना पड़ा।

इस आन्दोलन का एक परिणाम रहा – मछली एकत्रण क्षेत्रों के नियमन हेतु 'केरल समुद्रीय मत्स्य उद्योग नियमन अधिनियम (के.एस.एफ.आर. अधिनियम), 1981' का पास होना। परन्तु यह अधिनियम ठीक से लागू नहीं किया जा सका, यद्यपि वायपंथी और लोकतांत्रिक सरकार ने मछुआरों के लाभार्थ कल्याणकारी कदम उठाये – ग्राम समितियाँ, बीमा योजनाएँ, अधिक भरपूर ऋण, आवास-संबंधी ऋण, आदि। सरकार ने एक समिति भी नियुक्त की जिसका काम था – "वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकीय मुद्दों को देखें और मछुआरों के मत्स्य-उद्योग प्रबंधन संबंधी सामाजिक-आर्थिक परिणामों का मूल्यांकन करें"। इस समिति में प्रशासनिक एवं वैज्ञानिक समुदाय के प्रतिनिधियों के अलावा लघु-स्तरीय मछुआरा संघों, जलपोत मलिक संघों के प्रतिनिधि भी शामिल थे। इस समिति के अध्यक्ष थे बाबू पॉल; तदनुसार इसे 'बाबू पॉल समिति' कहा गया। परन्तु यह समिति गतिरोध में परिणत हुई : मछुआरा संघों ने असंतोष जताया, और जाने-माने वैज्ञानिकों ने इसमें भाग ही नहीं लिया।

मछुआरों की समस्याएँ सरकार के वैधानिक, प्रशासनिक एवं राजनीतिक उपायों से दूर नहीं की जा सकीं। उक्त संघ (KSMTP) ने 1984 में पुनः मानसून आन्दोलन छेड़ने की घोषणा कर दी। उसने वही माँगें फिर से उठायीं जो कि 1981 के आन्दोलन में उठाई गई थीं। यद्यपि इस आन्दोलन ने संघटन के शान्तिपूर्ण तरीकों को ही अपनाया, मौके-बेमौके वह मछुआरों और पुलिस के बीच झड़पों में भी परिणत हुआ। इस आन्दोलन ने साम्प्रदायिक सद्भाव का उदाहरण प्रस्तुत किया जिसका प्रतीक था – एक हिन्दू मछुआरे और कैथॅलिक नन की भूख-हड़ताल।

सरकार ने इस आधार पर मानसून काल में जलपोत पर प्रतिबंध लगाने में अनिच्छा जताई कि इसका परिणाम होगा – विदेशी मुद्रा में गिरावट और बेरोज़गारी। परन्तु नेशनल फिशरयेज़ फॉरम (एन.एफ.एफ.) ने मानसून के दौरान जलपोत पर प्रतिबंध परीक्षण के आधार पर लगाने का सुझाव दिया; उसका

प्रस्ताव था कि परीक्षण के आधार पर जलपोत पर प्रतिबंध हेतु सुविज्ञ राय दिए जाने के लिए फूड एण्ड एग्रीकल्चर

(एफ.ए.ओ.) मत्स्य उद्योग विभाग की मदद माँगी जाए। उक्त सुझाव मानने की बजाय सरकार ने एक और तीन-सदस्यीय समिति गठित कर दी, जिसके प्रमुख थे ए.जी. कालावर (कालावर समिति), और उनका काम था प्रबंधन संबंधी मुद्दों को देखना। 1985 में कालावर समिति ने मानसून के दौरान झींगा मछली पकड़ने पर प्रतिबंध स्वीकार नहीं किया वरन् उसने सुझाव दिया कि जलपोत-समूह की वर्तमान संख्या को घटाकर आधा कर दिया जाए। समिति ने यह भी सुझाव रखा कि "ट्रैमल ज़ाल जैसे अधिक निष्क्रिय झींगा मछली एकत्रण उपस्कर को प्रोत्साहित किए जाने की आवश्यकता है, जो कि 1983 में शिल्पकार मछुआरों द्वारा नया-नया लाया गया था,'' तटीय समुद्र में बटुआ-जाल (purse-seiner) के प्रयोग पर पूरी तरह प्रतिबंध की माँग की और "सरकार द्वारा व्यापक मोटर लागू करने के खिलाफ चेतावनी दी''। कालावर समिति की सिफ़ारिशें आम तौर पर राज्य में सरकारों के जल्दी-जल्दी बदलने से प्रभावित हो अमल में ही नहीं आ पायीं।

अस्सी के दशकांत तक के.एस.एम.टी.एफ. ने नई माँगें सामने रख दीं :

i) केवल सक्रिय मछुआरों को ही मत्स्य-कर्म परिसम्पत्तियों का स्वामित्व मिलना चाहिए।

ii) केएमएफआर अधिनियम के अन्तर्गत जलपोतों/बटुआ-जालों के विरुद्ध कानूनी कार्रवाई किए जाने के लिए सरकार से गुहार।

केरल में मछुआरा आन्दोलनों में महिलाओं ने बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। दरअसल, त्रिवेन्द्रम ज़िले की मछुआरिनें (महिला मछली विक्रेता) ही थीं जिन्होंने सार्वजनिक परिवहन के प्रयोगार्थ वैधानिक अधिकार हेतु 1979 में एक आन्दोलन छेड़ा था। परिणामत: आन्दोलन के दो वर्षों के ही भीतर मत्स्य उद्योग विभाग ने उनके लिए विशेष बसें चलवा दीं, हालाँकि उनके वैधानिक अधिकारों को स्वीकार नहीं किया गया।

'नब्बे के दशक में मछुआरा आन्दोलन ने राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली। आधुनिक प्रौद्योगिकी के प्रवेश का एक अखिल-भारतीय स्तर का विरोध हुआ जिसको पी.वी. नरसिम्हा राव सरकार द्वारा शुरू की गई उदारवादी शासन-प्रणाली के दौरान बढ़ावा मिला। विरोधार्थ मुद्दों में एक था गहन सागर मछुवाही (क्ममच ैमम थ्पेपदह . कैथ्) इकाइयाँ। एन.एफ.एफ. ने नेशनल फिशरमेंस एक्शन काउंसिल अगेंस्ट जॉइण्ट वेंचर ऑफ फिशरीज़ (NFACAJV) के माध्यम से एक राष्ट्रव्यापी आन्दोलन शुरू कर दिया। 23-24 नवम्बर 1994 को एक बन्द का आयोजन किया गया जिसने बाज़ार बन्दी और मछुवाही विराम की ओर प्रवृत्त किया। NFACAJV ने बंदों, पोताश्रयों पर प्रदर्शनों आदि के अलावा राष्ट्रीय राजधानी में भी प्रदर्शन आयोजित किए। इन कार्रवाइयों ने भारत सरकार का ध्यान आकर्षित किया। परवर्ती ने फरवरी 1994 में गहन-सागर-मछुवाही (DSF: Deep See Fishing) नीति के समीक्षार्थ एक समिति नियुक्त कर दी। इस समिति में 16 सदस्य थे और इसका अध्यक्ष एक सेवानिवृत्त भारतीय प्रशासनिक सेवा अधिकारी पी. मुरारी को बनाया गया था। समिति के संघटन से असंतुष्ट होकर थॉमस कोचरी, अब उक्त परिषद् (NFACAJV) के नेता के रूप में, एक-दिवसीय भूख-हड़ताल पर बैठ गए। परिणामस्वरूप,

यह समिति फिर से गठित की गई जिसमें मछुआरों के प्रतिनिधियों को शामिल किया गया और समिति की सदस्य-संख्या 41 तक बढ़ा दी गई। मुरारी समिति जिसने अपनी रिपोर्ट 1996 में प्रस्तुत की, ने निम्नलिखित मुख्य सिफारिश सामने रखी :

नए लाइसेंस जारी न करके और पुराने लाइसेंसों को धीरे-धीरे समाप्त करके भारतीय जलक्षेत्र में विदेशी निवेशकों द्वारा मत्स्यकर्म पर पूर्ण प्रतिबंध।

सरकार ने 1991 की गहन-सागर-मछुवाही (Deep See Fishing - DSF) नीति को भंग करने और परंपरागत मछुआ जाति के रक्षार्थ कदम उठाने का वायदा किया। एन.एफ.एफ. (1997) 'नब्बे के दशक भर और इस शताब्दी के शुरुआत में मछुआरों के बीच चेतना जगाने के उद्देश्य से विभिन्न तरीकों से उन्हें संघटित करता रहा।

हाल के वर्षों में केरल में मछुआरा आन्दोलन इस अर्थ में अन्तरराष्ट्रीय मछुआरा आन्दोलन से जुड़ गया है कि उसके द्वारा उठाए गए मुद्दे इण्टरनेशनल कॉनफरेंस ऑफ फिश वर्कर्स एण्ड दियर सपोर्टर्स (ICFS) जुलाई 2002 की रिपोर्ट के आलोक में तैयार किए गए। इनमें सुविदित मुद्दे शामिल थे, यथा मत्स्य उद्योगों व उनके प्रतिबंधन में मछुआरों की भागीदारी; पकड़ी गई मछलियों की बिक्री एवं प्रसंस्करण, जो कि पहले भी उठाए जा चुके थे। उक्त सम्मेलन (ICFS) ने राष्ट्रीय सरकार से एक सिफारिश और की कि "स्थानीय मछुआरा संगठनों और मछुवाही समुदायों को नियंत्रणकारी उपायों को सोच निकालने व लागू करने से जोड़ें – परन्तु उनके प्रभावशाली नियंत्रण की संभावना के साथ।"

15.4.2 चिलिका झील का मछुआरा आन्दोलन: झींगा संवर्धन-विरुद्ध (Anti-Prawn Culture) आन्दोलन

चिलिका झील 1999 में मछुआरा आन्दोलन का एक संदर्भ बिंदु रहा। यह झील जो कि एशिया में खारे पानी की सबसे बड़ी झील है, उड़ीसा के बहुत से मछुआरों की आजीविका का स्रोत है। इस झील को रामार सभागम (Ramar Convention) द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की सिक्त भूमि (wetland) घोषित किया गया। यह झील अनेक प्रकार के जैव-वैविध्य का प्राकृतिक वास है जिसमें डॉल्फिन और विभिन्न प्रवासी पक्षी शामिल हैं। 1992 में एक ग़ैर-सरकारी संगठन 'उड़ीसा कृषक महासंघ' ने बाँके बिहारी दास की अध्यक्षता में गरान कार्रवाई परियोजना (Mangrove Action Project) की मदद से चिलिका झील के आस-पास के स्थानीय मछुवाही समुदायों को संगठित करने में सहायता की।

टाटा हाउस ने चिलिका झील के तट पर औद्योगिक स्तर के बड़ी संख्या में अर्ध-गहन झींगा मछली-पालन फार्म स्थापित करने का प्रयास किया। टाटा की कार्रवाई एक न्यायालयी आदेश के परिपालन स्वरूप आधे रास्ते ही रोक दी गई। यह निषेधादेश टाटा हाउस और मछुआरों के बीच कड़ी कानूनी लड़ाई के बाद ही आया था। हालाँकि न्यायालयी निषेधादेश ने टाटा के प्रयास को आगे बढ़ने से रोका, चिलिका तट पर अन्य लोग ग़ैर-कानूनी रूप से बड़ी संख्या में झींगा-मछली पालन फार्म बनाने लगे, जिनमें माफिया, राजनेतागण एवं अधिकारी-वर्ग शामिल थे।

मछुआरों ने मई-जुलाई 1999 में चिलिका झील में झींगा मछली-पालन के खिलाफ़ एक आन्दोलन छेड़ दिया। वे संगठन जिन्होंने इनमें प्रमुखता से भाग लिया, वे थे – चिलिका मत्स्यजीव महासंघ, नेशनल फिशर वर्कर्स फॉरम – एन.एफ.एफ. (भारत), वर्ल्ड फॉरम फार फिशहार्वेस्टर्स एण्ड फिश वर्कर्स (डब्ल्यू. एफ.एफ.)। मछुआरों ने बड़ी संख्या में इस आन्दोलन में भाग लिया। 11 जून 1999 को इस आन्दोलन ने एक हिंसक मोड़ ले लिया जो पुलिस की गोलाबारी में परिणत हुआ और जिसमें चार मछुआरे मारे गए और 13 गंभीर रूप से घायल हुए। मछुआरों में बड़ी संख्या में झींगा मछली फार्मों को क्षति पहुँचाई। उन्होंने शहर में वाहनों की आवाजाही रोकने के लिए मानव दीवार बनाई और रेलगाड़ियों को भी रोका। यह बंद भुवनेश्वर में सबसे अधिक सफल रहा।

15.5 सार-संक्षेप

संक्षिप्ततः, मछुआरे भारतीय जनसंख्या का एक वृहत्तर हिस्सा है, खासकर तटीय राज्यों में – पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश, केरल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, गुजरात, आदि। वे घरेलू एवं अंतर्राष्ट्रीय समूह हैं जो तीन प्रमुख धर्मों से ताल्लुक रखते हैं – हिन्दू धर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म। आर्थिक श्रेणियों के लिहाज से यहाँ उनके बीच मुख्यतः तीन समूह हैं – एक वे जो अपनी नौकाएँ रखते हैं और उन्हें मछली पकड़ने के लिए स्वयं प्रयोग करते हैं, दूसरे वे जिनके पास अपनी नौकाएँ नहीं हैं, प्रत्युत अन्य मछुआरों की नौकाओं व जलपोतों पर काम करते हैं, और तीसरे वे जिनके पास अपनी नावें और जलपोत हैं व दूसरे मछुआरों को रोज़गार प्रदान करते हैं। तीसरी श्रेणी में ग़ैर मछुआरा वर्ग, व्यापारी वर्ग, राजनेता वर्ग तथा साहूकार वर्ग भी आते हैं।

ये मछुआरे साहूकारों और व्यापारियों के शोषण का शिकार रहते हैं। वे ही प्रलय, प्रचण्ड आँधियों व सुनामी से भी सर्वाधिक प्रभावित होते हैं। 'नब्बे के दशक से वे यांत्रिक नावों व जलपोतों के साथ कड़ी प्रतिस्पर्धा का सामना कर रहे हैं, जो कि पी.वी. नरसिम्हा राव सरकार द्वारा शुरू की गई उदारवादी नीति का परिणाम थे। यद्यपि मछुआरों के सामने ढेरों समस्याएँ हैं, वे मुद्दे जिन पर उन्हें सामूहिक कार्रवाइयों हेतु संघटित किया गया है मत्स्य क्षेत्रों व उनके प्रबंधन में उनकी भागीदारी तथा उन्हें यांत्रिक नावों व जलपोतों के साथ होड़ से बचाए जाने से जुड़े हैं।

ये मछुआरे 'साठ के दशकोपरांत से सामूहिक कार्रवाइयों में लामबंद रहे हैं। हालाँकि मछुआरा आन्दोलन अन्य राज्यों में भी देखे गए हैं, एक केरल ही ऐसा राज्य है जहाँ वे सर्वाधिक संगठित एवं समर्थित रहे हैं। ऐसा उनके नेताओं व संगठनों के प्रयासों से संभव हुआ है। नेतृत्व व संगठन दोनों ही ज़िला, राज्य एवं राष्ट्रीय स्तरों पर विद्यमान रहे हैं। 1978 में विभिन्न मछुआरा संघों ने मिलकर एक महासंघ बनाया जिसे नेशनल फिशरमेंस फॉरम (एन.एफ.एफ.) कहा जाता है।

मछुआरों को नेतृत्व, खासकर, केरल में, आमतौर पर चर्च पादरियों, ननों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं व बुद्धिजीवी-शिक्षाप्राप्त सामाजिक कार्यकर्त्ताओं द्वारा प्रदान किया गया है। उनकी सामूहिक कार्रवाई में शामिल रहे – प्रदर्शन, धरने और भूख-हड़तालें। अनेक मौकों पर उनके आन्दोलन हिंसा में परिणत हुए। सरकार ने इसका प्रत्युत्तर मुख्य रूप से आयोग गठित करके दिया। आयोगों की सिफ़ारिशें आमतौर पर

लागू ही नहीं हुईं; तिस पर भी, मछुआरा आन्दोलनों ने देश के सामाजिक आन्दोलनों में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

15.6 अभ्यास प्रश्न

1) मछुआरों की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों पर चर्चा करें और उनकी मुख्य समस्याओं की पहचान करें।

2) मछुआरों के नेतृत्व एवं संगठनों पर एक टिप्पणी लिखें।

3) मछुआरा आन्दोलन को सामाजिक आन्दोलन के रूप में किस प्रकार समझे जाते हैं? कुछ उदाहरण देकर स्पष्ट करें।

इकाई 16 पर्यावरण और पारिस्थितिकी आन्दोलन

इकाई की रूपरेखा

16.1 प्रस्तावना
16.2 भारत में पर्यावरण आन्दोलन: मुद्दे और महत्त्व
16.3 जन आन्दोलन
    16.3.1 चिपको आन्दोलन
    16.3.2 अप्पिको आन्दोलन
    16.3.3 नर्मदा बचाओ आन्दोलन
    16.3.4 शहरों में पर्यावरण आन्दोलन
16.4 सार-संक्षेप
16.5 अभ्यास प्रश्न

16.1 प्रस्तावना

पर्यावरण और परिस्थितिकी आन्दोलन अनेक सामाजिक समूहों की सामूहिक कार्रवाइयों के महत्त्वपूर्ण उदाहरणों में शामिल हैं। संवैधानिक एवं लोकतांत्रिक अधिकारों का संरक्षण एवं सम्मान, जो कि कानून द्वारा परिभाषित नहीं है परन्तु निचले दर्जे के जन-समूहों के दिन-प्रति-दिन के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, जैसे उनके संसाधनों पर नियंत्रण, अपनी संस्कृति के रक्षार्थ मूलवासियों लोगों के अधिकार, पर्यावरण की रक्षा और पारिस्थितिक सन्तुलन कायम रखना आदि, इन आन्दोलनों के महत्त्वपूर्ण विषय हैं, क्योंकि वे मानव जीवन को काफ़ी हद तक प्रभावित करते हैं।

ये आन्दोलन अर्थशास्त्र और राजनीति के एक विस्तृत दृष्टिकोण को भी प्रकट करते हैं। इन आन्दोलनों द्वारा आर्थिक न्याय की माँग किए जाने का मतलब महज संसाधनों का वितरण नहीं है वरन् एक वृहत्तर दृष्टिकोण रखना भी है, यथा अपने प्राकृतिक संसाधनों पर लोगों के अधिकार को मान्यता देकर जीवन की गुणवत्ता में बढ़ोत्तरी, आनबान के साथ रहने संबंधी उनका अधिकार, और निर्णयन में उनकी भागीदारी। मानव पर्यावरण संबंधी विषयों ने 1972 में स्टॉकहोम में हुए मानव पर्यावरण विषयक संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन के समापन पर विद्वानों का अपूर्व ध्यान आकृष्ट किया। 'अस्सी के दशक तक "हरित आन्दोलन'' एक विश्वव्यापी दृश्यघटना बन गया जिसमें भारत समेत विश्व के अनेक देश शामिल थे। इसके सूचक थे – भारत में अपने पर्यावरण एवं पारिस्थितिकीय संबंधों अधिकारों के संरक्षण हेतु अनेक जन-आन्दोलन और जर्मनी व उत्तर अमेरिका में 'हरित पारिस्थितिकी' (Eco-green) अथवा 'हरित आन्दोलन' (Green Movement)।

इस इकाई में हमारा ध्यान पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी आन्दोलनों पर केन्द्रित रहेगा। जबकि किसान अथवा मज़दूर आन्दोलनों ने एक लम्बी ऐतिहासिक यात्रा तय की है, पर्यावरण अथवा पारिस्थितिकी

आन्दोलन दुनिया भर का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ही कर पाए। ये आन्दोलन न केवल बुनियादी उत्तरजीविता के मुद्दों पर ही अपितु वृहत्तर पारिस्थितिक विषयों पर भी ध्यान केन्द्रित करते हैं। ये पहले के सामाजिक आन्दोलनों से भिन्न हैं और उन्हें उनकी प्रकृति एवं रणनीतियों के लिहाज से समझे जाने की ज़रूरत है।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि विद्वानों ने इन आन्दोलनों को विविध तरीकों से समझा और विश्लेषित किया है। आम तौर पर इन आन्दोलनों को जनजातीय व कृषक आन्दोलनों के अन्तर्गत रखा जाता है और साथ ही नव सामाजिक आन्दोलनों के तहत भी। ऐसा इसलिए है कि पारिस्थितिकीय पहलू आम तौर पर किसानों व जनजातियों से जुड़े होते हैं जिनकी उत्तरजीविता वन, नदी-जलाशय आदि प्राकृतिक संसाधनों की दशा से संबद्ध होती है। कुछ लोग उन्हें मध्य वर्ग अथवा अभिजात वर्ग आन्दोलनों के रूप में लेते हैं क्योंकि स्थानीय समुदायों, मूलवासियों अथवा ग़ैर-जनजातीय गरीबों की समस्याएँ एवं चिन्ताएँ बहुधा शहरी मध्यवर्गीय अभिजात्यों द्वारा ही व्यक्त की जाती हैं। वस्तुतः, भारत में कभी कोई एकरूप व समरूप पर्यावरण-संबंधी वार्तालाप हुआ ही नहीं। यहाँ तो जो देखने में आया उसे गुहा 'पर्यावरणवाद की किस्में' कहते हैं। इस संदर्भ में प्रस्तुत इकाई भारत में पर्यावरण आन्दोलनों के इतिहास को समझने का प्रयास करती है। इस इकाई में हम विभिन्न पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी आन्दोलनों की भी अध्ययन करेंगे।

16.2 भारत में पर्यावरण आन्दोलनः मुद्दे और महत्त्व

पर्यावरण आन्दोलन एक काफ़ी व्यापक शब्द है जिसका प्रायः विकास संबंधी चर्चा के वृहत्तर प्रसंग में मुद्दों व पारिस्थितिकीय सुरक्षा से जुड़े स्थानीय संघर्षों एवं विवादों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन करने एवं समझने के लिए प्रयोग किया जाता है। इन संघर्षों ने दरअसल औपनिवेशिक काल से ही भारतीय राज्य व उसके पदाधिकारियों द्वारा अनुपालित विकास परिरक्षण परितंत्र की धारणा की आलोचना एवं उस पर आपत्ति प्रकट की है। भारत में पर्यावरण आन्दोलन की उत्पत्ति का संबंध नए उत्तरांचल के गढ़वाल क्षेत्र में चिपको आन्दोलन (1973) से जोड़ा जा सकता है। वस्तुतः 'सत्तर व 'अस्सी के दशकों में भारत में वन व जल हेतु अधिकारों के मुद्दों के इर्द-गिर्द जुटे अनेक संघर्ष देखने में आये जिन्होंने वृहत्तर परिस्थिति संबंधी विषयों को उठाया; जैसे वन संसाधनों में समुदायों के अधिकार, बाँध जैसे वृहद-स्तरीय पर्यावरण परियोजनाओं की निरन्तरता, विस्थापन व पुनर्वास संबंधी समस्याएँ, आदि।

भारतीय पर्यावरण आन्दोलन उपनिवेशोत्तर राज्य द्वारा अनुपालित विकास संबंधी औपनिवेशिक प्रतिमान की आलोचना करता है। स्वातंत्र्योत्तर राज्य जनता की आवश्यकताओं पर आधारित कोई भी विकास कार्यसूची तैयार करने में असफल रहा और आधुनिक पूँजीवादी कार्यसूची की वकालत करता रहा जिसने पर्यावरण के विध्वंसा ग़रीबी और ग्रामीण समुदायों के उपान्तीकरण की ओर प्रवृत्त किया। भारत में राष्ट्रीय पार्कों, अभ्यारण्यों, संरक्षित क्षेत्रों, आदि का बनाया जाना परंपरागत पर्यावरणवाद का द्योतक है जिसकी सिफ़ारिश भारतीय राज्य ने इन क्षेत्रों से लोगों को बाहर धकेलकर वन्य जीवन और जैव विविधता की रक्षा करने के उद्देश्य से ही थी। इस परंपरागत पर्यावरणवाद जिसने भारतीय राज्य को प्राकृतिक संसाधनों का परिरक्षक माना, के जवाब में भारत में पर्यावरण आन्दोलन ने 'ग़रीबों के पर्यावरणवाद' वाली विचारधारा का समर्थन किया। वह न केवल आधुनिक विकासवाद की आलोचना करता था, अपितु

परंपरागत 'आत्मनिर्भर ग्राम अर्थव्यवस्था' को फिर से जीवित किये जाने का पुरजोर समर्थन भी करता था। यह समुदायों को भारतीय पर्यावरण चर्चा के केन्द्रीय मंच पर ले आया। पर्यावरणविदों ने कहा कि स्थानीय समुदाय ही प्राकृतिक संसाधनों के परिरक्षण हेतु सर्वाधिक उपयुक्त हैं क्योंकि उनकी उत्तरजीविता ऐसे संसाधनों के सतत प्रयोग पर ही निर्भर करती है। उनका तर्क था कि इन संसाधनों का निरंतर उपयोग सुनिश्चित करने के लिए ये प्रथागत अधिकार अथवा पारम्परिक अधिकार जनता को वापस दिए जाने चाहिए जो कि राज्य द्वारा उनसे छीन लिए गए थे, और परंपरागत संस्थाओं को भी मान्यता दी जानी चाहिए। संक्षिप्ततः, भारत में पर्यावरण आन्दोलन प्राकृतिक संसाधनों तक पहुँच व उनके प्रयोग के संबंध में समदृष्टि के मुद्दे पर ध्यान केंद्रित करता है।

पश्चिमी देशों के विपरीत, भारत में पर्यावरण आन्दोलनों का एक महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण यह है कि उन्होंने मुख्य रूप से महिलाओं, ग़रीबों और अलाभान्वित जनसाधारण को शामिल किया है जो कि पर्यावरण अवनति द्वारा सीधे प्रभावित हैं अथवा उसके शिकार हैं। इस प्रकार ये आन्दोलन मूल रूप से स्थानीय समुदाय व लोगों के संघर्ष की राजनीतिक अभिव्यक्तियाँ हैं जो कि पर्यावरणीय अधोगति अथवा संसाधनों के दुरुपयोग के शिकार हैं।

गाडगिल एवं गुहा भारत में पर्यावरण आन्दोलनों के भीतर चार विस्तृत सूत्रों की पहचान करते हैं, जो कि अभिदृष्टि, विचारधारा एवं रणनीति पर आधारित हैं। प्रथम प्रकार के पर्यावरण आन्दोलन वे हैं जो अति उपयोग रोकने और ग़रीबों व उपान्तिक वर्गों के लिए न्याय सुनिश्चित करने हेतु नैतिक आवश्यकता पर बल देते हैं। मुख्य रूप से गाँधीवादी ही इस सूत्र से जुड़े हैं। द्वितीय सूत्र संघर्ष के माध्यम से अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को ध्वस्त किए जाने की आवश्यकता पर बल देता है। इस सूत्र को मुख्यतः मार्क्सवादी अपनाते हैं। तृतीय व चतुर्थ सूत्र पुनर्निर्माण की वकालत करते हैं, यथा प्रदत्त प्रसंग व समय के उपयुक्त प्रौद्योगिकियाँ लागू करना। वे ग्राम स्तर पर वैज्ञानिकों के चिन्त्य विषयों अथवा समुदायों के स्वयंजात प्रयासों को प्रकट करते हैं जिनका उद्देश्य होता है – स्थानीय समुदाय वनों की रक्षा करना अथवा पर्यावरण-मित्र कृषि-प्रथाओं का पालन करना।

इससे पहले कि हम भारत में पर्यावरण एवं पारिस्थितिक आन्दोलनों के कुछ उदाहरणों पर चर्चा करें, घनश्याम शाह की पुस्तक *सोशल मूव़मण्ट्स : ए रिव्यु ऑफ़ लिटरेचर* (2004 : 257-58) से ली गई तालिका 10.2 पर नज़र डालना अभीष्ट होगा। आपके लिए यहीं प्रस्तुत इस तालिका पर उन पर्यावरण आन्दोलनों के मुद्दों, श्रेणियों व उदाहरणों पर एक विहंगम दृष्टि डालना प्रासंगिक होगा जो भारत में अब तक चलते रहे।

तालिका 1

श्रेणियाँ	मुद्दे	कुछ उदाहरण
वन व भूमि आधारित	● वन संसाधनों तक पहुँच का आधिकार ● प्राकृतिक संसाधनों का ग़ैर-वाणिज्यिक प्रयोग ● भूमि अपह्रास से बचाव ● सामाजिक न्याय/मानव अधिकार	चिपको, अप्पिको, देश भर में जनजातीय आन्दोलन (उदाहरणार्थ, झारखण्ड/बस्तर कटिबंध)

समुद्रीय संसाधन एवं मत्स्य उद्योग, मत्स्य पालन	● महाजाल से मछली मारने पर प्रतिबंध, झिंगट एवं झींगा मछली पालन के वाणिज्यीकरण को रोकना ● समुद्रीय संसाधनों की रक्षा ● तटीय क्षेत्र नियमों का क्रियान्वयन	केरल के परंपरागत मछुआरों हेतु कार्यरत राष्ट्रीय मछुआरा मंच; चिलका बचाओ आन्दोलन, उड़ीसा
औद्योगेक प्रदूषण	● अधिक कड़े प्रदूषण नियंत्रण उपाय, क्षतिपूर्ति ● स्थानीय अधिवासी समुदाय के अभिकल्प, स्थानिक कारकों व आजीविकाई मुद्दों पर ध्यान दिए बगैर उद्योगों के बेपरवाह विस्तार की रोकथाम	भोपाल में ज़हरीली गैस मोर्चा; बिहार में गंगा मुक्ति मोर्चा; कर्नाटक में हरिहर बहुरेशा कारखाने के विरुद्ध आन्दोलन; शाहदोल ज़िला, मध्यप्रदेश के विदुषक कारखाना ग्रुप के नेतृत्व में ग्वालियर रेयन कारखाना द्वारा सोन नदी के प्रदूषण के विरुद्ध आन्दोलन; केरल शास्त्र साहित्य परिषद् (केएसएसपी) द्वारा केरल में चेलियार नदी को विषाक्त करने के विरुद्ध आन्दोलन

विकास परियोजनाएँ

(a) बाँध एवं सिंचाई परियोजनाएँ	● अति उष्ण वनों का रक्षा ● पारिस्थितिक असंतुलन ● विध्वंसात्मक विकास ● विस्थापितों की बहाली और पुनर्वास ● पारिस्थितिक संतुलन	केरल शास्त्र साहित्य परिषद् द्वारा मूक घाटी आन्दोलन; नर्मदा बचाओ आन्दोलन, टिहरी बाँध-विरोधी समिति द्वारा टिहरी के खिलाफ आन्दोलन; कोशी गंधक बोधघाट एवं बेडथी; पश्चिम में भोपालपटनम एवं ईचमपल्ली; दक्षिण में तुंगभद्रा, मालाप्रभा व घाटप्रभा योजनाएँ; कोयला परियोजना प्रभावित समिति
(b) विद्युत परियोजनाएँ	● पारिस्थितिक संतुलन ● पुनर्स्थापन और पुनर्वास, उच्च लागतें	एनरॉन के खिलाफ़ डाभोल में जन-आन्दोलन; बिहार में कोएल-करो जन संघटन।
(c) खनिकर्म	प्राकृतिक संपदा का ह्रास	दून घाटी में खान-विरुद्ध परियोजना; उड़ीसा में बॉक्साइट खान-विरुद्ध आन्दोलन (बाल्को परियोजना)
(d) औद्योगिक संयंत्र/ रेल परियोजनाएँ/ हवाई पत्तन परियोजना	● भूमि अपह्रास ● पारिस्थितिक असंतुलन ● पुनरेकत्रीकरण ● विस्थापितों की बहाली और पुनर्वास	काकना रेलवे पुनरेकत्रीकरण कार्रवाई समिति के विरोध-प्रदर्शन एवं माँगें; दुपों नायलॉन 6.6 गोवा के विरुद्ध नागरिक समूह; एक विशाल रासायनिक परिसर के विरुद्ध अमरावती बचाओ अभियान
(e) सैन्य आधार	● पारिस्थितिक संतुलन ● पुनस्थार्पन ● पुनर्वास एवं सुरक्षा	बलियापल में और नेत्रहाट, बिहार में प्रक्षेपास्त्र-रोधी परीक्षण प्रास

वन्य-जीवन अभयारण्य राष्ट्रीय पार्क	● विस्थापन, पुनर्स्थापन एवं पुनर्वास, आजीविका लोप	महाराष्ट्र के भीमशंकर क्षेत्र में एकजुट, सञ्जय गाँधी राष्ट्रीय पार्क, बम्बई में श्रमिक-मुक्ति आन्दोलन
पर्यटन	● विस्थापन सांस्कृतिक बदलाव, सामाजिक बुराइयाँ	हिमाचल बचाओ आन्दोलन; बैलान्चो साद, गोवा
समर्थन ग्रुप/ वैयक्तिक अभियान, नागरिक कार्रवाई दल केन्द्र	● संरक्षित क्षेत्रों के लिए नीति निवेश, अधिक कड़े उपाय ● राष्ट्रीय पार्क एवं वन्य-जीवन पर स्पष्ट नीति; वन्य-जीवन पर समर्थन-माँग, प्रशिक्षण एवं प्रलेखन; परिरक्षण, शिक्षण समुदाय-आधारित पर्यावरण प्रबंधन; पर्यावरण विषयों पर प्रकाशन आदि	स्वच्छ शहर समिति, बम्बई प्राकृतिक इतिहास समिति (BNHS), विज्ञान एवं पर्यावरण (CSE), दिल्ली; अनुसंधान, प्रशिक्षण एवं प्रलेखन संगठन, जैसे बम्बई पर्यावरण कार्रवाई ग्रुप, बम्बई बचाओ समिति, पूना बचाओ नागरिक समिति, आदि
समुचित प्रौद्योगिकी/ जैव के आवास कृषि	● अन्तरराष्ट्रीय वाद-विवाद ● सतत विकास, विकास के पारिस्थितिकी-मित्र प्रतिमान ● निम्न लागत, पर्यावरण-मित्र आवास एवं प्रौद्योगिकी	रेलगाँव सिद्धि (अन्ना हज़ारे का गाँव), सोपकॉम (SOPECOMM), लौरी बेकर प्रयोग; जन विज्ञान संस्थान, देहरादून

स्रोत : जानकी अँधारिया एवं चंदन सेनगुप्त, 1998 *'द इन्वाइरॅनमॅन्टल मूवमण्ट : ग्लोबल इश्यूज़ एण्ड दि इण्डियन रिऐलिटि'*, *द इण्डियन जर्नल ऑफ़ सोशल वर्क*, 59(1), पृ. 429-31

16.3 जन आन्दोलन

इस पाठांश में वनाधारित आन्दोलनों, बाँध-विरोधी आन्दोलनों और कुछ पर्यावरण प्रदूषण के कारण उठ खड़े हुए आन्दोलनों पर चर्चा है। यहाँ चर्चित वनाधारित आन्दोलनों में चिपको और अप्पिको आन्दोलन शामिल हैं; बाँध-विरोधी आन्दोलन में नर्मदा बचाओ आन्दोलन, और प्रदूषण-विरोधी आन्दोलन में वे आन्दोलन शामिल हैं जो दिल्ली में हुए।

16.3.1 चिपको आन्दोलन

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया, भारत में आधुनिक पर्यावरणवाद और पर्यावरण आन्दोलनों की उत्पत्ति का श्रेय 'सत्तर के दशकारंभ में केन्द्रीय हिमालयी क्षेत्र में चिपको आन्दोलन को दिया जा सकता है। हिमालय के जंगलों को विनाश से बचाने के लिए छेड़े गये चिपको आन्दोलन की जड़े स्वतंत्रतापूर्व दिनों में ही कहीं जमी हैं। बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में औपनिवेशिक वननीति के खिलाफ़ विरोध प्रकट करने के लिए अनेक संघर्ष आयोजित किए गए। इन विरोध-प्रदर्शनों में लोगों की मुख्य माँग यह थी कि वन के लाभ, विशेषत: चारे का अधिकार, स्थानीय लोगों को ही मिलने चाहिए। ये संघर्ष

स्वातंत्र्योत्तर काल में भी जारी हैं क्योंकि स्वतंत्र भारत की वन-नीतियाँ भी कोई औपनिवेशिक वन-नीतियों से भिन्न नहीं हैं। 'चिपको' (चिपक जाओ – लिपट जाओ) का जन्म 1973 के दौरान हुआ। 1973 के वर्षारंभ में वन विभाग ने कृषि उपकरण बनाने वाले, चमोली ज़िले में स्थित, एक स्थानीय सहकारी संगठन – दशौली ग्राम स्वराज्य संघ को ऐष वृक्ष (एक इमारती लकड़ी देने वाला पेड़) देने से इंकार कर दिया। दूसरी ओर, उक्त विभाग ने एक निजी कम्पनी, यथा सायमण्ड कंपनी को ये ऐष वृक्ष आबंटित कर दिए। इस घटना ने उक्त संघ को उकसाया कि वे इस अन्याय के खिलाफ लड़ें। परिणामस्वरूप वे इमारती लकड़ी के ट्रकों के आगे लेट गए और राल व इमारती लकड़ी के गोदामों में आग लगा दी, जैसा कि भारत छोड़ो आन्दोलन में किया गया था। जब ये तरीके असंतोषजनक सिद्ध हुए तो एक नेता चण्डी प्रसाद भट ने सुझाव दिया कि वृक्षों का आलिंगन किया जाए और इस प्रकार 'चिपको' ने जन्म ले लिया (विस्तृत ब्योरे के लिए देखें बहुगुणा, 1990 तथा गुहा, 1989)। इस प्रकार का विरोध-प्रदर्शन ऐष वृक्षों को गिराने से निजी कम्पनी को दूर भगाने में कामगार सिद्ध हुआ। अपनी इस सफलता के साथ यह आन्दोलन अन्य पड़ोसी क्षेत्रों में भी फैल गया और तदन्तर उसने अन्तर्राष्ट्रीय रूप से चिपको आन्दोलन के रूप में प्रसिद्धी प्राप्त कर ली। अपने आरम्भ से ही चिपको आन्दोलन ने पारिस्थितिक मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित किया, जैसे वन-आवरण का नि:शेषीकरण और मृदा अपरदन।

चिपको आन्दोलन की सफलता हेतु तीन मुख्य पहलू उत्तरदायी थे। प्रथम, स्थानीय लोगों की आजीविकाओं और आन्दोलन की प्रकृति के बीच गहन संबंध। स्थानीय लोग चिपको को बुनियादी ज़रूरत, यथा रोटी-कपड़ा के लिए एक लड़ाई मानते हैं जिनसे कि उनको राज्य की संस्थाओं व नीतियों द्वारा वंचित कर दिया गया है (गुहा, 1989)। इसके अतिरिक्त, उस क्षेत्र की विशिष्टता यहाँ चिपको आन्दोलन शुरू हुआ; कुटुम्बों के भरण-पोषण हेतु योगदान में महिलाओं की शिरकत और मद्य-विरोधी अभियान को मिले आशातीत समर्थन ने महिलाओं के अत्यधिक समर्थन की ओर प्रवृत्त किया जो कि चिपको की एक अद्भुत उपलब्धि है। दूसरा पहलू आन्दोलन की प्रकृति के संबंध में है। अन्य पर्यावरण आन्दोलनों से भिन्न, चिपको स्वतंत्रता संग्राम की गाँधीवादी विचारधारा, यथा अहिंसा से सख्ती से जुड़ा रहा है। तीसरे, सुन्दरलाल बहुगुणा जैसे नेताओं की सादगी और सरलता तथा इन्दिरा गाँधी जैसे राष्ट्रीय नेताओं, अन्य राजनीतिज्ञों व पदाधिकारी वर्ग तक उनकी पहुँच ने भी इस आन्दोलन को काफ़ी हद तक सफल बनाया है। चिपको आन्दोलन की माँगें निम्नवत् रहीं :

i) वाणिज्यिक प्रयोजनों हेतु पेड़ों का काटा जाना पूरी तरह रोका जाये;

ii) परम्परागत अधिकारों को मान्यता लोगों की न्यूनतम आवश्यकताओं के आधार पर ही दी जाए;

iii) वृक्ष लगाने में लोगों की भागीदारी बढ़ाकर शुष्क व ऊसर वनों को हरा-भरा बनाया जाए;

iv) वनों के प्रबन्धनार्थ ग्राम समितियाँ गठित की जाएँ;

v) वन से जुड़े गृह-उद्योगों का विकास हो और उसके लिए कच्चा माल, धन व तकनीक आदि उपलब्ध कराए जाएँ ; तथा

vi) स्थानीय दशाओं, आवश्यकताओं व किस्मों के आलोग में वनीकरण को प्राथमिकता दी जाए।

चिपको आन्दोलन के विषय में जो विशिष्ट बात है, वो यह है कि प्राकृतिक संसाधनों हेतु सामुदायिक

अधिकारों के बचाव में जन-आन्दोलनों की एक शृंखला हेतु अग्रणी होने के साथ-साथ यह आन्दोलन साक्षात् प्रेरणा भी था। कभी ये संघर्ष वनों के इर्द-गिर्द ही घूमते रहे, तो कभी अन्य उदाहरणों में ये चारागाह, खनिज व मत्स्य संसाधनों पर नियंत्रण एवं उनके प्रयोग के इर्द-गिर्द भी घूमे।

16.3.2 अप्पिको आन्दोलन

चिपको आन्दोलन से प्रेरणा पाकर कर्नाटक के उत्तर कन्नड़ में पश्चिमी घाटों के ग्रामवासियों ने सितम्बर-नवम्बर 1983 के दौरान अप्पिको चलेवली आन्दोलन शुरू कर दिया। यहाँ वनों का विनाश इमारती लकड़ी प्राप्त करने के लिए पेड़ों को गिराए जाने से होता था। इस क्षेत्र के प्राकृतिक वन इन ठेकेदारों द्वारा काट दिए गए जिसका परिणाम हुआ – मृदा अपरदन और बारहमासी जल-स्रोतों का सूख जाना। सिरसी के सकलानी गाँव में वनवासियों को आजीवन अधिकार पाने से रोक दिया गया, जैसे डालियाँ व सूखी टहनियाँ इकट्ठी करना और ईंधन, चारा, शहद आदि के उद्देश्य से ग़ैर-इमारती वन-उत्पाद। उनको इन उत्पादों के प्रथागत अधिकारों से वंचित कर दिया गया। सितम्बर 1983 में इस क्षेत्र की महिलाओं और युवकों ने दक्षिण भारत में भी 'चिपको' जैसा एक आन्दोलन छेड़ने का निर्णय किया। सकलानी और आसपास के गाँवों से महिलाएँ एवं युवाजन पाँच मील चलकर एक निकटवर्ती वन में पहुँचे और वहाँ पेड़ों से लिपट गए। उन्होंने पेड़ काटने वालों और राज्य वन विभाग के ठेकेदारों पर ज़ोर डाला कि पेड़ काटना रोकें। इन लोगों ने हरे वृक्षों को गिराने पर प्रतिबंध लगाने की माँग की। यह आन्दोलन 38 दिनों तक चलता रहा और इसने राज्य सरकार को मज़बूर कर दिया कि आखिरकार उनकी माँगें माने और पेड़ गिराए जाने के आदेश वापिस ले ले। कुछ समय के लिए सरकार ने पेड़ काटना रोक दिया जो कि कुछ समय बाद फिर शुरू हो गया जिससे आन्दोलन फिर से उठ खड़ा हुआ। इस आन्दोलन को लोगों का समर्थन प्राप्त था। यहाँ तक कि पेड़ गिराने के लिए ठेकेदारों द्वारा किए गए दिहाड़ी मज़दूरों ने भी अपना काम रोक दिया।

उसी वर्ष अक्तूबर में यह आन्दोलन अपने दूसरे चरण में प्रवेश कर गया और यह बेनगाँव वन में हुआ। यहाँ यह जंगल अति उष्ण अर्ध-सदाबहार प्रकार की वनस्पतियों से भरपूर था और अधिकांशतः पहाड़ी भूभाग पर था। इस भूभाग के रहने वाले लोग जो मुख्य रूप से जनजातीय अथवा देशज लोग थे, अपनी उत्तरजीविता और आजीविका के लिए वन पर ही निर्भर थे। वाणिज्यिक रूप से काट गिराने के कारण बाँस के पेड़ रहे ही नहीं जिससे वे टोकरियाँ, चटाइयाँ, आदि वस्तुएँ बनाने के मूल स्रोत से वंचित हो गए। उनकी आय का मुख्य स्रोत इन वस्तुओं की बिक्री ही था। जब पेड़ों का गिराया जाना नहीं रुका तो इन लोगों ने वहाँ आन्दोलन छेड़ दिया। यह आन्दोलन प्रकृति में स्वयंजात था। स्थानीय देशज लोग पेड़ों को काटे जाने से रोकने के लिए उनसे लिपट गए और आख़िरकार सरकार को उनकी माँगों पर ध्यान देना पड़ा। इस प्रकार के आन्दोलन अन्य इलाकों में भी शुरू हुए, जैसे हस्री। इसने भी स्थानीय लोगों को आन्दोलन छेड़ने के लिए प्रेरित किया।

वास्तव में अप्पिको आन्दोलन जन-शक्ति का एक प्रतीक बन गया जो कि राज्य की तुलना में प्राकृतिक संसाधनों पर उनके अधिकारों के लिए था। नवम्बर में यह आन्दोलन सिद्दापुर तालुका में निडगॉड तक फैल गया जो कि राज्य को क्षेत्र के इस अस्थायी वन में पेड़ों को व्यावसायिक रूप से गिराये जाने से रोकने पर अभिलक्षित था। अप्पिको आन्दोलन अपनी तीन-तही उद्देश्यों में सफल रहा था, यथा विद्यमान वन

आवरण की रक्षा करना, निरावृत भूमि में पेड़ फिर से रोपना और वन-सम्पदा का इस्तेमाल प्राकृतिक संसाधनों के परिरक्षण को ध्यान में रखते हुए करना। इस आन्दोलन ने तमाम पश्चिमी घाटों में ग्रामवासियों के बीच उस पारिस्थितिक खतरे के विषय में जागरूकता ला दी जो उनके भरण-पोषण के मुख्य स्रोत, यथा जंगलात के सामने वाणिज्यिक और औद्योगिक हितों ने पैदा किया था। चिपको की भाँति अप्पिको ने भी ऐसे सतत समाज के लिए विरोध-प्रदर्शन और संघटन के गाँधीवादी रास्ते को पुनरुज्जीवित किया जिसमें मनुष्य और प्रकृति के बीच संतुलन कायम रहता है।

16.3.3 नर्मदा बचाओ आन्दोलन

पश्चिमी भारत के तीन प्रमुख राज्यों – गुजरात, मध्य प्रदेश व महाराष्ट्र को समाविष्ट करती नर्मदा नदी परियोजना विकास की राजनीति से जुड़े पर्यावरण आन्दोलन और गतिवाद के परिपक्वन के लिहाज से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्याध्ययन है। भारत में अन्य कोई भी विकास परियोजना पारिस्थितिकी विकास के महत्त्व की प्रचण्डता पर ध्यान केन्द्रित नहीं कर पायी है जो कि इस परियोजना ने अभिज्ञ तर्क-वितर्क, राजनीतिक संघटन और जन साधारण सक्रियतावाद के ऐसे स्तर पर हो। इस विवाद ने जिसमें यह परियोजना पड़ी है, सभी स्तरों पर सरकार को चुनौती दी है और साथ ही, राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर नागरिक समाज संगठनों व ग़ैर-सरकारी संगठनों के साथ संबंध जोड़ने व उन्हें कायम रखने में वह सफल भी रहा है। वस्तुतः इसने भारत में वैकल्पिक विकास संबंधी राजनीतिक वार्तालाप में योगदान दिया है।

सरदार सरोवर परियोजना जो कि गुजरात में एक घातक बड़े बाँध वाली अन्तरराज्यीय बहुउद्देश्यीय परियोजना है, नर्मदा नदी पर तैयार की जा रही है जो कि भारत में पाँचवीं सबसे बड़ी नदी है, यथा 1312 किमी. लम्बी। नर्मदा घाटी परियोजना जिसमें दो महापरियोजनाएँ हैं – सरदार सरोवर परियोजना और मध्य प्रदेश में नर्मदा सागर परियोजना, सबसे बड़ी एकल नदी-घाटी परियोजना है जिसका उद्देश्य है – विश्व की सबसे बड़ी मानव-निर्मित झील बनाना।

इस परियोजना के परिणाम, बहरहाल, बहुत क्रोधपूर्ण और भयप्रद हैं। इस जलाशय में 37,000 हैक्टेयर भूमि डूब जायेगी जिसमें से 11,000 हैक्टेयर वन के रूप में गोपनीय घोषित है। यह परियोजना 248 गाँवों – 19 गुजरात के, 36 महाराष्ट्र के और 193 मध्य प्रदेश के, में रहने वाले लगभग एक लाख लोगों को विस्थापित कर देगी। राज्य सरकार ने इस परियोजना को शुरू किया क्योंकि गुजरात भारत में सर्वाधिक जल-बुभुक्ष क्षेत्रों में एक था और वहाँ घरेलू, व्यावसायिक, कृषिक व औद्योगिक ज़रूरतों के लिए पानी की बेहद किल्लत थी। इसके अलावा, राज्य 1985-88 के बीच एक भयंकर सूखे के दौर से गुज़रा था, जिसने इस परियोजना को और मज़बूती प्रदान की। तथापि, आलोचकों के अनुसार, इसको "विश्व के सबसे बुरे मानव-निर्मित पारिस्थितिक संकट'' के रूप में देखा जाना चाहिए और इसको अव्यवहार्य माना जाता है। यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि मूल रूप से नर्मदा परियोजना को माना जाता था कि यह 161 फीट ऊँचे बाँध वाली एक सिंचाई परियोजना है। बाद में यह पाया गया कि यदि इसका स्तर 455 फीट तक बढ़ा दिया जाए तो इसे एक बहूद्देश्यीय बाँध बनाकर पानी को प्रौद्योगिकीय रूप से बिजली बनाने में प्रयोग किया जा सकेगा। परिणामतः राज्य सरकारों ने न केवल केन्द्र से बल्कि विश्व बैंक से भी वित्तीय मदद पाने के लिए प्रयास शुरू कर दिए।

गुजरात के गोरा में नदी पर बाँध बनाने हेतु योजनाएँ 1946 के आस-पास सामने आयीं। कार्यतः, प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने 1961 में एक 49.8 मीटर ऊँचे बाँध हेतु आधारशिला रखी। नए नक्शों में अध्ययन के बाद बाँध के योजनाकारों ने तय किया कि एक अधिक बड़ा बाँध अधिक लाभप्रद होगा। एक मात्र समस्या थी पड़ोसी राज्यों – मध्य प्रदेश व महाराष्ट्र के साथ एक सहमति तैयार करने की। 1969 में, वर्षों किसी व्यवहार्य जल-बँटवारा फार्मूले पर सहमति हेतु प्रयास करते समझौतों के बाद, भारत सरकार ने नर्मदा जल विवाद न्यायाधिकरण बना दिया। दस वर्षों के बाद उसने अपना फैसला सुनाया – नर्मदा जल विवाद न्यायाधिकरण निर्णय। इस निर्णय में यह कल्पना की गई थी कि डूबने से कम-से-कम एक वर्ष पहले ही विस्थापितों को ज़मीन मुहैया करा दी जानी चाहिए।

1987 में पर्यावरण मंत्रालय द्वारा नर्मदा घाटी विकास परियोजनाओं को हरी झंडी दिखाए जाने से पूर्व, 1985 में सबसे बड़े बाँध – सरदार सरोवर के लिए विश्व बैंक ने 45 करोड़ डॉलर का एक ऋण भी मंजूर कर दिया। वास्तविकता में, सरदार सरोवर बाँध स्थल पर निर्माण कार्य 1961 से ही छिट-पुट रूप से जारी था, परन्तु 1988 में उत्साह के साथ शुरू हो गया। सरकार द्वारा तय किए गए पुनर्स्थापन एवं पुनर्वास हेतु वायदों से संबद्ध सवाल उठाये गए। परिणामतः हर राज्य से एक जन-संगठन सामने आया जिसने इन विषयों को उठाया। शीघ्र ही ये समूह एक साथ उठ खड़े हुए और एक सामाजिक कार्यकर्त्ता मेधा पाटकर के नेतृत्व में 'नर्मदा बचाओ आन्दोलन' शुरू कर दिया।

यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि यह आन्दोलन नर्मदा घाटी विकास परियोजनाओं विषयक सूचना हेतु लड़ाई के रूप में शुरू हुआ, परन्तु सरदार सरोवर बाँध व नर्मदा नदी के साथ-साथ अन्य बड़े बाँधों द्वारा विस्थापित होने वाले लाखों लोगों के लिए मात्र पुनर्वास हेतु एक लड़ाई में बदल गया। यथार्थतः जब यह स्पष्ट हो गया कि इस परियोजना के महत्त्व ने क्षतिपूर्ति और घाटों के सही-सही निर्धारण को अलग कर दिया है, और यह भी कि पुनर्वास असंभव है, इस आन्दोलन ने परियोजना के नितान्त आधार को ही चुनौती दे डाली और विकास हेतु उसके दावे पर सवाल खड़े कर दिए।

1988 में नर्मदा बचाओ आन्दोलन ने औपचारिक रूप से माँग की कि नर्मदा घाटी विकास परियोजनाओं विषयक सभी काम रोक दिए जाएँ। सितम्बर 1989 में "विनाशकारी विकास" से लड़ने की प्रतिज्ञा करने के लिए देश भर से आये 50,000 से भी अधिक लोग घाटी में एकत्र हुए। एक वर्ष बाद मध्य प्रदेश के एक छोटे से कस्बे में हज़ारों ग्रामवासी चलकर और नावें खेकर पहुँचे ताकि अपनी प्रतिज्ञा दोहरा सकें कि अपने घरों को छोड़कर जाने की बजाय डूब जाना पसंद करेंगे। कड़े दबाव के चलते विश्व बैंक एक स्वतंत्र समीक्षा समिति – मोर्स आयोग बनाने को बाध्य हो गया। इसने 1992 में अपनी रिपोर्ट – मोर्स रिपोर्ट प्रकाशित की। इस रिपोर्ट ने "आन्दोलन (नर्मदा बचाओ) द्वारा उठाये गए सभी मुख्य मामलों का समर्थन किया"। दो माह पश्चात्, विश्व बैंक ने पामेला कॉक्स आयोग को भेजा। समझा जाता है कि इसने भी ठीक उसी के खिलाफ़ सलाह दी जो मोर्स रिपोर्ट ने कहा था : "कार्यवाही के प्रयास और भ्रंशोद्धार हेतु एक प्रकार का जोड़जाड़ वाला उपाय"। वस्तुतः इस रिपोर्ट द्वारा पैदा हुए अन्तरराष्ट्रीय हंगामे के कारण विश्व बैंक ने सरदार सरोवर परियोजना से हाथ खींच लिया। इसके प्रत्युत्तर में गुजरात सरकार ने 20 करोड़ डॉलर उगाहने और परियोजना आगे बढ़ाने का फैसला कर लिया।

इस परियोजना के अनेक मुद्दे अभी असुलझे ही हैं। तथापि, अधिक महत्त्वपूर्ण हैं कि आन्दोलन एक उल्लेखनीय सीमा तक सफल रहा है। आन्दोलन की उपलब्धियों में शामिल हैं :

- 1993 में सरदार सरोवर से विश्व बैंक का प्रस्थान
- सरदार सरोवर निर्माण का पड़ाव 1994-99
- महेश्वर बाँध से विदेशी निवेशकों की वापसी 1999-2001

नर्मदा बचाओ आन्दोलन इस अर्थ में अद्वितीय है कि इसने लोगों के सूचना के अधिकार पर बल दिया है जो कि अधिकारियों को संचार-माध्यमों और जन-दबाव के चलते अंतत: मानना ही पड़ा। यह न केवल विभिन्न पेशों और काम-धन्धों में लगे लाखों को संघटित करने में सफल रहा कि राज्य सरकार पर उसकी जन-विरोधी नीतियाँ के लिए दबाव बना सकें जो कि लाखों जनजातीय लोगों को उनके घरों व आजीविका से वंचित कर उन्हें बेघर और बेरोज़गार बनाने वाली थीं, अपितु उसे अपार अन्तरराष्ट्रीय समर्थन भी प्राप्त हुआ। विरोध-प्रदर्शन के अहिंसात्मक मार्ग पर चलकर और रचनात्मक कार्य के गाँधीवादी दृष्टिकोण को अपनाकर, नर्मदा बचाओ आन्दोलन, जैसा कि वह लोकप्रिय रूप से जाना जाता है, भारत में पर्यावरण के इतिहास में उल्लेखनीय घटना है। तथापि, सरकारों के अक्खड़ रवैये की सूरत में उक्त आन्दोलन प्रभावित लोगों और नागरिक समाज संगठनों को साथ लेकर अपना काम कर रहा है।

16.3.4 शहरों में पर्यावरण आन्दोलन

हाल के बीते वर्षों में उद्योगीकरण के कारण जन्मा पर्यावरण प्रदूषण नागरिक समाज संगठनों, ग़ैर-सरकारी संगठनों, सम्बद्ध व्यक्तियों विशेष रूप से वकीलों, वैज्ञानिकों, पर्यावरणविदों व सामाजिक कार्यकर्त्ताओं द्वारा सामूहिक कार्रवाई का केन्द्र बन गया है। उन्होंने न्यायपालिका के हस्तक्षेप हेतु प्रयास किया और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया द्वारा पैदा हुए प्रदूषण के प्रति चिन्ता दर्शाने के लिए राज्य का ध्यान आकृष्ट किया। तथापि, प्रदूषण के विरुद्ध सामूहिक कार्रवाई का मुख्य केन्द्र शहरी इलाकों में ही रहा है। भोपाल यूनियन कार्बाइड बहुराष्ट्रीय कम्पनी में गैस रिसाव, पूर्व सोवियत संघ में चैर्नोबिल जहाँ हज़ारों लोग मारे गए, आदि कुछ त्रासदियों ने उद्योगीकरण के नकारी प्रभाव पर लोगों के बीच चिन्ताओं को जन्म दिया। यद्यपि 'नब्बे के दशक में पर्यावरण प्रदूषण के विषय में बढ़ी चिन्ता दिखाई दी, पर्यावरण प्रदूषण के विनाशकारी प्रभाव के विषय में जागरूकता बढ़ना 'साठ के दशक से ही शुरू हो चुका था। भारत के सभी प्रमुख शहर विकट वायु, जल व अन्य प्रकार के पर्यावरण प्रदूषण का सामना कर रहे हैं। ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर लोगों का लगातार पलायन, ऐसे अतिसंकुल क्षेत्रों में उनका वास-स्थान जो प्रदूषणकारी लघु उद्योगों के साथ ही होते हैं; वाहनों की बढ़ती संख्या; और शहरों का अनियोजित विस्तारण, खुले नाले, आदि ने अनेक स्तरों पर पर्यावरण ख़तरों को पैदा किया है। इस प्रदूषण ने लोगों को अनेक बीमारियों के प्रति संवेदनशील बना दिया है।

पर्यावरण-रक्षा सरकारी नीतियों का महत्त्वपूर्ण हिस्सा नहीं था। नेहरूवादी मॉडल ने उस प्रदूषण के लिए अधिक चिन्ता दर्शाये बग़ैर जो वह पैदा करने जा रहा था, उद्योगीकरण पर अधिक ज़ोर दिया। तथापि, 1976 में एक संविधान संशोधन द्वारा राज्य से अपील की गई कि "वह पर्यावरण की रक्षा करे व उसमें सुधार लाये और देश के वन व वन्य जीवन की रक्षार्थ पूर्वापाय करे'' तथा यह प्रत्येक नागरिक का मौलिक

कर्त्तव्य निर्धारित कर दिया कि "प्राकृतिक परिवेश की रक्षा करे व उसमें सुधार लाये, जिसमें वन, झीलें, नदियाँ व वन्य जीवन शामिल हैं, और प्राणिमात्र के लिए करुण-दृष्टि रखे"। आगामी दशाओं में राज्य ने वायु-प्रदूषण रोकने और पर्यावरण-रक्षा हेतु सरकार ने कानून बनाने, जैसे वायु अधिनियम, 1981 और पर्यावरण-रक्षा अधिनियम, 1986। न्यायपालिका जन-अधिकारों की निर्णायक बन गई है, जिनमें पर्यावरण प्रदूषण से उनकी रक्षा भी शामिल है जबसे जन हित याचिका (PIL) की युक्ति सामने आयी है। जन-समस्याओं के विषय में कार्यपालिका और विधायिका के बीच अभिन्नता की सूरत में, यह याचिका एक प्रभावशाली अस्त्र बन गई है जिसके माध्यम से लोग इन मुद्दों पर राज्य के हस्तक्षेप हेतु प्रयास करते हैं। न्यायपालिका के हस्तक्षेप ने राज्य पर दबाव डाला कि पर्यावरण प्रदूषण रोकने के लिए वह कुछ उपायों की शुरुआत करे। न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर, न्यायमूर्ति कुलदीप सिंह और अभिवक्ता एम.सी. मेहता ने पर्यावरण की रक्षा में उल्लेखनीय योगदान दिया है।

दिल्ली विश्व में सर्वाधिक प्रदूषित शहरों में से है। हाल में पर्यावरण प्रदूषण से जुड़े तीन मुद्दे नागरिक समाज घटकों से सम्बद्ध कुछ गतिविधियों के ध्यानाकर्षण केन्द्र रहे हैं। ये हैं : वाहनों से उत्पन्न वायु प्रदूषण, औद्योगिक प्रदूषण और यमुना नदी में जल-प्रदूषण। हाल के वर्षों में निजी और सार्वजनिक वाहनों की संख्या कई गुना बढ़ी है। इसने पर्यावरण को प्रदूषित कर दिया है और लोगों को, खासकर बच्चों व वृद्धों को अनेक बीमारियों के प्रति संवेदनशील बना दिया है। न्यायालय के आदेश का सम्मान करते हुए जो कि एक जनहित याचिका का परिणाम था, सरकार ने संपीड़ित प्राकृतिक गैस (सी.एन.जी.) से चलने वाले वाहनों को शुरू करना अनिवार्य बना दिया और सभी निजी वाहनों के लिए प्रदूषण जाँच को भी अनिवार्य बना दिया। सी.एन.जी. वाहनों के शुरू किए जाने के परिणामस्वरूप शहर में पर्यावरण प्रदूषण में कमी आयी है। इसी प्रकार दिल्ली सरकार पर दबाव डाला गया है कि प्रदूषणकारी उद्योगों को शहर से बाहर ले जाए और यमुना नदी को साफ करने की कार्यवाही शुरू करे। प्रदूषणकारी कारखानों और उद्योगों के बंद होने से शहर में श्रमिक उपद्रव शुरू हो गए। परिणामस्वरूप, पुलिस को गोली चलानी पड़ी और एक श्रमिक को जान से भी हाथ धोना पड़ा। वस्तुत: यह अनियोजित विकास नीति से जुड़ा था। गाँवों से शहरों की ओर पलायन नहीं रोका जा सकता है। जब तक कि पलायन कर रही आबादी को काम पर लगाने के लिए कुछ उपाय नहीं किए जाते, और वाहनों के बढ़ते प्रयोग को नहीं रोका जाता, लगता है पर्यावरण प्रदूषण कायम ही रहेगा।

16.4 सार-संक्षेप

संक्षिप्तत:, पर्यावरण और परिस्थितिकी आन्दोलन 'सत्तर के दशक से भारत में ऐसे अन्य आन्दोलनों की ही भांति दृश्यमान हो गए हैं। इन आन्दोलन के विषय किसी विशेष समूह तक ही सीमित नहीं हैं। ये सभी को समाविष्ट करते हैं – पूरा गाँव व शहरी समुदाय, महिलाएँ, जनजातियाँ, किसान, मध्यवर्ग और प्रकृति। यहाँ तक कि उनके द्वारा उठाए गए मुद्दे भी न्यूनाधिक समाज के सभी वर्गों से संबद्ध होते हैं। ये मुद्दे हैं – प्राकृतिक संसाधनों की सुलभता हेतु जनाधिकारों की रक्षा, भूमि अवक्रमण, प्राकृतिक संसाधनों का व्यावसायीकरण व पर्यावरण प्रदूषण, पारिस्थितिक संतुलन कायम रखना, विस्थापित लोगों का पुनर्वास, आदि। ये मुद्दे लोगों के आत्मसम्मान, पर्यावरण अधिकार एवं उनसे संबद्ध मुद्दों पर निर्णयन् अधिकारों से भी संबद्ध रखते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर समाज में राज्य ने दाता एजेन्सियों के सहयोग से पारिस्थितिक संतुलन को भंग कर दिया। इस प्रक्रिया में यह लोगों पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। परवर्ती ने अपने नेताओं, ग़ैर-सरकारी संगठनों व अन्य नागरिक समाज संगठनों के साथ मिलकर पर्यावरण और पारिस्थितिकी आन्दोलन चलाए। इन आन्दोलनों ने जन-चेतना का स्तर ऊँचा उठाया है, कुछ सफलता हासिल की है। वे भारत में लोकतंत्र का एक महत्त्वपूर्ण पहलू हैं।

16.5 अभ्यास प्रश्न

1) भारत में पर्यावरण आन्दोलनों के मुख्य मुद्दों और मामलों पर प्रकाश डालें।

2) चिपको आन्दोलन के मुख्य अभिलक्षणों पर चर्चा करें।

3) नर्मदा बचाओ आन्दोलन पर एक टिप्पणी लिखें।

4) आपके मत में, भारत में पर्यावरण और पारिस्थितिक अधिकार लोकतंत्र और विकास से किस प्रकार जुड़े हैं? स्पष्ट करें।

इकाई 17 सामाजिक आन्दोलन और लोकतंत्र: एक मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

17.1 प्रस्तावना

17.2 लोकतंत्र का अर्थ

- 17.2.1 लोकतंत्र के घटक

17.3 औपचारिक लोकतंत्र की सीमाएँ

17.4 जन-राजनीति व जनान्दोलन

17.5 भारत में लोकतंत्र और सामाजिक परिवर्तन

17.6 बढ़ती अपेक्षाएँ, निराशा एवं लोकतांत्रिक प्रणाली

17.7 आन्दोलन और लोकतंत्रीकरण

17.8 लोकतंत्र-विरुद्ध आन्दोलन

17.9 सार-संक्षेप

17.10 अभ्यास प्रश्न

17.1 प्रस्तावना

भारत में विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों का अध्ययन करने के बाद, अब हम लोकतंत्र तथा सामाजिक आन्दोलनों के बीच संबंधों की समीक्षा करेंगे। हमारा उद्देश्य है – लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था में सामाजिक आन्दोलनों की भूमिका एवं महत्त्व का मूल्यांकन करना। क्या ये आन्दोलन लोकतंत्र को मज़बूती और शक्ति प्रदान करते हैं? दूसरे शब्दों में, क्या ये आन्दोलन लोकतंत्र को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अधिक प्रभावशाली बनाते हैं? अथवा क्या सामाजिक आन्दोलन लोकतंत्र की कार्यवाही में बाधा उत्पन्न करते हैं?

17.2 लोकतंत्र का अर्थ

यद्यपि आज 'लोकतंत्र' की चर्चा हर जुबान पर है और यह लोगों की विश्व-व्यापी महत्त्वकांक्षा भी बन चुका है, अनेक विद्वान एवं राजनेता इसकी व्याख्या भिन्न तरीके से करते हैं। कुछ विद्वत्जन लोकतंत्र शब्द से पहले 'सच्चा' विशेषण लगाते हैं। उनके विचार से वर्तमान लोकतंत्र सच्चा नहीं है। यदि यह सच्चा नहीं है जो इसे 'लोकतंत्र' क्यों कहा जाये? लोकतंत्र शब्द प्राय: अबद्धता से प्रयोग किया जाता है। विभिन्न विचारधाराओं एवं दौत्य कार्यों के राजनेता लोकतंत्र शब्द का प्रयोग अपने कृत्यों को सही ठहराने के लिए करते हैं, जिनमें प्रतिद्वंद्वियों का कारावास, 'दूसरे' नृजातीय समुदाय का नरसंहार तथा मानवाधिकारों का उल्लंघन तक शामिल है। हाल ही में संयुक्त राज्य अमेरिका ने इराक़ पर युद्ध थोपा

ताकि वहाँ 'लोकतंत्र' स्थापित हो। अनेक तानाशाहों का दावा है कि वे लोकतंत्र के लिए – आम जनता के कल्याणार्थ काम कर रहे हैं। परिणाम: यह शब्द आग ज़्यादा पैदा करता है ताप कम देता है, या फिर, हमारे ज्ञान में संभ्रम को बढ़ाता है। चलिए, कुछ व्यापक रूप से प्रयुक्त परिभाषाओं पर नज़र डालते हैं:

- "लोकतंत्र/प्रजातंत्र/जनतंत्र यथा डिमॉक्रसी ग्रीक शब्दों डिमों (demos) अर्थात् 'लोक/प्रजा/जन' तथा क्रैतो (kratos) अर्थात् 'प्राधिकार' या 'सत्ता' से मिलकर बना है।"
- "लोकतंत्र जनता के लिए और जनता के ही द्वारा (चलाई जाने वाली) शासन-प्रणाली है।"
- " 'लोकतंत्र' शब्द का अपने आप में ही अर्थ है 'जनता द्वारा शासन'। लोकतंत्र एक ऐसी प्रणाली है जिसमें लोग एक शांतिपूर्ण तरीके से अपने शासकों को बदल सकते हैं और सरकार को शासन करने का अधिकार दिया जाता है क्योंकि जनता कहती है उसे आज्ञा है।"
- "... सरकार जो कि जनता की स्वतंत्र रूप से प्रदत्त सम्मति के साथ चलाई जाती है।"
- "शासन की एक प्रणाली जिसमें सर्वोच्च सत्ता जनता के पास ही रहती है।"
- "किसी देश में जनता द्वारा शासन-प्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिधित्व द्वारा।"
- "सरकार का वह रूप जिसमें राजनीतिक नियंत्रण सभी लोगों द्वारा प्रयोग किया जाता है, या तो सीधे या फिर अपने चुने हुए प्रतिनिधियों की मार्फत।"

उपर्युक्त परिभाषाओं में, लोकतांत्रिक व्यवस्था में 'जनता' अर्थात् जन/लोक/प्रजा प्रमुख है। परन्तु लोग समांगी या सजातीय नहीं हुआ करते। एक स्तरीकृत समाज में कुछ लोग ऐसे होते हैं जो आर्थिक रूप से, सामाजिक रूप से और राजनीतिक रूप से बहुत सशक्त या सबल होते हैं। और दूसरी ओर, कई लोग अशक्त या निर्बल होते हैं। वे अपनी आर्थिक उत्तरजीविता के लिए सबल पर ही निर्भर करते हैं। भिन्न-भिन्न सामाजिक एवं आर्थिक स्तरों की भिन्न-भिन्न रुचियाँ होती हैं। उनके पास भिन्न-भिन्न जीवन अवसर होते हैं। प्रणाली या तंत्र संबंधी उनकी समझ भी भिन्न-भिन्न होती है। इस प्रकार के एक स्तरीकृत और एकाधिक समाज में 'जनता' शब्द जटिल और भ्रामक हो जाता है।

17.2.1 लोकतंत्र के घटक

लोकतंत्र के तीन अनिवार्य और अधिव्यापक घटक हैं। ये हैं : (1) राजनीतिक संस्थाएँ, (2) राजनीतिक प्रक्रियाएँ, तथा (3) संतोषजनक कार्यवाही। लोकतांत्रिक प्रणाली में राजनीतिक संस्थाएँ, जैसे कि चुनाव-तंत्र तथा विधायिका नागरिकों को कार्यक्षेत्र और आवश्यक कार्य-प्रणाली उपलब्ध कराती हैं ताकि वे निर्णयन् प्रक्रियाओं में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भाग ले सकें। सरकार बनाने के लिए वे अपने प्रतिनिधि चुनते हैं; यह सरकार ही समग्र समाज के लिए जनता की ओर से निर्णय लेती है। ये प्रतिनिधि जन विभिन्न अभिकरणों, जैसे अधिकारी-वर्ग, पुलिस व सेना के माध्यम से अपने निर्णयों को क्रियान्वित करते हैं। वे सामाजिक संसाधनों व उनके प्रबंधन पर प्राधिकार का लाभ उठाते हैं। जब नागरिक जन अपने प्रतिनिधियों के साथ उनकी कार्यप्रणाली, निर्णयों व सत्ता-प्रयोग को लेकर संतुष्ट नहीं होते तो लोग उन्हें बदल देते हैं और दूसरे प्रतिनिधि चुनते हैं। इस अर्थ में लोगों के पास निर्णायक अधिकार होता है कि राज्य व समाज को कौन संभाले। यह लोकतंत्र का एक औपचारिक संस्थागत पहलू है।

निर्वाचित प्रतिनिधि अपनी मनमर्जी से समाज पर शासन्न नहीं कर सकते। कानून का शासन लोकतांत्रिक व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग है। इसका मतलब है कि शासकगण/प्रतिनिधिजन कानून से ऊपर नहीं है। ये प्रतिनिधि अपने अधिकार का प्रयोग करते हैं और संवैधानिक प्राधार के भीतर ही निर्णय लेते हैं, जो कि लिखित अथवा परिपाटी के अनुसार होता है और जो उनके अधिकार एवं दायित्व की व्याख्या करता है। लोकतंत्र में किसी एक संस्था की राजनीतिक सत्ता निरंकुश नहीं होती। विभिन्न संस्थाएँ एक दूसरे पर नज़र रखती हैं। यह एक नियंत्रणों व संतुलनों वाली व्यवस्था है। शासकगण जनता के ही प्रतिनिधि होते हैं और सामाजिक मामलों संबंधी निर्णयों एवं प्रबंधन हेतु लोगों के प्रति ज़िम्मेदार होते हैं। राजनीतिक संस्थाएँ इस प्रणाली के यथेष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति – आम भलाई तामील करने हेतु ही एक कार्य-प्रणाली हैं। इन संस्थाओं की कार्यप्रणाली इसीलिए पारदर्शी होनी चाहिए ताकि लोग सही और गलत के बीच फैसला कर सकें और उनमें भेद कर सकें।

राजनीति के बिना लोकतंत्र निष्प्राण शरीर है। राजनीति का अर्थ है – हितों और विचारधाराओं का विवाद और संघर्ष। राजनीति का संबंध संसाधनों, उनके प्रयोग एवं वितरण पर नियंत्रण से है। इसमें संसाधनों के प्रयोग एवं अधिशेष उत्पादन से संबंधित नीति-निर्माण में प्राथमिकताओं को पहचानने विषयक वाद-विवाद एवं निर्णय शामिल होते हैं। यह एक ऐसी प्रणाली है जिसमें सामाजिक विषयों पर विभिन्न दृष्टिकोण एवं वैचारिक उत्पत्तियाँ एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं। वे सत्ता के लिए होड़ करते हैं और राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित करते हैं। इसमें राजनीतिक संस्थाओं एवं नीति-निर्माताओं के साथ-साथ कार्यपालिका पर भी नज़र रखने की प्रक्रिया शामिल है।

महज चुनाव और चुने हुए प्रतिनिधियों की सरकार ही राजनीतिक व्यवस्था को लोकतांत्रिक नहीं बनाते। लोकतंत्र का वास्तविकता में अर्थ गिनती का खेल नहीं है, यथा अमुक का, अमुक के लिए और बहुमत द्वारा। उसे लोकतांत्रिक प्रणाली नहीं कहा जा सका यदि बहुमत द्वारा सरकार असहमति और विपक्षी दलों को नहीं रहने देती अथवा बहुसंख्यक वर्ग अल्पसंख्यक समुदायों को नष्ट कर देते है अथवा उन्हें अपने धर्म के पालन से रोकते हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्रबंधन अथवा प्रशासन कुछ आधारभूत नैतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सिद्धांतों पर टिका होता है – न सिर्फ़ धर्मनिरपेक्ष एवं मानवोचित हितों की रक्षार्थ अपितु उन्हें विस्तार प्रदान करने के लिए भी।

राजनीतिक संस्थाओं का उद्देश्य होता है – जनता की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति करना। इसका कर्म और लक्ष्य सभी का 'विकास' होना चाहिए; न कि समाज के किसी एक अथवा छोटे से वर्ग का ही। इस अर्थ में तीसरी दुनिया के 'विकासशील' समाजों में लोकतांत्रिक व्यवस्था एक सामाजिक कायांतरण की प्रक्रिया है ताकि इस व्यवस्था में सभी नागरिक समान क्षमता के साथ भागीदार बन सकें। सामाजिक और आर्थिक समानता इसलिए प्रभावी और व्यवहार्य लोकतंत्र का सारभाग है। अन्य सिद्धांतों व उद्देश्यों के अलावा, कानून के समक्ष समानता आवश्यक है परन्तु निर्णयन् प्रक्रिया में सभी लोगों की स्वतंत्र एवं समान भागीदारी हेतु यथेष्ट शर्त नहीं, खासकर उनकी जो कि अपेक्षाकृत निम्न और सर्वाधिक शोषित स्तर पर हैं। वास्तविकता में असमानता राजनीतिक व्यवस्था की प्रभावी कार्यवाही में बाधा डालती है। ऐसी स्थिति में इस बात की संभावना है कि लोकतांत्रिक संस्थाएँ पैसा और लाठी धारकों तक सीमित हो, कुर्सी दौड़ अथवा खो-खो का खेल बनकर ही रह जायें। राजनीतिक प्रक्रियाओं में अधिक असमानता वंचित वर्ग/वर्गों की प्रभावी एवं अर्थपूर्ण भागीदारी हेतु कम संभावनाओं में फलित होती है। सामाजिक,

सांस्कृतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में उनकी दोषपूर्णता उनके लिए इस बात की गुंजाइश कम ही छोड़ती है कि वे उनके समान बनें जो उत्पादन एवं प्रजनन प्रणाली में उच्च सोपानक में हैं। परजेय वर्ग के विकल्पों को इच्छानुकूलित करने हेतु सबल वर्ग की क्षमता उन दोनों के बीच दरार की सीमा से संबंधित होती है। अधिक व्यापक असमानता अपनी आवश्यकताओं एवं अधिकारों की माँग करते वंचित वर्ग हेतु कम अवसर प्रदान करने की प्रवृत्ति रखती है। एक स्वस्थ लोकतांत्रिक प्रणाली के लिए 'समान क्षमताओं के आदर्श को वास्तविकता में बदले जाने की आवश्यकता है। डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा के समक्ष इस बात पर ठीक ही ज़ोर दिया कि "हमें अपने लोकतंत्र को एक सामाजिक लोकतंत्र भी बना होगा। राजनीतिक लोकतंत्र तब तक नहीं चल सकता जब तक कि उसके मूल में सामाजिक लोकतंत्र न हो। सामाजिक लोकतंत्र का अर्थ क्या है? इसका मतलब है जीने का एक ढंग जो जीवन-सिद्धांतों के रूप में स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातत्व को मान्यता देता है। आज़ादी, बराबरी और भाईचारे के इस सिद्धांत-त्रय में इन बातों को अलग-अलग नहीं लिया जाना चाहिए। वे त्रय-संघ इस अर्थ में बनाते हैं कि एक को दूसरे से जुदा करने का मतलब होगा लोकतंत्र के यथार्थ उद्देश्य को ही धता बता देना ...''।

17.3 औपचारिक लोकतंत्र की सीमाएँ

संस्थाएँ कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु प्रबंध विज्ञान हैं। सदस्यता संयोजन, सत्ता व दायित्वों/कर्त्तव्यों का स्थान निर्धारित करती सांगठनिक व्यवस्था, संसाधनों पर नियंत्रण, निर्णयों को लिए जाने की कार्यवाही हेतु प्रक्रियाओं तथा दायित्वों को पूरा करने के लिहाज से उनके प्राधार काल और उद्देश्यों के प्रसंग में तैयार किए जाते हैं। वे संस्थाएँ जो किसी समय-बिंदु विशेष पर 'सफलतापूर्वक' काम कर सकती हैं, हो सकता है विभिन्न समय-बिंदुओं पर सफल ही न हों। ऐसा इस कारण हो सकता कि जिन उद्देश्यों को लेकर वे संस्थाएँ बनाई गई थीं, वे नई परिस्थितियों में महत्त्व खो देते हैं। या फिर इन संस्थाओं के बाहर की ताकतें बदल चुकी होती हैं और संस्थागत कार्यप्रणाली उनसे निबटने में सक्षम नहीं होती। उदाहरण के लिए, इंग्लैण्ड में दो-सदनी व्यवस्था ने 20वीं सदी-मध्य तक बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई — न सिर्फ़ एक दूसरे पर नज़र रखने के लिए बल्कि समाज में कुछ निरन्तरता कायम रखने और आभिजात्य एवं व्यावसायिक वर्गों से बौद्धिक लाभ उठाने के लिए भी। परन्तु एक कालावधि पश्चात् यही उच्च सदन फ़ालतू और सजावटी मात्र हो जाता है। या फिर एक और उदाहरण लेते हैं, द्वि-दलीय प्रणाली जो लोकतांत्रिक व्यवस्था के शुरूआती दौर में विद्यमान हितों को समंजित करने व स्थिरता प्रदान करने में सफल रही थी, अब उन सभी एकाधिक व अपसारी हितों के प्रतिनिधित्व में विफल है जो समाज के और अधिक लोकतंत्रीकरण के साथ ही उभरकर आये हैं। कोई भी संस्थागत प्राधार अथवा प्रतिक्रियाएँ सभी स्थितियों से निबटने में त्रुटिरहित नहीं हैं। एक, कभी-कभी वे बदलती परिस्थितियों के अनुसार ढलने में सक्षम नहीं होते और जिनके लिए उन्हें रचा गया है, उन उद्देश्यों की प्राप्ति में मदद करने की बजाय नई परिस्थितियों में अड़चन डाल सकते हैं। दूसरे, कोई भी संस्था सभी सम्भाव्यताओं को पूरा करने हेतु परिपूर्ण नहीं होती। तीसरे, संस्थाएँ कभी-कभी प्रक्रियाओं के दल-दल में फँस सकती हैं और मुख्य उद्देश्यों को अनदेखा कर सकती है। या फिर वे प्रक्रियाओं के ही दायरे में रहती हैं, जो कि उद्देश्यों हेतु सहायक नहीं हो सकतीं। उदाहरण के लिए, चुनाव-प्रणाली लोगों के विचारों, उम्मीदों व अपने प्रतिनिधि चुनने में अधिमानों को संतुष्ट करने के लिए बनाई जाती है, परन्तु हो सकता है ऐसे

प्रतिनिधियों को चुनने हेतु ऐसे लोगों को अवसर ही प्रदान न करती हो जो सच्चे अर्थ में उनकी आशाओं का प्रतिनिधित्व कर सकते हों।

संस्थाएँ महत्त्वपूर्ण तो होती हैं परन्तु राजनीति के यथार्थ पहलू को हासिल करने में सदा पर्याप्त नहीं। वे जनता को सीमित विकल्प उपलब्ध कराती हैं। सामाजिक आन्दोलन संस्थाओं को सुधारने के लिए नीति-निर्माताओं पर दबाव डालते हैं, नई संस्थाओं का निर्माण करते हैं, सत्ता के दुरुपयोग पर नियंत्रण रखते हैं और लोगों की आवश्यकताओं एवं आशाओं को स्पष्ट करते हैं। ये आन्दोलन ही सामाजिक कायांतरण के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं, जो कि लोकतंत्र का उद्‌देश्य ही होता है। इसके अलावा, जैसा कि डैविड बेली का तर्क है, सार्वजनिक विरोध-प्रदर्शनों में एक प्रकार की 'प्रकार्यात्मक उपयोगिता' है, यहाँ तक कि संसदीय स्वरूप वाली सरकार में भी। वे शासकों को अपनी ठोकर पर रखते हैं। वे उस जगह 'सेटी वाल्व' का भी काम करते हैं जहाँ लोग अपनी शिकायतें व्यक्त करते हैं। इससे सरकार को बढ़ते असंतोष और आवेगों के खिलाफ़ चेतावनी मिलती है; और वह सुधारवादी उपचारी उपायों की ओर प्रवृत्त होती है। इस प्रकार, सामाजिक आन्दोलन लोकतंत्र के लिए सम्पूरक की भूमिका निभाते हैं।

17.4 जन-राजनीति व जनान्दोलन

विलियम कॉर्नहाउज़र, रॉबर्ट निस्बेट एवं एडवर्ड शिल जैसे कुछ समाजशास्त्रियों का कहना है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था ने अनेक संस्थाओं को विकसित किया है ताकि जनता की ओर से सामाजिक मामलों को निबटाया जा सके। यह व्यवस्था आवधिक चुनावों के माध्यम से अपने प्रतिनिधियों को अपनी इच्छाएँ, शिकायतें व समस्याएँ व्यक्त करने के अवसर प्रदान करती है। लोग चुनावों में अपने प्रतिनिधि बदल सकते हैं। किन्तु इन विद्वानों के अनुसार, जन-आन्दोलन के रूप में प्रत्यक्ष सामूहिक कार्रवाइयाँ 'लोकतंत्र-विरोधी' होती हैं। इस प्रकार के आन्दोलन चुने हुए प्रतिनिधियों पर अनावश्यक दबाव डालते हैं और राजनीतिक संस्थाओं की कुशल कार्यवाही में बाधा उत्पन्न करते हैं। सरकार को प्राय: विभिन्न दिशाओं में घसीटा जाता है और उस पर मुद्‌दों के गुण-दोषों की बजाय दबावों के अधीन नीतिगत निर्णयों को लिए जाने पर ज़ोर डाला जाता है। यह जनाधिकारवादी राजनीति का मार्ग प्रशस्त करता है। इसी कारण, ये विद्वत्जन लोकतांत्रिक व्यवस्था से आन्दोलनों को बाहर रखने के पक्ष में हैं। 'पचास व 'साठ के दशकों में कुछ भारतीय विद्वानों ने, जो विदेशी शासन से मुक्ति हेतु आन्दोलन को स्वीकार करते थे, स्वातंत्र्योत्तर काल में आन्दोलनों की स्वीकृति नहीं दी। उन्होंने उनको 'सभ्य समाज' के लिए 'खतरनाक' और 'निष्क्रियात्मक' बताकर उनकी तत्काल आलोचना की। उनमें से एक का कहना था – 'यदि उन कारणों को उचित न ठहरा पायें तो भी हम समझ सकते हैं कि किस बात ने लोगों को प्रवृत्त किया कि एक परतंत्र देश में उस हर चीज़ की तीखी आलोचना करें और उसे नष्ट कर दें जो विदेशी शासन का प्रतीक अथवा उसकी अभिव्यक्ति हो। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि लोग अब तक ऐसे व्यवहार करते हैं मानो वे विदेशियों द्वारा शासित किसी परतंत्र देश में ही रह रहे हों।' वे सीधी कार्रवाई हेतु आम जनता को उकसाने के लिए विपक्षी दलों, नेताओं व श्रमिक संघों को दोष देते हैं।

17.5 भारत में लोकतंत्र और सामाजिक परिवर्तन

गत पाँच दशकों के दौरान लोकतांत्रिक व्यवहार की कार्यवाही हमारे पारंपरिक रूप से अधिक्रमित समाज

में कुछ सकारात्मक परिवर्तन लायी है। सामाजिक व्यवस्था का ब्राह्मणवादी प्राधार अवैध ठहरा दिया गया है। कानून का शासन, समान नागरिकता, सामाजिक व आर्थिक समानता आदि विधिसंगत व्यवस्था में संहिताबद्ध हैं और बनाए रखने एवं प्राप्त करने योग्य नैतिक सिद्धांतों के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। इस प्रक्रिया में राजनीतिक पद अब उच्च जातियों – ब्राह्मणों, राजपूतों और बनियों के ही परमाधिकार नहीं रहे हैं। अनेक क्षेत्रों में, सत्ता में उनके सीट-अनुपात में भारी कमी आयी है। मध्यम और निम्न जातियों ने उनकी शक्ति को चुनौती दी है। निम्नतम सामाजिक स्तर से भले ही एक छोटा सा समूह, दलित वर्ग व जनजातियों का उदय एक राजनीतिक अभिजात वर्ग के रूप में हुआ है और वे राज्य के निर्णयन् में काफी भागीदारी पाती हैं, वे सरकार के निर्माण में अवश्य ही महत्त्वपूर्ण, जबकि कभी-कभी निर्णयक भूमिका भी निभाती हैं। इसी प्रकार, महिलाओं ने भी बेहद कम संख्या में होने के बावज़ूद राजनीतिक सत्ता में भाग लेना और अधिकारों की माँग करना शुरू कर दिया है। इस प्रकार राजनीतिक आभिजात्यों का दायरा बढ़ा है।

इस प्रणाली का एक सबसे प्रभावशाली सकारात्मक योगदान यह है कि निम्न सामाजिक स्तर के लोग चुनावी प्रक्रियाओं में भाग लेते हैं और अपने मताधिकार का प्रयोग करते हैं। वे अपनी आवश्यकताओं, आशाओं, शिकायतों व अन्य रोषों को भी उनके विरुद्ध व्यक्त करते हैं जो पदासीन होते हैं और परिवर्तन की इच्छा रखते हैं। अपने वोटों के माध्यम से वे प्राय: सत्ता से राजनेताओं व पार्टियों के एक समूह को निकाल फेंकते हैं, और दूसरों को लाते हैं, इस उम्मीद से कि यह विकल्प बेहतर सिद्ध होगा। जहाँ तक कि सत्ता धारण करने का संबंध है, कोई भी व्यक्ति निर्वाचक वर्ग को हल्केपन से नहीं ले सकता। इस अर्थ में निर्वाचित प्रतिनिधि जन 'जवाबदेह' होते हैं। वे पाँच वर्षों में कम से कम एक बार जनता की सम्मति प्राप्त करने को बाध्य हैं। इस प्रणाली ने विसम्मति के लिए जगह रखी है और वो जगह ही आगे और अधिक कायापलट होने की जानिब एक उम्मीद है। वोट पाने के लिए राजनेतागण पाँच सालों में एक बार हथकण्डों और तथाकथित 'जनवादी' राजनीति का सहारा लेते हैं जो कि हो सकता है 'लॉलिपॉप' ज़्यादा कुछ न हो। कुछ एक – मुट्ठीभर लोग कुछ टुकड़े ज़रूर पा जाते हैं। इससे इस उम्मीद को कायम रखने में मदद मिलती है कि किसी न किसी दिन लाभों में सभी को हिस्सा मिलेगा और वे अपनी किस्मत चमका सकेंगे।

लोकतांत्रिक प्रणाली ने विभिन्न संस्थाओं को भी जन्म दिया है जो कि काफ़ी हद तक एक दूसरे पर नियंत्रण कायम रखती हैं। कानूनी कार्यप्रणाली विरोधी विचारों को व्यक्त करने व शासकों की करतूतों को प्रकाश में लाने की स्वतंत्रता प्रदान करती है। उनकी कार्रवाई की जवाबदेही हेतु राज्य पर दबाव बनाये जाते हैं। अधिकार-माँग एवं स्वयं उनके द्वारा परिवर्तन हेतु ये प्रावधान एवं कार्यक्षेत्र यथेष्ट नहीं पर महत्त्वपूर्ण अवश्य हैं। कानूनी प्रावधान एवं संस्थागत कार्यप्रणाली में विकृति आने का अंदेशा रहता है और उन्हें लोकतंत्र की गुंजाइश समाप्त करने में प्रयोग किया जा सकता है। वस्तुत: संस्थानिक लोकाचार और कार्यप्रणाली का वैयक्तिक सत्ता व हितों की खातिर निरंतर क्षय होता जा रहा है। लोकतंत्र जाति, लिंग व धर्म पर ध्यान न देते हुए कुछ लोगों का खेल बन चुका है जो अपने व्यक्तिगत हितों को बनाये रखने के लिए लाठी और पैसे की शक्ति का छलयोजन करते आये हैं या कर सकते हैं। अपनी सत्ता के लिए वे लोकतंत्र के सभी प्रतिमानों की उपेक्षा करते हैं व उनकी अवहेलना करते हैं राजनीति में आपराधीकरण अक्षुण्ण रूप से बढ़ा है। लोकतंत्र के वर्तमान वैस्टमिंस्टर मॉडल को धनसम्पन्न वर्गों के प्रभुत्व को कायम रखने के लिए छलयोजित कर लिया गया है। लगता है समाज में वर्तमान व्यवस्था जो

भी परिवर्तन ला सकती थी, चरम सीमा तक ले आयी है और अब वह ह्रासमान वापसी की ओर है। लोकतांत्रिक व्यवस्था के पचास वर्षों के बाद भी केवल 40 प्रतिशत जनता को ही पेय जल, शिक्षा व स्वास्थ्य जैसी मौलिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं। पाँच में एक घर अब भी 'दीन-हीन', अथवा वंचन की 'औसत' दशा में ही रहता है, जैसे बहुत थोड़ा पेय जल, पक्का (ईंट का) मकान व शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच की तो बात ही न करें। इन सेवाओं की गुणवत्ता और उनसे संतुष्टि वाञ्छित स्तर पर होने से अभी काफी दूर है।

समाज सेवा के कुछ क्षेत्रों में काफी सुधारों के बावज़ूद कुछ बाधक वैपरित्य भी हैं। शिशु मृत्यु दर (IMR) पिछले दशक में लगभग स्थिर ही रही। निर्धन वर्ग के पोषण स्तर और कैलोरी अन्तर्ग्रहण में गिरावट आयी है। लगभग 1.2 करोड़ लोग विटामिन-ए की कमी से पीड़ित हैं। शून्य से 3 वर्ष की आयु-वर्ग के लगभग पचास प्रतिशत बच्चे कुपोषण का शिकार हैं। देश के विभिन्न भागों में कृषि व ग़ैर-कृषि क्षेत्र से जुड़े श्रमिकों के वेतन बढ़ती कीमतों के अनुसार नहीं बढ़े हैं। अत: ऐसे श्रमिकों की क्रय क्षमता 'अस्सी के दशक जितनी ही बनी हुई है। 6.5 करोड़ टन खाद्यान्न के अधिशेष के बावज़ूद लगभग 32 करोड़ लोगों को हर रात भूखे पेट ही सोना पड़ता है। वर्ष 2004 में उड़ीसा, मध्य प्रदेश व राजस्थान जैसे अनेक राज्यों में भूख से हुई मौतों की अनेक खबरें मिलीं। सामाजिक/ व्यावसायिक समूहों के बीच असमानता की कोई कमी नहीं आयी है, वास्तव में, यह पिछले दशक के दौरान बढ़ी ही है। इसके साथ ही, लिंग व सामाजिक प्रस्थिति पर आधारित भेदभाव भी बढ़ा है। बच्चों के बीच लड़की-लड़का अनुपात में एक आश्चर्यजनक गिरावट आयी है – 1991 में प्रति 1000 लड़कों के मुकाबले 945 लड़कियाँ (0-6 आयु-वर्ग में) से 2001 में प्रति 1000 लड़कों के मुकाबले 927 लड़कियाँ। महिलाओं के प्रति घरेलू हिंसा में कमी का कोई लक्षण नहीं दिखाई दिया। दहेज-प्रथा उन विभिन्न सामाजिक समूहों में बढ़ी है जहाँ वह अतीत में कभी नहीं थी। इसी प्रकार, दलितों, जनजातियों व अल्पसंख्यकों के खिलाफ़ अत्याचार भी बढ़े हैं।

औद्योगिक क्षेत्र में आर्थिक विकास ऊँचा रहा है और नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था के तहत गत दशकों में तेज़ हुआ है। परन्तु उच्च विकास दर ने ग़रीबों को अपनी मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने तक भी लाभ नहीं पहुँचाया है। कुल मिलाकर यह संगठित क्षेत्र के विखण्डन को बढ़ाती एक बेरोज़गार वृद्धि है। बाज़ारों ने कार्यबल के लिए सुरक्षा-तंत्र विकसित नहीं किए हैं और जनता का एक बड़ा हिस्सा सामाजिक व आर्थिक सुरक्षा के अभाव में ही है। ह्यूमन डिवैलॅपमण्ट इन साउथ एशिया विषयक एक रिपोर्ट बताती है कि इस भूभाग में कार्यरत बहुपक्षीय संगठनों का पूरा ध्यान समग्र घरेलू उत्पाद (GDP) वृद्धि और बजट संतुलन पर केन्द्रित है, न कि ग़रीबी घटाने पर। यहाँ सरकारों ने रोज़गार पैदा करने संबंधी कोई एक सुस्पष्ट नीति प्रतिबद्धता के रूप में अंगीकार नहीं की है।

लोकतांत्रिक प्रणाली के गत पाँच दशकों के दौरान अनेक ग़रीबों ने अपनी आजीविका के पारंपरिक संसाधन खो दिए हैं जो कि उन्हें अपनी दरिद्रता से निबटने में कुछ राहत पहुँचाया करते थे। साझा-भूमि, वन व जल जैसे सार्वजनिक संसाधनों पर प्रबल वर्गों व लठैतों द्वारा अधिकार जमा लिया जाना उत्तरोत्तर जारी है। तथाकथित विकास के नाम पर सरकार ने अनेक जनजातीय व ग़ैर-जनजातीय किसानों से उनकी भूमि एवं वास-स्थान भी छीन लिए हैं। इन पीड़ितों पर दबाव डाला गया है कि सरकार का फैसला मानें। वैकल्पिक उपायों का हालाँकि कभी-कभी वायदा किया गया, पर वे काग़ज़ पर ही रहे या फिर कुछ एक को ही मुहैया हुए। विकास के अन्य पीड़ितों में से अधिकांश को निस्सहाय ही छोड़ दिया गया।

अधिकतर वायदे जो भारतीय संविधान में किए गए, जिनती बुनियाद पर गणतंत्र खड़ा है, अभी तक पूरे नहीं किए गए हैं। अनुच्छेद 21 गरिमा के साथ रहने का अधिकार प्रदान करता है। अनुच्छेद 41 राज्य को निर्देश देता है कि वह काम, शिक्षा एवं बेरोज़गारी, वृद्धावस्था, रुग्णता व अशक्तता के मामलों में लोक सहायता का अधिकार सुनिश्चित करने के लिए प्रभावी प्रावधान बनाए। अनुच्छेद 45 भी राज्य को निर्देश देता है कि संविधान लागू होने के 10 वर्षों की अवधि के भीतर 14 वर्ष की आयु पूरी होने तक सभी बच्चों के लिए नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करे। लोग हर चुनाव में इस उम्मीद के साथ वोट डालने जाते हैं कि उनके प्रतिनिधिजन अपने वायदे गंभीरता से पूरे करेंगे।

विडम्बना ही है कि लोकतंत्र का प्रयोग कुछ लोगों की सत्ता को कायम रखने के लिए किया जाता है ताकि वे सभी के भाग्य का फैसला कर सकें। इस प्रणाली को चुनावी इंजीनियरी बनाकर रख दिया गया है जो कि विशाल जन-बाहुल्य के लिए एक सेटी वॉल्ब का काम करती है ताकि वे अपनी शिकायतें प्रकाश में ला सकें और अपना भरोसा मज़बूत कर सकें कि नए प्रतिनिधिजन – विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा उनके लिए कुछ बेहतर ही किया जायेगा। अधिकतर लोग असहाय ही महसूस करते हैं क्योंकि उनके पास इस प्रणाली में विश्वास रखने के सिवा कोई चारा नहीं है, ठीक उसी तरह जैसे वे ईश्वर में विश्वास रखते हैं कि वह सर्वशक्तिमान हमारे भाग्य में श्री वृद्धि करेगा। निर्वाचित प्रतिनिधिजन आर्थिक नीति-निर्धारण के लिए बहुराष्ट्रीय एवं घरेलू प्रबल वर्गों के निर्णयों का पालन करते हैं, जो कि एक ओर अजीविका एवं सुरक्षा संबंधी उनके पारंपरिक स्रोत हथिया लेती है और फिर उत्तरोत्तर बेरोज़गारी तथा सामाजिक असुरक्षा को जन्म देती है।

राज्य की आर्थिक नीतियों को प्रभावित करने में लोगों के पास कोई लोकतांत्रिक विकल्प नहीं होता। जैसा कि के.सी. सूरी इकॉन्मिक एण्ड पॉलिटिकॅल वीकली में 2004 के आनुभाविक चुनावी आँकड़ों के साथ प्रकाशित अपने लेख में दर्शाते हैं कि विशाल जन-बाहुल्य स्वास्थ्य, शिक्षा, जल, वन आदि निजीकरण नहीं चाहता। ये लोग परिसम्पत्तियों को समान वितरण, सुरक्षित रोज़गार और विकास जनित लाभों में हिस्से की माँग करते हैं। वर्तमान विकास प्रतिमान, जैसा कि सी. दूगला ल्यूमी अपनी पुस्तक रैडिकल डिमॉक्रसी में बताते हैं, "अनेक तरीकों से लोकतंत्र-विरोधी है। वह लोकतंत्र-विरुद्ध इस बात में है कि वह श्रम संबंधी ऐसे प्रकारों, प्रतिबंधों व परिणामों को अपेक्षा करता है जिन्हें लोग स्वतंत्रता की दशा में कभी पसंद नहीं करेंगे और, ऐतिहासिक रूप से, न कभी किया है। क्या किसी समाज को केवल कोई न कोई अलोकतांत्रिक प्राधार प्रदान करके ही लोगों को बाध्य किया जा सकता है कि वे अपने जीवन का काफी बड़ा हिस्सा खेतों कारखानों, अथवा कार्यालयों में 'कुशलतापूर्वक' काम करते रहें और उसका आधिशेष मूल्य पूँजीवादियों, प्रबंधकों, समाजवादी-पार्टी नेताओं अथवा तकनीक-तंत्रियों को सौंपते रहें।'' लगभग दो दशक पूर्व रजनी कोठारी ने ठीक ही कहा था : "आज राज्य को आम आदमी के प्रति विश्वासघाती के रूप में देखा जाता है, जैसे कि प्रबल वर्गों व उनके अन्तर्वती संरक्षकों का वह क़ैदी बन गया हो और जैसे कि वर्धमानत: जन-विरोधी रूप लेता जा रहा हो। न ही उसने ऐसे कोई आमूल मध्यवर्गीय परिवर्तन के साधन जुटाये हैं जिनकी गतिकता से कोई क्रांतिकारी विकल्प उभरकर आयें। तीसरी दुनिया में राज्य, कुछ देशों में समर्पित नेताओं द्वारा किए जा रहे कुछ पराक्रमी प्रयासों के बावज़ूद, एक तकनीक-तंत्री यंत्र में अध:पतित हो गया है जो कि शीर्ष पर सुरक्षाकर्मी धारकों द्वारा और तल पर दमन व आतंक की एक शासन-प्रणाली द्वारा सत्ता में रखा जाता है; लाखों मेहनती लोगों द्वारा यह जारी रखा जाता है जिनको

कि 'प्रणाली' हेतु सामान व सेवाएँ उत्पादित करते ही रहना चाहिए क्योंकि अगर वे ऐसा नहीं करेंगे तो हर चीज़ ढह जायेगी।''

17.6 बढ़ती अपेक्षाएँ, निराशा एवं लोकतांत्रिक प्रणाली

सभी समाजों में सामाजिक आन्दोलनों की संख्या और संरक्षण-क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में वृद्धि हुई है, जिनमें लोकतांत्रिक व्यवस्था भी शामिल है। ऐसा मुख्य रूप से इसलिए है कि जनता की बढ़ती आकांक्षाएँ वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं द्वारा पर्याप्त रूप से पूरी नहीं हो रही हैं, जो कि अनम्य हैं या फिर अक्षम। हंटिंगटन, रजनी कोठारी व अन्य कई लेखकों का कहना है कि जैसे लोगों की आशाओं और प्रणाली के कार्यप्रदर्शन के बीच दरार चौड़ी होती जाती है, आन्दोलनों के रूप में जन-विद्रोह बढ़ता है। एलेन टूरेन एवं ज़ुर्जे हैबरमा का तर्क है कि उत्तर-आधुनिक समाज में लोकतांत्रिक व्यवस्था वैयक्तिक स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातत्व का जिम्मा लेने में अक्षम है। इन सिद्धांतियों के दृष्टिकोण में लोकतंत्र एक सत्तावादी, तकनीक-तंत्री राज्य में अपह्रासित होता जा रहा है। राज्य फलतः विपणन शक्तियों के वशीभूत होता जा रहा है। राज्य का तकनीक-तंत्र तथा विपणन शक्तियाँ ही तदनुसार लोगों पर हावी रहती हैं। श्रमिक-वर्ग अब नज़र नहीं आता, बस केवल उपभोक्ता-वर्ग ही दिखाई पड़ता है। श्रमिकों का पुराना वर्ग अब उत्पादन प्रक्रिया में लगा वर्ग नहीं रहा है। इसकी बजाय लोगों की मुख्य सामाजिक भूमिका अब उपभोक्ताओं वाली भूमिका बनकर रह गई है। इस भूमिका में लोगों को पूरी तरह बाज़ार द्वारा ही छलयोजित किया जाता है। हैबरमा के अनुसार, सामाजिक आन्दोलनों को राज्य-व्यवस्था एवं बाज़ार अर्थव्यवस्था के हमलों के विरुद्ध व्यक्तियों के सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र का बचाव करने के लिए रक्षात्मक प्रतिक्रियाओं के रूप में देखा जाता है।

'साठ के दशक में, भारत में संसदीय लोकतंत्र की सीमाओं का उल्लेख करते हुए, ए.आर. देसाई ने कहा : "सरकार का संसदीय स्वरूप, एक राजनीतिक सांस्थानिक युक्ति के रूप में जनता के यथार्थ लोकतांत्रिक अधिकारों को सातत्य अथवा विस्तार प्रदान करने हेतु अपर्याप्त सिद्ध हुआ है। यह स्वरूप या तो समाज की प्रक्रिया में सचेत रूप से भाग लेने हेतु लोगों के लिए अवसरों को बाधित अथवा कम करते हुए एक ऐसे कवच के रूप में काम करता है जिसके भीतर पूँजी का अधिकार स्वयं ही चिरस्थायी रहता है, या फिर अपने आपको उत्तरोत्तर एक ऐसी निरंकुशता में तब्दील करता रहता है, जहाँ पूँजी अपने कुछ मिथ्यादावों को छोड़ देती है और निर्बन्ध निर्दय व निरंकुश साधनों द्वारा शासन करती है। जन-विरोध तब तक होते ही रहेंगे जब तक कि लोग उन देशों में पूँजी के शासन को समाप्त नहीं कर देंगे जहाँ यह अभी तक कायम है। वे उन अधिकारी-तंत्रीय सर्वसत्तात्मक राजनीतिक शासन-प्रणालियों के खिलाफ़ भी चलते रहेंगे जहाँ पूँजी का शासन समाप्त हो गया है, परन्तु जहाँ कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण स्टालिनवादी अधिकारी-तंत्रीय, आतंकवादी राजनीतिक शासन-प्रणालियाँ उभरकर आयी हैं। लोगों के आन्दोलन एवं विरोध-प्रदर्शन तब तक जारी रहेंगे जब तक कि यथार्थ लोकतांत्रिक अधिकारों के अहसास और अभ्यास के लिए पर्याप्त राजनीतिक सांस्थानिक स्वरूप नहीं तलाश लिए जाते।''

रजनी कोठारी का यह भी मानना है कि भारत में 'लोकतंत्र' बढ़ते भ्रष्टाचार, आपराधीकरण, दमन एवं विशाल जनसमुदाय के अभित्रास हेतु एक क्रीड़ा-स्थल बन गया है। "हवा में असंतोष और निराशा व्याप्त है – अब तक उच्च रूप से विकसित, विखण्डित और असंगठित। परन्तु अधिकारों के प्रति एक बढ़ती

जागरूकता है, राजनीतिक रूप से अनुभवित और राजनीतिक रूप से ही व्यक्त, तथा व्यापकत: अब तक राज्य पर ही अभिलक्षित। जब कभी भी संघटन की कोई कार्यप्रणाली प्रस्तुत हुई, इस चेतना ने अभिव्यक्ति पाई, प्राय: बहुत भारी भिन्नताओं के खिलाफ़, उन हितों के समूह विरुद्ध जो इतने शक्ति-सम्पन्न और आत्मतुष्ट हैं कि विशेषाधिकारों को छोड़ (यहाँ तक कि बाँट भी) नहीं सकते हैं। तल में यह समाज के एक प्रतिमान विरुद्ध चेतना जो कि उस दरिद्र एवं अकिञ्चन वर्ग की दुर्दशा के प्रति सुविचारित उदासीनता पर टिकी है जो भूखमरी के कगार पर धकेला जा रहा है – स्वयं इस प्रतिमान का ही तर्क देकर।'' इस तरह के परिदृश्य में तृणमूल स्तर पर आवश्यक भी है और अभीष्ट भी। चुनाव प्रणाली, राजनीतिक दल व स्थापित श्रमिक संघ सामाजिक बदलाव लाने के लिए जनसाधारण को स्थान ही नहीं देते हैं। "उनके स्थान पर प्रतिकरण का, जोरदार विरोध प्रवृत्तियों का, वाम-संस्कृति आन्दोलनों का और अधिक व्यापक रूप से वर्तमान विचार एवं व्यवहार प्रतिमानों के प्रति एक प्रतिचुनौती का नया रणक्षेत्र उभर रहा है।''

17.7 आन्दोलन और लोकतंत्रीकरण

जैसा कि हमने ऊपर देखा, अनेक विद्वानों का मानना है कि सामाजिक आन्दोलन विभिन्न तरीकों से लोकतंत्र में सकारी भूमिका निभाते हैं। एक, सामाजिक आन्दोलन लोगों की राजनीतिक चेतना का ही परिणाम होते हैं। अपनी माँगों का दावा करने हेतु यह एक जन-चेतना की ही अभिव्यक्ति है। दूसरे, सामाजिक आन्दोलन राजनीतिक मुद्दों पर लोगों की भागीदारी को बढ़ावा देते हैं। संघर्ष की कार्यसूची को सामने रखते हुए उसके नेतागण भागीदारों के साथ उन मुद्दों के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करते हैं या उन्हें स्पष्ट करते हैं। बातचीत की एक ऐसी प्रक्रिया लोगों की चेतना विकसित करने व तीव्र करने में भी योगदान देती है। राजनीतिक भागीदारी और जन-चेतना लोकतंत्र की रीढ़ हैं। तीसरे, सामाजिक आन्दोलनों की सफलता और प्रभावकारिता संघटन की आयति पर निर्भर करती हैं। वृहत्तर संघटन राजनीतिक क्षितिज को विस्तार प्रदान करता है तथा समाज के और अधिक लोकतंत्रीकरण की ओर ले जाता है। चौथे, सामाजिक आन्दोलन जनसाधारण की आकांक्षाओं, आवश्यकताओं व अपेक्षाओं को व्यक्त करते हैं जो कि सिर्फ़ सामूहिक कार्रवाई के माध्यम से ही अधिकार-माँग कर सकते हैं और प्रभावशाली बन सकते हैं। वे नीति-निर्माताओं को सतर्क और अपने निर्णयों के प्रति जवाबदेह बनाये रखते हैं। पाँचवें, अनेक सामाजिक आन्दोलन नीति-निर्माताओं पर प्रभाव डालते और उन्हें बाध्य करते हैं कि वे उनके हितों को प्रोत्साहन एवं संरक्षण प्रदान करते हुए उनकी माँगों को पूरा करने के लिए कानून बनायें। नीचे कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

इकाई 13 में हमने स्वतंत्रतापूर्व और उत्तर काल में विभिन्न श्रमिक आन्दोलनों के विषय में पढ़ा। 'बीस व 'तीस के दशकों में देश के विभिन्न भागों में अनेक किसान आन्दोलन हुए। उनमें से कुछ स्थानीय किसानों के स्वयं-जात थे और कुछ किसान सभा, गांधीवादियों एवं वाम दलों द्वारा आयोजित। ये आन्दोलन काश्तकारों/बटाईदारों/हरवाहों हेतु भूमि की माँग करते हुए, ज़मींदारों के खिलाफ़ उठे। अनेक स्थानों पर यह माँग जबरन काम लिए जाने को समाप्त किए जाने के लिए थी। इस प्रकार के आन्दोलनों ने कांग्रेस पार्टी को प्रभावित किया, जिसने स्वतंत्रता आन्दोलन की ओर प्रवृत्त किया। पंडित नेहरू ने लिखा है, "कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास इस बात में फलित हुआ कि किसान जन-समूह कांग्रेस में शामिल होने लगा और उसे अनेक बोझों से राहत पाने की नज़र से देखने

लगा। इसने कांग्रेस की शक्ति को बढ़ा दिया और इसी के साथ ही उसने पार्टी को एक व्यापक दृष्टिकोण प्रदान कर दिया। यद्यपि नेतृत्व मध्यवर्ती ही रहा, इसको नीचे से पड़ रहे दबाव द्वारा उचित परिणाम में लाया गया, और कृषिक व सामाजिक समस्याएँ कांग्रेस को उत्तरोत्तर घेरती रहीं ... स्वतंत्रतार्थ संघर्ष का मतलब राजनैतिक आज़ादी से कहीं बढ़कर हो गया, और सामाजिक संतोष उसी के साथ जुड़ गया।'' 1946 के अपने घोषणा-पत्र में कांग्रेस ने निश्चित रूप से कहा कि "भूमि व्यवस्था का सुधार जो कि भारत की तत्काल आवश्यकता है, में किसान और राज्य के बीच बिचौलियों का खात्मा किया जाना शामिल है।'' स्वतंत्रता के शीघ्र पश्चात् ही अनेक राज्यीय/ प्रांतीय सरकारों ने भू-संपत्ति में मध्यवर्ती हितों को समाप्त किए जाने के लिए कानून बनाने में पहल की। ज़मींदारी प्रथा, बेगार आदि को ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया गया।

तथापि, ये कानून अधिकांश राज्यों में तेज़ी और कुशलता के साथ लागू नहीं किए गए। 'पचास के दशकांत तक ज़मींदारों और सम्पन्न किसानों के खिलाफ़ देश के विभिन्न भागों में ग़रीब-किसान आन्दोलनों की कतार ही लग गई। सर्वाधिक प्रभावकारी एवं व्यापक आन्दोलन था – नक्सलबाड़ी, जो पश्चिम बंगाल में शुरू हुआ और देश के अनेक हिस्सों में फैल गया। 'साठ के दशक में समाजवादी व वामपंथी दलों ने भूमि हड़पों आन्दोलन चलाए। कृषि श्रमिकों के अनेक साधारण जन आन्दोलन भी थे जो ऊँचे वेतन तथा फ़ालतू भूमि को वितरित किए जाने की माँग कर रहे थे। इन वर्गों को शांत करने और चुनावों में उन्हें लुभाने के लिए इन्दिरा गाँधी ने एक नारा दिया "ग़रीबी हटाओ''; और दरिद्रता उन्मूलन के लिए अनेक कार्यक्रम चलाए। तथापि, ग़रीब किसानों और श्रमिकों के आन्दोलन 'सत्तर के दशक से व्यापक और सशक्त नहीं रहे हैं।

'बीस के दशक में डॉ. अम्बेडकर ने अस्पृश्यता के खिलाफ़ दलितों के अनेक आन्दोलन चलाये, जिनमें शामिल थे – मंदिरों में प्रवेशाधिकार, सार्वजनिक जलाशयों से पानी लेना, सार्वजनिक सड़कों का प्रयोग, आदि। 'तीस के दशक में उन्होंने पृथक् निर्वाचक वर्ग के लिए एक आन्दोलन चलाया। गाँधीजी व हिन्दू वर्ग ने इसका विरोध किया। गाँधीजी फिर दलितों की माँगों के खिलाफ अनशन पर चले गए। इस घटना ने गाँधीजी व अम्बेडकर के बीच प्रसिद्ध 'पूना संधि' की ओर प्रवृत्त किया। परिणामस्वरूप गाँधीजी ने आरक्षित सीटों को स्वीकार कर दिया और अम्बेडकर ने एक संयुक्त निर्वाचक वर्ग की बात मान ली। इस विवाद ने तदोपरांत घटनाओं पर असर डाला। एम.एस. गोर लिखते हैं, "इस बात में संदेह है कि पूना अनशन और तदोपरांत अस्पृश्यता कार्य पर गाँधीजी के ज़ोर दिए जाने के बग़ैर क्या संविधान सभा के लिए 1947 तक पर्याप्त मत-परिवर्तन आ सकता था, जिससे कि अस्पृश्यता समाप्त घोषित हो जाती, आरम्भ में दस वर्षों की अवधि के लिए विधानमंडलों में 'अनुसूचित जातियों' के लिए आरक्षित सीटें मिल जातीं और उनके लिए विशेष रक्षात्मक उपायों के प्रावधान हेतु सहमति बन जाती? समान रूप से यह भी संभव है कि अम्बेडकर के विरोध-प्रदर्शन और विचक्षण नेतृत्व के बिना न तो पूना उपवास और संधि होते, न ही तदोपरांत जनमत मंथन।''

ठीक इसी प्रकार हम नारी, आदिवासी, संगठित कामगार वर्ग, आदि आन्दोलनों के ऐसे ही प्रभाव का मूल्यांकन विभिन्न मुद्दों पर राज्य-नीतियों के बनाये जाने में कर सकते हैं। नागा व मिज़ो, पंजाब, आंध्र, गुजरात, महाराष्ट्र, झारखण्ड, उत्तराखण्ड आदि के क्षेत्रीय व नृजातीय आन्दोलन भाषायी अथवा नृजातीय राज्यों के निर्माण में परिणत हुए। आमतौर पर भ्रष्टाचार और खासतौर पर राजनीतिक भ्रष्टाचार के

मुद्दे पर गुजरात में 1974 का नवनिर्माण आन्दोलन सरकार को बदल दिए जाने में परिणत हुआ। राज्य विधानसभा के सभी मंत्रियों और सदस्यों को इस्तीफ़ा देने पर मज़बूर कर दिया गया।

17.8 लोकतंत्र-विरुद्ध आन्दोलन

तथापि, यह बात उल्लेखनीय है कि सभी आन्दोलन स्वभावत: ज़रूरी नहीं कि लोकतंत्रीकरण की ओर ले ही जाते हों। जैसा कि हमने इस पाठ्यक्रम की इकाई 3 में पढ़ा, सामाजिक आन्दोलन विरोध-प्रदर्शन से लेकर विद्रोह और क्रांतिकारी तक किस्म-किस्म के होते हैं; और भिन्न-भिन्न आन्दोलन भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ रखते हैं। भारत में और कहीं भी इतिहास गवाह है कि कुछ सामाजिक आन्दोलन सामाजिक बदलाव के पक्ष में नहीं होते। इन्हें प्रति-आन्दोलन (counter-movements) कहा जा सकता है। लोगों को समाज के दमित वर्गों की ओर से होने वाले परिवर्तन को रोकने के लिए लामबंद किया जाता है। 'अस्सी के दशक में आरक्षण-विरोधी आन्दोलन एक खास उदाहरण है। उच्च जाति के छात्र अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं अन्य-पिछड़ा वर्ग जातियों के लिए आरक्षण का विरोध कर रहे थे। उन्होंने आन्दोलन छेड़ा और अन्य-पिछड़ा-वर्ग के लिए आरक्षण नीति के क्रियान्वयन हेतु सरकार को रोक पाने में कुछ हद तक सफल भी हुए। 'रामजन्म भूमि' और 'हिन्दू राष्ट्र' हेतु आन्दोलन एक अन्य उदाहरण है। गौरतलब है कि जर्मन राष्ट्रीय समाजवादी कामगार पार्टी के निर्माता हिटलर ने 'तीस के दशक में यहूदियों, साम्यवादियों व उदारवादियों के खिलाफ़ जर्मनवासियों को संघटित किया। जनोत्तेजक कला-प्रवीणता के साथ उसने "जर्मनी के उद्धारकर्त्ता व मसीहाई मुक्तिदाता के रूप में स्वयं को प्रस्तुत करने के लिए राष्ट्रीय मनोमालिन्यों, विद्रोह की भावनाओं और जन अनुनय की समस्त सर्वाधुनिक तकनीकें प्रयोग करते हुए सशक्त नेतृत्व हेतु इच्छा के साथ खिलवाड़ किया।" फिर उसने चुनावों के माध्यम से सत्ता हासिल की।

रजनी कोठारी ने सभी प्रकार की 'सीधी कार्रवाइयों' को सही नहीं ठहरायी है। 1960 में उन्होंने कहा कि कार्रवाई अभीष्ट "तभी है जब सीधी कार्रवाई में शामिल समूह द्वारा इच्छित राजनीतिक परिवर्तन सियासी आज़ादी का एक उससे भी बड़ा कार्यक्षेत्र प्रस्तुत करता हो जिसना कि विद्यमान राजनीतिक व्यवस्थाओं द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।" जैसी कि हमने इकाई 2 में चर्चा की कि गाँधीजी जिन्होंने अन्याय व कुशासन के विरुद्ध 'विरोध-प्रदर्शन' का समर्थन किया, हिंसक आन्दोलनों के हमेशा खिलाफ़ रहे। उन्होंने चेतावनी दी कि " ...... यदि अवज्ञा दुराग्रह की तर्ज पर की जाती है, और सत्याग्रह के आधारभूत ढाँचे के भीतर नहीं रहती, तो वह वैधता से व्यापक तटस्थता की ओर ही प्रवृत्त करेगी और अपने आप को उन लोगों की दिशा में ले जायेगी जो लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में विश्वास को गुप्त रूप से क्षति पहुँचाने हेतु अवैध चालें अपनाते हैं।" यह उल्लेख्य है कि गांधीजी ने चौरी-चौरा काण्ड के बाद सविनय अवज्ञा आन्दोलन वापस ले लिया था, जो कि हिंसक हो उठा था। उन्हें भय था कि ऐसी सामूहिक हिंसा अन्य स्थानों पर भी दोहराई जा सकती है और कांग्रेस जनसाधारण को नियंत्रित एवं दिशानिर्देशित करने में सक्षम नहीं है। विपिनचन्द्र ने हाल ही में अपनी पुस्तक इन द नेम ऑफ़ डिमोक्रसी (जे.पी. आन्दोलन और आपातकाल) में तर्क प्रस्तुत किया है कि जे.पी. आन्दोलन के पास 'अपरिभाषित लक्ष्य, अबद्ध संगठन और अपनी विचारधारा में संभ्रम था।' जे.पी. अर्थात् जय प्रकाश नारायण आन्दोलन को लोकतांत्रिक दिशा प्रदान करने में सक्षम नहीं थे। "लोकतंत्र को बचाने से कोसों दूर, यह आन्दोलन वस्तुत: उसे बिना किसी दीर्घावधि राजनीतिक लाभ के खतरे में डालने के लिए जिम्मेदार था ....

आपातस्थिति देश को दीर्घावधि तानाशाही के कगार पर ले आयी थी।'' दूसरे शब्दों में, विचारधारा एवं संगठन की स्पष्टता के अभाव में सामाजिक आन्दोलन प्रति-उत्पादक सिद्ध हो सकते हैं। इसका इस्तेमाल ऐसी ताकतों द्वारा किया जा सकता है जिनकी लोकतंत्र में कोई आस्था नहीं है।

17.9 सार-संक्षेप

लोकतंत्र और सामाजिक आन्दोलन एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह गहरे जुड़े हैं। सामाजिक आन्दोलन सामूहिक इच्छा की ही अभिव्यक्ति होते हैं। ये लोकतंत्र की जान होते हैं, यथा व्यवस्था के विरुद्ध जनता की शिकायतों की अभिव्यक्ति, उनकी आवश्यकताएँ व आकांक्षाएँ; और राजनीतिक प्रक्रियाओं में शामिल हो जाने की उनकी इच्छा। और लोगों की राजनीति के बग़ैर लोकतंत्र खोखला है। भारत और अन्यत्र कहीं भी लोकतंत्रिक प्रणाली की वर्तमान कार्यवाही जन-बाहुल्य की इच्छा को प्रकट नहीं करती है। अधिकतर पार्टियाँ अपने भीतर बिना किसी लोकतांत्रिक निर्णयन् प्रक्रिया के बग़ैर काम कर रही हैं। चुनाव का रिवाज़ तो चल पड़ा है परन्तु वे जनता को पर्याप्त विकल्प उपलब्ध नहीं कराते हैं। और महत्त्वपूर्ण है कि आर्थिक निर्णयों को लिए जाने में जनेच्छाओं को ध्यान में नहीं रखा जाता है। आर्थिक विकास का रास्ता लोकतंत्र-विरोधी है।

लोग सामाजिक आन्दोलनों के रूप में सामूहिक कार्रवाइयों के माध्यम से अपनी आकांक्षाओं व मत को जनता के सामने प्रस्तुत और सुस्पष्ट करते हैं। ये आन्दोलन राजनेताओं को सचेत रखते हैं और सरकार पर दबाव बनाते हैं। कुछेक आन्दोलन काफी हद तक समाज में लोकतंत्रीकरण, को बढ़ावा देने, निर्णयन् प्रक्रिया में भाग लेने हेतु लोगों को लामबंद किए जाने और उनका राजनीतिकरण किए जाने में सफल रहे हैं। उन्होंने काफी हद तक अपने पक्ष में सार्वजनिक नीति को भी प्रभावित किया है। तथापि, सभी सामाजिक आंदोलन अनिवार्यतः वृहत्तर लोकतंत्रीकरण की ओर प्रवृत्त नहीं करते। अपने लक्ष्यों, विचारधाराओं, सांगठनिक प्राधारों एवं कार्यक्रमों के लिहाज से इन सामाजिक आन्दोलनों की प्रकृति लोकतंत्र को मज़बूत करने न करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती ही है।

17.10 अभ्यास प्रश्न

1) लोकतंत्र के मुख्य घटकों पर चर्चा करें और स्पष्ट करें कि लोकतंत्र में राजनीति मुख्य क्यों है?
2) भारत में लोकतांत्रिक प्रणाली की कार्यवाही का विश्लेषण करें। आपके अनुसार क्या यह अधिकांश जनता की आशाओं को पूरा करती है? आप ऐसा क्यों कहते हैं?
3) लोकतांत्रिक प्रणाली में सामाजिक आन्दोलन क्यों महत्त्वपूर्ण हैं?
4) क्या सभी सामाजिक आन्दोलन लोकतांत्रिक प्रक्रिया को बढ़ाते हैं? यदि नहीं तो क्यों?

संसूचित पाठ्य-सामग्री

अहमद, मुख्तार, *फैक्टरी लेबर इन इण्डिया* (दिं अन्नामलाई यूनिवर्सिटि, मद्रास, 1930)

ऊमन, टी.के., *प्रोटेस्ट एण्ड चेन्ज : स्टडीज़ इन सोशल मूवमैण्ट्स,* (सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1990)

आमे, पीयरे एवं हैनरी लस्टगर्थलर (सं.), *ग्लोबलाइज़ेशन एण्ड सोशल मूवमैण्ट्स,* (पालग्रेव, 2001)

ओमवेट, गेल, *कांशी राम एण्ड द बहुजन समाज पार्टी*, के.एल. शर्मा (सं.) *कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया* में, (रावत पब्लिकेशन्ज़, जयपुर, 1994)

__________, *'अम्बेडकर एण्ड आफ्टर : द दलित मूवमैण्ट इन इण्डिया'*, घनश्याम शाह (सं.), *सोशल मूवमैण्ट्स एण्ड द स्टेट* में, (सेज, नई दिल्ली, 2002)

__________, *रीइन्वेंटिंग रिवलूशन : न्यू सोशल मूवमैण्ट्स एण्ड सोशलिस्ट ट्रेडीशन्ज़ इन इण्डिया,* (एम.ई. शार्पे इन्फ., न्यूयार्क, 1993)

एंडरसन, वॉल्टर के., *द ब्रदरहुड इन सैफरॅन : द राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एण्ड हिन्दू रिवाइवलिज़्म* (विस्तार पब्लिकेशन्ज़, नई दिल्ली, 1987)

ओ' कॉनल, जोसफ़ टी., *ऑरगनाइज़ेशन एण्ड इन्स्टिट्यूशनल एस्पैक्ट्स ऑफ़ इण्डियन रिलीजिअस मूवमैण्ट्स,* (इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवाँस स्टडीज, शिमला, 1999)

कार्निक, वी. बी., *इण्डियन ट्रेड यूनियन्स : ए सर्वे,* (मानकतलास, 1966)

कुमार, सञ्जय, *''न्यू फेज़ इन बैकवर्ड पॉलिटिक्स इन बिहार''*, घनश्याम शाह (सं.) *कास्ट एण्ड डैमॉक्रटिक पॉलिटिक्स इन इण्डिया* में (पर्मानण्ट ब्लैक, नई दिल्ली, 2002)

गुप्ता, दीपांकर, *द कॉन्टैक्स्ट ऑफ़ एथनिसिटि : सिख आइडेण्टिटि इन ए कॅम्पैरॅटिव पर्सपैक्टिव,* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रैस, नई दिल्ली, 1997)

__________, *राइवलरि एण्ड ब्रदरहुड : पॉलिटिक्स इन द लाइफ ऑफ़ फार्मर्स इन नॉर्दर्न इण्डिया,* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रैस, नई दिल्ली, 1977)

गैलेण्टर, मार्क, *काम्पीटिंग इक्वॉलिटीज़ : लॉ एण्ड द बैकवर्ड क्लासिज़ इन इण्डिया* (ऑक्सफोर्ड यूनिवसिर्टि प्रैस नई दिल्ली, 1984)

गुहा, ठाकुरदा, प्रणज्जय एवं शंकर रघुरमन, *ए टाइम ऑफ़ कोअलिशन्स : डिवाइडिड वी स्टैण्ड,* (सेज, नई दिल्ली, 2004)

चन्द्रा, कंचन, *वाई डू एथनिक पार्टीज़ सक्सीड? पैट्रोनिज एण्ड एथनिक हैड काउण्ट्स इन इण्डिया,* (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटि प्रैस, कैम्ब्रिज, 2004)

चन्द्र, विपिन, मृदुला मुखर्जी एवं आदित्य मुखर्जी (सं.), *इण्डिया आटर इण्डिपेन्डेंस,* (पेंग्विन बुक्स, नई दिल्ली, 1999)

चौबे, एस.के. हिल *पॉलिटिक्स इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया,* (ऑरियन्ट लॉन्गमैन, नई दिल्ली, 1978)

___________, *इलैक्टॅरल पॉलिटिक्स इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया* (मद्रास यूनिवर्सिटि प्रैस, मद्रास, 1979)

ज़ाफ्रेलो, क्रिस्तोफ़, *इण्डिया'ज़ साइलॅण्ड रिवलूशन: द राइज़ ऑफ़ द लो कास्टस इन नॉर्थ इण्डियन स्टेट्स,* (पर्मानैण्ट ब्लैक, दिल्ली, 2003)

डंकन, इआन, *'शैड्यूल्ड कास्ट, दलित एण्ड द बहुजन : पॅलिटिकॅल मॉबिलाइज़ेशन एण्ड इलैक्टॉरल पॉलिटिक्स अमॅन्ग द फ़ॉर्मर अन्टचेबल्स एण्ड द केस ऑफ़ उत्तर प्रदेश,'* विनीता दामोदरन एवं माया उन्निथन कुमार (सं.) पोस्ट-कॅलॉनियल इण्डिया में, (मनोहर, नई दिल्ली, 2000)

द्रेज़, जाँ एवं अमर्त्य सेन, *इण्डिया : इकनॉमिक डिवैलॅपमॅण्ट एण्ड सोशल ऑपर्चूनिटि,* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रैस, नई दिल्ली, 1995)

नारंग, ए.एस., *स्ट्रॉम ओवर द संतुलन : दि अकाली पॉलिटिक्स* (गीताञ्जलि, दिल्ली, 1983)

नाग, सजल, *रूट्स ऑफ एथनिक कॉन्फलिक्ट: नैशनॅलिटि क्वैस्चन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया* (मनोहर, नई दिल्ली, 1990)

मज़ीद, अख्तर (सं.), *कांन्स्टिट्यूशनल नेशन बिल्डिंग : हाफ़ सैन्चुरी ऑफ़ इण्डिया'ज़ सक्सैस,* (नई दिल्ली, 2002)

मधु, किश्वर, *इन सर्च फ़ॉर आन्सर्स : इण्डियन वीमन'स वॉइसिज़ फ्रॉम मानुषी,* (नई दिल्ली, 1991)

मैण्डलसन, ऑलिवर एवं मारिक विक्ज़ियानी, *द अनटचेबल्स: सबॉर्डिनेशन, पॉवर्टि एण्ड द स्टेट इन मार्डन इण्डिया,* (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटि प्रैस, कैम्ब्रिज, 1998)

मोरे, डी. मोरे, *दि इमर्जेन्स ऑफ़ इण्डस्ट्रिअल लेबर फोर्स इन इण्डिया : ए स्टडी ऑफ़ बॉम्बे कॉटॅन मिल्स, 1854-1947* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रैस, बम्बई, 1965)

मोहन्ती, मनोरञ्जन (सं.), *क्लास, कास्ट, जैन्डर,* (सेज पब्लिकेशन्ज़, नई दिल्ली, 2004)

मेहता, अशोक एवं अच्युत पटवर्धन, *द कम्यूनल ट्राइऐंगल इन इण्डिया* (किताब स्तंभ, इलाहाबाद, 1942)

मेनन, विशालाक्षी, *वीमन एण्ड इण्डियन नैशनलिज़्म : द यू.पी. स्टोरी,* सेज पब्लिकेशन्स (दिल्ली, 2003)

पई, सुधा, *दलित ॲसर्शन एण्ड अनफिनिश्ड् डिमॉक्रसी रिवलूशन : द बहुजन समाज पार्टी इन उत्तर प्रदेश,* (सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2002)

पुष्पेन्द्र, दलित *ॲसर्शन थ्रू इलैक्टॉरल पॉलिटिक्स' इकॉन्मिक एण्ड पॅलिटिकॅल वीकली,* 25 अक्टूबर 1999, नं. 43 में

पुनेकर, एस.डी., *ट्रेड यूनिअनिज़्म इन इण्डिया* (न्यू बुक कम्पनी, बम्बई, 1948)

प्रकाश, अमित, *झारखण्ड : पॉलिटिक्स ऑफ़ डिवैलॅपमण्ट एण्ड आइडेण्टिटि,* (ऑरियन्ट लॉन्गमैन, हैदराबाद, 2001)

मुकर्जी, आर., *दि इण्डियन वर्किंग क्लास* (हिन्द किताब्स, बम्बई, 1951)

फ्रैंकेल, फ्रांसीं आर. एवं ज़ोया हसन (सं.), *ट्रान्सफॉर्मिंग इण्डिया,* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रैस, नई दिल्ली, 2000)

___________, एवं एम.एस.ए. राव (सं.), *डॉमिनैन्स एण्ड स्टेट पॉवर इन मॉडर्न इण्डिया,* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रैस, नई दिल्ली 1989)

फ़ार्क्वार, जे.एन., *माडर्न रिलीसिअस मूवमॅण्ट्स इन इण्डिया* (मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, 1977)

बरुआ, संजीव, *इण्डिया अगेन्स्ट इटसैल्फ़ : असाम एण्ड द पॉलिटिक्स ऑफ़ नैशनॅलिटि,* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रेस, नई दिल्ली, 1999)

___________, ड्यूरेबल डिस्ऑर्डर : *अण्डरस्टैण्डिंग द पॉलिटिक्स ऑफ़ नार्थ-ईस्ट इण्डिया,* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रैस, नई दिल्ली, 2005)

ब्रास, पॉल, आर., *एथनिसिटि एण्ड नैशनलिज़्म : थिअरी एण्ड कॅम्पैरिसन,* (सेज पब्लिकेशन्ज़, नई दिल्ली, 1991)

ब्रास, टॉम, पैजण्ट्स, *पॉपुलिज्म एण्ड पोस्टमॉडर्निज़्म : द रिटर्न ऑफ़ द एग्रैरियन मिथ,* (फ्रैंक कैस, लंदन, 2000)

राय, वी.के. *"ए प्रोफ़ाइल ऑफ़ उत्तर प्रदेश : स्टेबिलिटि इन इन्स्टेबिलिटि"*, पॉल वैलेस एवं रामाश्रय रॉय (सं.) *इण्डिया'ज़ 1999 इलैक्शन्ज़ एण्ड 20'थ सैन्चुरी पॉलिटिक्स* में, (सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2003)

राव, बी. शिवा, *इण्डस्ट्रिअल वर्कर* इन इण्डिया (एलन एण्ड अनविन, लंदन, 1939)

रामास्वामी, ई.ए., एवं उमा रामास्वामी, *इण्डस्ट्री एण्ड लेबर : ऐन इण्ट्रोडक्शन*, (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रैस, नई दिल्ली, 1981)

____________, *स्ट्राइक्स इन इण्डिया*, (मानकतलास, बम्बई, 1967)

रामानुजम, जी., *इण्डियन लेबर मूवमॅण्ट* (स्टर्लिंग पब्लिशर्ज़, नई दिल्ली, 1986)

वार्ष्णेय, आशुतोष (सं.), *दि इण्डियन पैरडॉक्स : एस्सेज़ इन इण्डियन पॉलिटिक्स*, (सेज पब्लिकेशन्ज़, नई दिल्ली, 1989)

वीनर, मायरन, *सन्ज़ ऑफ़ द सॉइल : माइग्रेशन एण्ड एथनिक कांफलिक्ट इन इण्डिया*, (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रैस, नई दिल्ली, 1978)

विश्वनाथन, एस., फिशरमैन ऐट सी ; आर. कृष्णकुमार, *ऐन ऑनगोइंग ट्रैजेडी* ; वी. श्रीधर, लिविंग ऑन दि एज; प्रो. जॉन कुरियन का, साक्षात्कार, *'ए गुड अकेजन फ़ॉर चेन्ज'* फ्रंटलाइन, 11 फरवरी, 2005

शाह, घनश्याम (सं.), *कास्ट एण्ड डैमॉक्रटिक पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, (पर्मानण्ट ब्लैक, नई दिल्ली, 2002)

शाह, घनश्याम (सं.), *सोशल मूवमैण्ट्स एण्ड द स्टेट*, (सेज पब्लिकेशन्ज़, नई दिल्ली, 2002)

शाह, घनश्याम, *सोशल मूवमैण्ट्स इन इण्डिया : ए रिव्यू ऑफ लिटरेचर*, द्वितीय संस्करण (सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2004)

शेठ, डी.एल., *कास्ट एण्ड क्लास : सोशल रिऐलिटि एण्ड पॉलिटिकॅल रिप्रैजैन्टेशन्ज़'* घनश्याम शाह (सं.) *कास्ट एण्ड डैमॉक्रटिक पॉलिटिक्स इन इण्डिया* में, पर्मानण्ट ब्लैक, (नई दिल्ली, 2002)

सत्यमूर्ति, टी.वी., *स्टेट एण्ड नेशन इन द कॉन्टैक्स्ट ऑफ सोशल चेन्ज*, (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रैस, नई दिल्ली, 1994)

सेठ, डी.एल. *''रिज़र्वेशन पॉलिसी रिविज़िटिड''*, इकॉन्मिक एण्ड पॉलिटिकॅल वीकली, नवम्बर 14, 1987 में

सिंह, जगपाल, *कैपिटलिज़्म एण्ड डिपैन्डॅन्स : एग्रैरियन पॉलिटिक्स इन पैस्टर्न उत्तर प्रदेश, 1951-1992*, (मनोहर, नई दिल्ली, 1992)

____________, *'द बहुजन समाज पार्टी : आइडिऑलॅजी, सोशल बेसिस ऑफ़ सपोर्ट एण्ड पॉलिटिक्स'*, अरुण के. जना एवं भूपेन शर्मा (सं.) कृत *क्लास, आइडिऑलॅजी एण्ड पॉलिटिकल पार्टीज इन इण्डिया* में, (साउथ एशियन पब्लिशर्ज़ प्रा० लिमिटेड, नई दिल्ली, 2002)

____________, *''चैलिन्ज ऑफ़ एथनिसिटि टु फ़ैडरल्ज़िम : डिस्कॅर्स्स ऑन द नार्थ-ईस्ट इण्डिया''*, अख़्तर मजीद (सं.) *फ़ैडरल इण्डिया : ए डिजायन फ़ॉर गुड गवर्नेंस* में, (मानक पब्लिकेशन्ज के सहयोग में संघीय अध्ययन केन्द्र, नई दिल्ली, 2005)

सिंह, राजेन्द्र, *सोशल मूवमैण्ट्स, ओल्ड एण्ड न्यू : ए पोस्ट-मॉडर्निस्ट क्रिटीज,* (सेज पब्लिकेशन्ज़, नई दिल्ली, 2001)

सेन, सुकोमल, *वर्किंग क्लास ऑफ़ इण्डिया : हिस्ट्री ऑफ़ इमर्जेन्स एण्ड मूव़मॅण्ट, 1830-1970* (के. पी. बागची एण्ड कं., कलकत्ता, 1977)

सुरेश, वी., *'द दलित मुव़मैट इन इण्डिया'*, टी.वी. सत्यापूर्ति (सं.) *रीजन, रिलीजन, कास्ट, जैण्डर एण्ड कल्चर अन कॅन्टैम्पॅररि इण्डिया* में, (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रैस, नई दिल्ली, 1998)

हसन, ज़ोया (सं.), *पॉलिटिक्स एण्ड स्टेट इन इण्डिया,* (सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2000)

____________, *रिप्रेज़ेन्टेशन एण्ड रीडिस्ट्रीब्यूशन : द न्यू लोअर कास्ट पॉलिटिक्स ऑफ़ नार्थ इण्डिया'*, फ्रैंसिन फ्रैंकेल, ज़ोया हसन, राजीव भार्गव एवं बलवीर अरोड़ा (सं.), *ट्रान्सफ़ॉर्मिंग इण्डिया : सोशल एण्ड पॅलिटिकॅल डायना-मिक्स ऑफ़ डिमॉक्रसी में,* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रैस, नई दिल्ली, 2000)

हरल, एण्ड्रयु एवं गेर वुड्ज़ (सं.), *इनिक्वैलिटि, ग्लोबलाइज़ेशन, एण्ड वर्ल्ड पॉलिटिक्स,* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रैस, नई दिल्ली, 1999)

हज़ारिका, संजय, *स्ट्रेन्जर्स ऑफ द निस्ट : टेल्स ऑफ वॉर एण्ड पीस फ्रॉम इण्डिया'ज़ नार्थ-ईस्ट* (वाइकिंग, नई दिल्ली, 1994)